

UL N 934
UPA



124839
LBSNAA

ःत्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

— 124839

अवाप्ति संख्या

Accession No.

~~8156~~

वर्ग संख्या

Class No.

GLH

934

पुस्तक संख्या

Book No.

UPA

उपाध्या

भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ

भगवतशरण उपाध्याय



कि ता ब म ह ल
इलाहाबाद बम्बई

प्रथम संस्करण १९५०

मुद्रक—जय हिन्द प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक—किताब महल, '५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

विषय-सूची

	पृष्ठ
१. बुद्ध	१
२. सिकन्दर महान्	३०
३. अशोक	६१
४. 'भारत का राजा' डेमेट्रियस	६६
५. पुष्यमित्र शुङ्ग	१०८
६. कनिष्क	१४३
७. समुद्रगुप्त	१५६
८. चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य	१६६
९. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य	१८३
१०. हर्षवर्धन	१९४
११. पुलकेशिन् द्वितीय	२१६
१२. नरसिंह वर्मन प्रथम	२२३
१३. अमोघवर्ष प्रथम	२२६
१४. देवपाल	२३४
१५. राजा भोज	२३८
१६. राजेन्द्र प्रथम गंगेकोराड	२४६
१७. सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल	२६२
१८. लक्ष्मणसेन	२६६
१९. सिंघण	२७४

१

बुद्ध

१

‘प्रकृति’ की विभिन्नता अनन्त है। उसकी दो कृतियाँ एक सी नहीं होतीं। मॉडल को ढाल कर वह भट साँचा तोड़ देती है। इसी कारण इतिहासकार को उपमा अथवा उदाहरण के लिए कभी-कभी मॉडल का अभाव खटकता है। ऐसी स्थिति में यह कम से कम मानना पड़ेगा कि इतिहासकार का वह नायक महान है और उसकी समता नहीं हो सकती। बुद्ध की अप्रतिमता इसी प्रकार की है। उससे पवित्र, शालीन, साहसी और उदार व्यक्ति शायद इस धरा पर नहीं उतरा। बुद्ध के रूप में मानवता अपनी सीमा तक पहुँच गई। अपने युग को किसी अन्य महापुरुष ने इतना प्रभावित न किया जितना बुद्ध ने। आज भी संसार की मनुष्य-संख्या का चतुर्थ भाग उसी के नाम की माला जपता है, उसी के ‘शरण’ की शपथ लेता है। इस अनुपम उदारचेता की स्मृति को सदियों की दूरी धूमिल न कर सकी।

बुद्ध अभिजातकुलीय थे। ५६३ ई० पू० के लगभग उनका जन्म प्रख्यात शाक्य कुल में हुआ था। नैपाल की तराई में श्रावस्ती (वर्तमान सहेठ-महेठ) से प्रायः साठ मील दूर अपनी राजधानी कपिलवस्तु के संथागर में शाक्य अपनी बैठकें करते और राजनैतिक कार्य सम्पादित करते थे। इस भूखण्ड के पूर्व लिच्छवि-वज्रियों का अजेय संघ और मगध का उदीयमान राज्य था। उसके पश्चिम में प्रसेनजित् द्वारा शासित कोशल का राज्य था।

उत्तर में रोहिणी पार कोलीय बसते थे जो अकारण भी नित्यप्रति शाक्यों से उलझ पड़ते थे। शाक्य-संघ प्रायः जनसत्ताक शासन था और उसका मुखर निर्वाचित 'राजा' होता था। इस काल में इस सब का राजा बुद्ध का पिता शुद्धोदन था।

बुद्ध प्रिय कोलियों और दस शाक्यों के नित्य के वैमनस्य को मिटाने और उनमें परस्पर स्नेह-जनन करने के लिये शुद्धोदन ने माया और प्रजापति नाम की दो कोलिय कन्याओं को व्याहा था। जब माया गर्भवती हुई, तब उसके पति ने प्रसव के अर्थ उसे उसके पिता के घर देवदह भेजा। परन्तु देवदह पहुँचने से पूर्व ही उसने लुम्बिनी वन में रोहिणी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे पुत्ररत्न प्रसव किया। नेपाल की तराई में बस्ती जिले में लुम्बिनी के स्थान पर रुम्मन्देई का गाँव आज भी स्थित है। नवजात का नाम सिद्धार्थ रखा गया। उसका गोत्र नाम गोतम था। शिशु को अपनी बहिन प्रजापती के अंक में छोड़ माया सातवें दिन चल बसी। मासी ने सिद्धार्थ को माँ का प्यार दिया।

काल क्रम में सिद्धार्थ के सारे द्विज-संस्कार हुए। धीरे-धीरे उसने अपने समय की पद्धति के अनुकूल सारी विद्या स्वायत्त की और उसका असाधारण मेधा विदग्ध हुई। चरित्र के निर्माण के साथ ही उसके शरीर का भी गठन हुआ। प्रकृति ने उसे अनुपम सौन्दर्य में ढाँटा था, उसके अंग अंग में शक्ति सौन्दर्य से खेलती थी। उन्नत उसकी गात्र-यष्टि थी, नीलोत्पल से उसके नयन थे, लम्बे उसके कान। उसके केश घुंघराले थे, वस्त्र प्रशस्त था। गोतम के अगोप्य सौन्दर्य ने अनेक मानिनियों के हृदय में शूत उठा दिया, अनेक मानस डिंगा दिये। परन्तु उसका अन्तर बाह्य से कहीं अधिक कमनीय था और जितना वह कमनीय था उतना ही अप्राप्य। सोलह वर्ष की उस छोटी अवस्था में भी गोतम त्याग और तप की मूर्ति हो चला था। कोई दुर्भावना उसे न छू पाती, तृष्णा को वह पास फटकने न देता। इसी वर्ष अपने कोलिय सम्बन्धी (चचेरा भाई) सुप्रबुद्ध की अप्रतिम कन्या यशोधरा को स्वयंवर

के शक्तिम संघषे में जात कर उसने ब्याहा । अनेक अभिजात कुलीन युवा इस नारी रत्न को खो अप्रतिभ हो गये, कितने ही गोतम के शत्रु बन बैठे । गोतम के निश्चल मन ने यह न जाना । इन्हीं हतप्रभ तरुणों में उसका पितृव्य पुत्र देवदत्त भी था जो अपनी ईर्ष्या को दबा न सका और जीवन भर उसकी प्रतिद्वन्द्विता करता रहा ।

यह विवाह वस्तुतः गोतम के पिता शुद्धोदन द्वारा बना हुआ जाल था । पुत्र के चिन्तन से वह स्वयं चिन्तित हो उठा था । जीवन-मरण, सुख-दुख के अन्त प्रश्नों पर उसका अनवरत विचारना पिता को खल गया । भविष्य-द्रष्टा नारद ने पहले ही कहा था कि नवजात या तो चक्रवर्ती होगा या मुनियों का नेतृत्व करेगा । पिता ने दूसरी सम्भावना से त्रस्त होकर तरुण गोतम को राग में बाँधने का निश्चय किया । यह विवाद उसी का परिणाम था । परन्तु जीवन-मरण के रहस्य को भेदने और मानव दुःख के शमन के उपाय ढूँढ़ने वाले उस गोतम के चिन्तन को न तो अज्ञतयौवना गोपा के काम्य-उपकरण हा तिरोहित कर सके; न विलास के अनन्त साधन ही । विषाद से विलखते संसार के बीच ऐश्वर्य के भोग उसके लिए विष का घट बन गये । उसका मानस तृष्णा के उद्दीपक छविराशि को धिक्कार उठा । तृष्णाओं की अतृप्ति वस्तुतः प्रवाह के एक छोर पर थी, उसने सोचा; और लौट कर वह उस धारा के उद्गम तक पहुँचेगा, उसने निश्चय किया । उसकी भीष्म प्रतिज्ञा से विलास की रत्नराशि मलिन पड़ गई ।

उसका मानस अत्यन्त सरल था । उसमें शीघ्र प्रतिक्रिया होती । उस पर गहरा प्रभाव पड़ता । आखेट के समय सर्भाता मृगी के तरल नयन उसे स्तम्भित कर देते । धनुष पर चढ़ाए बाण से वह सहसा हाथ खींच लेता, भरे तरकश के साथ नगर को लौट पड़ता । मार्ग में मनुष्य के इस अकारण हत्या-कर्म पर क्लिशित होता, क्षोभ करता, जब वह चलता उसके पग बोझिल हो चलते । वृद्ध, रुग्ण अथवा मृतक का दृश्य उसे विकल कर देता और कपिलवस्तु के उस विस्तृत नगर के मार्गों पर वृद्धों, रुग्णों या मृतकों की कमी न थी । तरुण-

कुमार की दुःखी दृष्टि अंतर्मुखी हो जाती। असंख्य प्रश्न उसके मानस को उद्बलित कर देते। प्रत्येक का वह उत्तर माँगता, स्वयं गुणता। क्या सभी मनुष्यों को जरा व्यापती है? क्या सभी व्याधि-ग्रस्त होते हैं? क्या सभी काल-कवलित होते हैं? क्या उस मृणित जरा में, मारक व्याधि से, संहारक काल में रक्षा का कोई उपाय नहीं? इस प्रकार के अनन्त असाधारण प्रश्न उसके अन्तर में उठते, आधार को हिला देते, उठ-उठ घुमड़ने लगते। प्रश्न, जिन्हें मनुष्य ने बार-बार उठाया था, जिनका उसने बार-बार उत्तर माँगा था और बिना यथार्थ को समझे जिनका उत्तर वह स्वयं बारबार देता गया था। और लक्ष्य दूर का दूर बना रहा। गौतम भी विचारना, भल्ला पड़ता फिर बार-बार अपनी प्रतिज्ञा दुहराता।

प्रायः दस वर्ष तक गौतम ने गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया, यद्यपि तृष्णाएँ पाप, दुःख, और जन्म-मरण की शृङ्खला उसके चिरन्तन चिन्तन के विषय बने रहे। सन्ध्या सुनहरी थी, वातावरण सम्मोहक था जब गौतम पुष्करिणी तटवर्ती निकुंज में बैठ मानव जीवन की क्षणभंगुरता पर विचार कर रहा था। दीर्घ कर आई हुई दासी के हास की प्रतिध्वनि से सहसा उसके विचारों की शृङ्खला टूट गई। उसका प्रसन्न संदेश उसने सुना। अब वह पुत्र का भाग्यवान पिता था जो उसके पूर्वजों की वंश-शृङ्खला निर्बाध ले चलेगा! शृङ्खला का निर्बाध ले चलना!—यही तो उसकी चिन्ता का रहस्य था। जन्मों की शृङ्खला को तोड़ने का ही वह उपाय सोच रहा था जब दासी ने पूर्वजों की वंश-शृङ्खला को बढ़ाने वाले पुत्र के जन्म की खबर कही! संदेश सहज ही अशुभसा लगा और अपने आप गौतम के मुख से निकल पड़ा—राहुल! (बाधा!)। निस्सन्देह नवजात ने अनेक बार पिता के सन्यास-प्रण को दुर्बल कर दिया था। परन्तु दासी उस लुब्ध दुःखी शब्द-ध्वनि का भाव न समझ सकी। उसने समझा भावातिरेक से उल्लसित पिता का पुत्र के प्रति यह सज्ञा-दान है। नवजात का पिता का दिया हुआ नाम पड़ा राहुल!

गौतम प्रासाद को लौटा, शिथिल, नत-मस्तक, मलिन। प्रासाद को

देहली पर ? गोतमी की मुग्ध वाणी काम्य बन्धु की बधाई में सहसा बज उठी—‘ऐसे पुत्र का पिता प्रसन्न, जननी प्रसन्न, ऐसे पति की पत्नी प्रसन्न है ।’ तरुणी की वाणी की भङ्गति सहसा गोतम को छू गई । वह तनिक थम गया, कुछ अन्तर्मुख हुआ । एकाएक उसके नेत्र चमक उठे । इस सर्वतो-मुखी ‘प्रसन्नता’ में उसने अपने प्रति एक संदेश का अनुभव किया । गले से अमूल्य हार निकाल उसने गोतमी की ओर बढ़ाया । यह व्यंग पर व्यंग था । तरुणी गोतम को कमनीय काया पर कब से विमुग्ध थी । आज उसने सोचा, इष्ट हाथ आया, गोतम अनुरक्त हुए, उसका तप फला ! उसने बढ़ कर प्रवैयक ले लिया, उसे प्रणय का उपहार जाना ।

गोतम विचार करता रहा । उसके मानस में उधर प्रश्न पर प्रश्न उठते रहे—“यह कैसे दुर्नीति है कि मैं, जो जन्म, विकास, जरा, व्याधि, मृत्यु, दुःख और पाप के वशीभूत हूँ, केवल उसी की कामना करूँ जो स्वयं जन्म, विकास, जरा, व्याधि, मृत्यु, दुःख और पाप के वशीभूत है ?” “गार्हस्थ्य-जीवन संकीर्ण और संकुचित है, भूल भरी माँद है, प्रव्रजित का जीवन आकाश की मुक्त वायु है ।”—इस प्रकार उसने सोचा, सोचता रहा और एक रात जब ‘अभी वह युवा था, जीवन के प्रथम चरण में था, जिसमें हाल ही वह अभी प्रविष्ट हुआ था अपने रोते-बिलखते पिता-माता की इच्छा के विरुद्ध’ उसने अपने काले लम्बे केश मुड़ा डाले और फटे वस्त्र धारण कर वह गार्हस्थ्य की संकीर्ण सीमाओं को लौंघ प्रव्रज्या के उन्मुक्त वातावरण में प्रविष्ट हुआ । यह गोतम का ‘महाभिनिष्क्रमण’ था, उसके उनत्तीसवें वर्ष में आचरित ।

एक बार इस महाभिनिष्क्रमण की ओर संकेत करते हुए बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—, ‘भिक्षुओ ! तथागत होने के पूर्व, बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व, सम्बोधि-प्राप्ति के प्रयत्न करता हुआ, स्वयं जन्म, विकास, जरा, व्याधि, मरण, दुःख और पाप के वशीभूत केवल उन्हीं की कामना करता था जो स्वयं जन्म, विकास, जरा, व्याधि मरण, दुःख और पाप के वशीभूत थे—ये पत्नी और सन्तति, दास और दासी, बकरी और भेड़ें, मुर्गे और शूकर, गज, ढोर,

अश्व, स्वर्ग और रजत ! तब, भिक्षुओं, विचार उठा—‘यह मैं क्या कर रहा हूँ ? मैं स्वयं जो जन्म, विकास, जरा, व्याधि, मरण, दुःख और पाप के वशी-भूत हूँ केवल उसी का कैसे कामना करता हूँ जो स्वयं भी इनके वशीभूत है—पिर क्यों नहीं मैं उस जन्मरहित, विकासरहित, जरारहित, व्याधिरहित, मृत्युरहित, दुःखरहित, और पापरहित, निर्माण की कामना करूँ ?’ और मैं गृह छोड़ गृहविहीनता में प्रविष्ट हुआ। जब बुद्ध का बन्धु (चचेरा) शत्रुओं का राजा बना तब उसको उपदेश देते हुए बुद्ध ने उसी विचार को एक बार और दुहराया—“और मैंने महानाम, बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व तृष्णाओं के पाप को समझ लिया था परन्तु तृष्णाओं और पापाभिभूत जीवन के परे आनन्द न पा सकने के कारण मैं उनसे विरत न हो सका।” दाल्के ने अपने ‘निबन्धों’ में इस प्रसंग में कहा है—“इससे पूर्व कभी किसी धर्म के प्रवक्ता ने इस प्रकार उद्घोष न किया ! जो इस प्रकार सत्य का निर्घोष करता है वह अपने श्रोताओं में स्वर्गीय आनन्द की मिथ्या आशाओं का प्रजनन नहीं करता। जो इस प्रकार बोलता है वह सत्य की खोज करनेवालों को स्वतः अपनी सत्य-शक्ति से खींच लेता है।”

निस्सन्देह गौतम इतिहास में प्रथम प्रव्रजित कदापि न था, अन्तिम भी नहीं। उससे पूर्व अनेक निष्क्रमण के इस उन्नत मार्ग पर अरूढ़ हुए थे, अनेक उससे पश्चात् इस पर प्रस्थित हुए, परन्तु वस्तुतः कितने ऐसे थे जिन्होंने अपने तारुण्य में संसार का त्याग किया, जब जगत् की विलास-राशि उस पर निछावर थी, मदन उसका दास था, प्रमदाएँ उसके लिए होड़ करती थीं ? गौतम को संसार से बाँध रखने के लिए सभी कुछ था—विलास की विभूतियाँ, धन की राशि, विलासिनियों का विलास, पद की शक्ति, शाक्यों के आपान, पद-पद पर स्खलित करनेवाला, स्खलित होनेवाला यौवन। परन्तु अन्तर का निर्घोष अत्यन्त सबल, अत्यन्त दुर्निवार्य था, और उसने उसे उस ‘भूल की माँद’ गृह को त्याग उन्मत्त विजन में चले जाने के लिए बाध्य किया। यह भीतर की आवाज थी, अन्तर की प्रेरणा जिसे उसने दिन-दिन

गुना था, जो उसकी सुषुप्ति का चिरकाल तक स्वप्न रह चुका था, जागरण की सजग चेतना। गोतम उसे टाल न सका। उसने उस आदेश को अङ्गीकार किया और सम्बोधि के प्राप्त्यर्थ सर्वस्व छोड़ वह निकल पड़ा।

आषाढ़ की उस पूर्णिमा को सोती हुई पत्नी और शिशु को छोड़ कर गोतम प्रासाद से निकल पड़े। हृन्न ने कन्थक को पहले से ही कस रखा था। उस पर बड़ गोतम रातों-रात बढ़ चले राजगृह की ओर। कोलियों और मल्लों की भूमि लॉघ वे वैशाली जा पहुँचे। केसरिया वे पहले ही धारण कर चुके थे, लम्बे घुँघराले केश भी कट चुके थे। घोड़ा सईस को दे घर लौटा दिया। स्वयं वे राजगृह पहुँचे। मगध का नृपति बिम्बमार गोतम का व्यक्तित्व देख सहम गया। उनके रूप का उस पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपना राज उनके चरणों में अर्पण कर दिया। गोतम मुस्कराए, बढ़ चले। शाक्य-भूमि काफी विस्तृत थी, पिता का स्नेह अतुल्य था और पत्नी के स्वप्न देश को सीमाएँ न थीं। उसने इन सबको छोड़ दिया था। राजगृह में उसने पहली बार भिक्षा की और पहली बार परित्राजक का सूखा, बासी, अरुचिकर आहार खाया।

पास ही पर्वत के चरणों में प्रख्यात योगी आलार कालाम का आश्रम था जहाँ वह अपने नास्तिवाद की व्याख्या किया करता था। गोतम ने कुछ काल तक वहाँ निवास कर उस दर्शन को साध लिया और आचार्य ने उसे ज्ञान में अपने बराबर घोषित किया परन्तु वह ज्ञान गोतम की पिपासा को शान्त न कर सका। उसका प्रश्न वहाँ हल न हो सका। उसे कुछ ऐसा चाहिए था जो तृष्णा का अन्त कर दे, जन्मों की शृङ्खला को तोड़ दे। आलार उसकी आशा पूरी न कर सका। वहाँ से वह युग के दूसरे विख्यात गुरु उद्दक (उद्दक) रामपुत्र (रामपुत्र) के समीप पहुँचा परन्तु वे भी गोतम की पिपासा शान्त न कर सके। परम शान्ति की खोज में उसकी वे भी सहायता न कर सके। गोतम की मानसिक अतृप्ति सजग बनी रही। उसने रामपुत्र का आश्रम भी छोड़ दिया। उसके साथ आश्रम के पाँच ब्राह्मण ब्रह्मचारी और चल पड़े।

उन्होंने उसमें असाधारण शक्ति का संभावना देखी । राजगिरि की खड़ी पहाड़ियाँ लौंघ ये लोग गया के जंगलों में उतर पड़े ।

वर्तमान बांधगया के पास निरंजना के तट पर उरुवेला का गाँव था । वहीं नदी के तट पर गोतम ने अपने तप के अर्थ एक सुन्दर स्थान चुना । वहीं अपनी लक्ष्य प्राप्त के अर्थ उसने भाषण तप करने का निश्चय किया । यह आफलोदय तप का प्रण सुन कर पाँचों ब्राह्मणों के हृदय उल्लास से भर गए । गोतम उस स्थान पर फिर आसन मार कर बैठा और प्रायः छः वर्षों तक निरन्तर बैठा रहा । तप की कठोर अनवरत साधना से उसका दर्शनीय शरीर पञ्जरमात्र रह गया । उसका गात्र सर्वथा सूख गया और उसका मस्तिष्क दुर्बल होकर विकृत हो चला । बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ उसके इस दुर्बल रूप को प्रदर्शित करती हैं । इस तप की कठोरता उनमें प्रमाणित है । उसके तप को पाँचों ब्राह्मण अव्यन्त श्रद्धा और विश्वास के साथ देखते थे । उनका विश्वास था कि शीघ्र गोतम बुद्धत्व को प्राप्त होगा, शीघ्र प्रकाश फैलेगा । इधर गोतम ण्ण क्षण क्षण होता गया और लक्ष्य दूर का दूर बना रहा ।

एक दिन गोतम कठोर तप की अशुविधाओं के बीच समाधिस्थ था । उसका दुर्बल शक्ति निरुद्ध न हो पाता था । अव्यन्त प्रयास करके भी वह उसे अपने चिन्मय केन्द्र पर न टिका सका । वह निरन्तर निरंकुश सौँड की भाँति इतस्ततः भटकता ही रहा । इसी समय उसने दूर पर एक राग सुना, उरुवेला की नर्तकियों ने गाया—‘तंत्रों के तार को बहुत ढीला न करो नहीं वह नहीं बजेगा । उसे बहुत कसो भी नहीं वरन् वह टूट जाएगी !’ तीर निशाने पर ठोक बैठा, हृदय बिंध गया । तपस्वी ने समझा कि वह अपने शरीर के तन्तुओं का अव्याधिक तान चुका है और अब उनका टूटना ही शेष है । यदि अब भी उसने अपना आचरण न बदला तो सर्वनाश सन्निकट है । किसी प्रकार अपने को घसीटता हुआ वह निरंजना के तट पर पहुँचा । स्नान कर वह पास के वृक्ष के नीचे आ बैठा, तृप्त और प्रसन्न । श्रेष्ठि कन्या सुजाता पायस लेकर वृक्ष देवता के भोग के लिए पहुँची । गोतम के प्रसन्न अभितृप्त

उद्दीप्त मुखमण्डल को देख उसने उसे ही प्रत्यक्ष देवता समझा और भरोसाले उसके सामने धर दी। गोतम ने भोजन कर तृप्ति लाभ की। पाँचों ब्राह्मणों ने गोतम का आचरण देख चोभ किया और उसे पेट्र समझ उसे छोड़ कर वे ऋषिपतन को चल दिये।

कुछ देर विधाम कर गोतम एक पीपल के वृक्ष के नीचे तृणराशि पर बैठा। फिर उसने प्रतिज्ञा की “मेरे अंग चाहे गल जाँय, मेरा रक्त चाहे सूख जाय परन्तु जब तक संबोधि प्राप्त न कर लूँ यहाँ से न हिलूँगा, न हिलूँगा। मार ने अनन्त तृष्णाओं की सेना ले उस पर धावा किया परन्तु गोतम उस से मस न हुआ। चित्तवृत्ति का निरोध कर उसने निर्वाण के रूप को लक्ष्य कर समाधि लगाई। शीघ्र उसकी संयत समाधि और अडिग दृढ़ता का फल मिला। इस समाधि के पहले ही दिन प्रकाश चमका और उसने सम्यक् संबोधि प्राप्त की। वह ‘तथागत’ हुआ। परन्तु उसने अपना स्थान छोड़ा नहीं और सान दिनों तक निरन्तर परम शान्ति और निर्बन्ध अवस्था का आनन्द लेता रहा।

इस अपार्थिव प्रकाश और सत्य को पा जाने में कुछ देर तक तो वह अभिभूत रहा और वह स्थिर न कर सका कि इस प्रमादी विनासी जगत के प्राणियों को वह ज्ञान बताना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा। परन्तु अन्त में गोतम की सारभूत दया ने उसके तर्क पर विजय पा ली और उसने जगत को नए ज्ञान के प्रकाश-पूँज को प्रभासित करने का निश्चय कर लिया। उसने स्वयं जो वस्तु पाई थी उसे वह दूसरों को देने में न हिचक सका। ऐसा विचार कर उसने दहाड़ा—‘लो, यह अमृतत्व के द्वार खोलता हूँ। जिनके कान हैं, आएँ, सुनें, और धारण करें!’ इसके बाद उसने निरन्तर भ्रमण और उपदेश का व्रत धारण किया। गृह छोड़े उसे ६ वर्ष हो गए थे। अब वह ३५ वर्ष का था। ८० वर्ष की अवस्था में मृत्यु तक ४५ वर्ष वह निरन्तर अपने पैरों पर चलता रहा, अपने नए ज्ञान के उपदेश देता रहा, श्रोताओं को जन्म-मरण से मोक्ष और निर्वाण की परम शान्ति के संदेश देता रहा।

बोधि वृक्ष की छाया से निकल कर बुद्ध ने क्षण भर विचारा कि उसके नए ज्ञान का पहला अधिकारी कौन है। सहज ही उसको अपने गुरुओं—आलार कालाम और रुद्रक रामपुत्र—की याद आई। इन्होंने गौतम के प्रश्नों को हल करने और उसकी तृष्णा शान्त करने के प्रयत्न किये थे यद्यपि उनका प्रयास सफल न हो सका। परन्तु दोनों जीवितों की दुनियाँ से मिट चुके थे और वे उसके ज्ञान का लाभ न उठा सके। तब बुद्ध को उन पाँच ब्राह्मणों की सुधि आई जिन्होंने राजगृह में निरंजना तक उसका अनुसरण किया था परन्तु उसके तप भ्रष्ट हो जाने पर उसे छोड़ वे काशी के पास मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) चले गए थे। मृगदाव (ऋषिपत्तन) ब्राह्मण धर्म का प्रबल अखाड़ा था। बुद्ध ने विचारा कि उन ब्राह्मणों ने उसमें विश्वास किया था परन्तु मिली उन्हें निराशा। अतः अब उसके ज्ञान के सबसे पहले अधिकारी वे ही थे। पहले वे ही उसके अव्यक्त ज्ञान कलश का अमृत पिउँगे, उसने निश्चय किया। वह स्थिर कर वह शीघ्र पश्चिम की ओर चल पड़ा और एक दिन सन्ध्या काल वह मृगदाव जा पहुँचा। उसका आगमन पहले उन्हें विघ्न और अशुभ सा लगा। उनके नेता कौण्डिन्य ने उनसे कहा—‘भाइयो, वह श्रमण गौतम आ रहा है। हम उसे न आसन दें, न जल।’ परन्तु जब बुद्ध पास आए और उन्होंने उनके प्रदीप्त वर्णों को देखा तब उनकी धारणा शीघ्र बदल गई। पहले कौण्डिन्य ने उन्हें आसन और जल प्रदान किए।

बुद्ध ने अपने उपदेश पहले उन्हें दिए। उन्होंने कहा; भक्खुओं, मार्ग दो हैं—अत्यन्त विलास और अत्यन्त तप के। उन दोनों के बीच एक तीसरा मध्यम मार्ग (मज्झिम पटिपदा) है तथागत का खोजा हुआ, जो न अत्यन्त विलास का है, न अत्यन्त तप का। चार आर्य सत्य हैं और उन पर अवलंबित अष्टांगिक मार्ग है। ये चार आर्य सत्य कौन से हैं, भक्खुओ ? ‘दुःख है; दुःख का कारण है; दुःख का परिहार है; दुःख के परिहार का उपाय है। और

मध्यम प्रतिपदा के अष्टांगिक मार्ग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आर्जाव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। धर्म का यह प्रथम चक्र-प्रवर्तन था। उस प्रकार जिस चक्र का बुद्ध ने प्रवर्तन किया वह शताब्दियों बाद भी आज गतिशील है। बुद्ध ने आघात वहाँ किया जहाँ विफलता का भय पहले था। और विजय उनके हाथ रही। मार्गच्युत स्वाभाविक ही संशयात्मा होते हैं, छोड़े हुए मार्ग के औचित्य में उनको संदेह होता है। परन्तु उन पञ्चभद्रवर्णियों पर बुद्ध का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनकी शिष्य शृङ्खला की पहली कड़ी उनसे ही निर्मित हुई। बुद्ध ने उनको अपनी शरण में लेते हुए कहा—“भिक्षुओ, समीप आओ; सत्य स्पष्टतया निरूपित है। पवित्र जीवन से दुःख का अन्त करो।”

पाँच शिष्यों का यह प्रारम्भिक समुदाय संघ के अर्थ दृढ़ नीव सिद्ध हुआ। शीघ्र शिष्यों की संख्या बढ़ चली, काशी के धनाढ्य सेठ का पुत्र यश अभिजातकुलीय पचपन मित्रों के साथ संघ में प्रविष्ट हुआ। बुद्ध ने उन सब को एकत्रित कर कहा—“जाओ भिक्षुओ, बहुजनहित बहुजनसुख के अर्थ अमण करो। एक स्थान में दो न जाओ। धर्म के शब्द और भाव का उपदेश करो, सम्पूर्ण और सम्मत् धर्म का। पवित्र मार्ग का उद्घाटन करो।” मृगदाव से बुद्ध उठेला लौटे और वहाँ विख्यात कश्यप और उसके हजार शिष्यों को उन्होंने अपनी शरण में लिया। इस शिष्य परिवार को लिए वे फिर राजगृह पहुँचे जहाँ राजा बिंबसार उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। राजगृह से उठेला की यात्रा में गोतम ने वचन दिया था कि बुद्धत्व प्राप्त कर वह लौटेगा और सत्य धर्म में राजा को दीक्षित करेगा। बिंबसार को बुद्ध ने अपने अर्जित सत्य का उपदेश दिया और राजा ने राज्य ने संघ को अपना अतिथि बनाया और भोजन-वसन से अभितृप्त किया।

राजगृह में ही बुद्ध ने दो मेधावियों सारिपुत्र और मौग्दलायन को शिष्य बनाया जिन्होंने कालान्तर में बड़ी ख्याति प्राप्त की और उनके शिष्यों में प्रमुख हुए। अब तक बुद्ध की ख्याति दूर दूर तक हो चुकी थी उनके शिष्यों की

संख्या प्रभूत हो चली थी। उनका प्रभाव इतना बढ़ा कि अनेक बार तो पत्नी को पति के और माता को पुत्र के खो देने का भय हो आता। संध में प्रव्रजित होने की इच्छा लोगों में इतनी बलवती हो चली थी कि पत्नियों और माताओं का डर कुछ अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। पुत्र का यश इतना बढ़ा कि शुद्धोदन ने अनेक बार अनेक संवाहक बुद्ध को घर बुलाने के लिए भेजे। परन्तु बुद्ध का जादू कुछ ऐसा था कि जो उनके पास गया संध में प्रविष्ट होता गया। न तो वह उनमें उनके पिता का संदेश ही कह सका, न लौट कर कपिलवस्तु ही जा सका। नौ बार शुद्धोदन के प्रणिधि बुद्ध के समीप पहुँचे, नवों बार वे संध में दाखिल हो गए। अन्त में शुद्धोदन ने बुद्ध के बन्धन के साथी उदयों को भेजा। उदयों भी औरों की ही भाँति प्रव्रजित हो गया परन्तु उसकी प्रार्थना पर उन्होंने कपिलवस्तु जाना और पिता से मिलना स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों बाद बुद्ध कपिलवस्तु पहुँचे जहाँ उन्होंने जन्म लिया था, युवा हुए थे, महानिनिष्क्रमण किया था, जहाँ पिता और पत्नी उनके लौट आने की आज भी राह देख रहे थे।

पुत्र को देखने के लिए अपने सम्बन्धियों के साथ शुद्धोदन कपिलवस्तु के न्यग्रोध कानन में पहुँचे। परन्तु बुद्ध के मुख पर विराजती आभा और शान्ति देख वे इतने मुग्ध हो गए कि उन्हें उनको और उनके संध को भोजन के अर्थ निमन्त्रित करने की सुधि न रही। दूसरे दिन भिक्षा करने के लिए हाथ में भिक्षापात्र लिए बुद्ध कपिलवस्तु के राजमार्ग पर चल पड़े। शुद्धोदन ने पुत्र के इस आचरण से बहुत बुरा माना। अपने ही नगर में पुत्र का भीख माँगना पिता को न रुचा। उसने उसे अनुचित कहा। बुद्ध ने गम्भीर हृदय लू लेनेवाली वाणी में उत्तर दिया—“राजन्, तुम राजाओं के कुल में उत्पन्न हुए हो, मैं भिखमर्गों, बुद्धों के कुल में!” तब पिता ने पुत्र की शरण ली। पुत्र ने पिता को उपदेश किया। मनस्विनी यशोधरा, बुद्ध की पत्नी, अपने महलों में चुपचाप तब भी पति के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी जब सारा कपिलवस्तु न्यग्रोध-कानन में उमड़ा पड़ता था। अन्त में जब बुद्ध ने उस नारी का शृङ्खल

छोड़ने का प्रण सुना तब वे अपने एक शिष्य को साथ लेकर उसके द्वार पहुँचे। द्वार के पीछे तनय राहुल को लिए यशोधरा खड़ी थी। उसकी स्मृति में अतीत का समुद्र लहरा रहा था। सुखा गृहस्थ जीवन की स्मृतियाँ अतीत के आधार से उठतीं और उसके मानस को भर देतीं, उसके भूखे एकान्त की एकमात्र आहार, उसके ६ वर्षों के लम्बे एकाकी जीवन की अमूल्य मणियाँ, स्वप्निल निश्चित काम्य तरुणी के ६ वर्षों की वे स्मृतियाँ।

यशोधरा बुद्ध उसके सामने मार्ग में आ खड़े हुए। यशोधरा ने प्रव्रजित पति का हाँथों पर मुस्कान लिए नेत्रों में आसू भर कर स्वागत किया। परन्तु प्रव्रजित पति न था और न वह घर ही आया था। और अभी वह उसके उद्दीप्त मुखमण्डल को चकित दृष्टि से निहार ही रही थी की भिक्षु ने हाथ का भिक्षा पात्र उसकी ओर बढ़ा दिया। नारी ने इस कृत्य का अर्थ समझा और अपने मिटते हुए संसार की संस्कृति देखी। अपनी शान्त मुद्रा उसने भंग न होने दी। धीरे-धीरे किन्तु सबल वाणी में उसने कहा—“आपने मेरे सामने भिक्षा के लिए पात्र बढ़ाया है। मैं आपको अपनी सब से प्रिय, सब से महाघर वस्तु दूँगी।” और उसने राहुल को हाथों से उठा कर भिक्षापात्र की ओर बढ़ा दिया। अजन्ता के एक चित्र में आज भी माता-पुत्र का यह लोकोत्तर चरित अंकित है। बुद्ध ने चुपचाप यह भिक्षा स्वीकार कर ली और आगे बढ़ गए। वाद में यशोधरा ने राहुल को पिता से पितृदाय माँगने पर बाध्य किया। राहुल ने पिता से पितृदाय माँगा। बुद्ध ने आनन्द से कहा—आनन्द, राहुल को प्रव्रज्या दो। निस्सन्देह राहुल के पिता की संपत्ति प्रव्रज्या ही थी।

शुद्धोदन ने भी संघ में प्रवेश किया और शाक्य राजारहित हो गए। तब उसके तनय गोत्रीय पुत्र नन्द से शाक्यों का नेतृत्व करने को कहा गया। नन्द इस पद पर प्रतिष्ठित होने ही वाला था कि बुद्ध ने उपदेश देकर उसे विरक्त कर दिया। अपनी वाग्दत्ता को विवाह के अवसर पर ही छोड़ नन्द प्रव्रजित हो गया। शुद्धोदन इस शेष पुत्र के भी प्रव्रजित हो जाने और शाक्यों के अनिष्ट की चिन्ता से रो उठे। उनके विषाद से प्रभावित हो कर बुद्ध ने घोषणा

कर दी कि कोई तरुण अपने माता-पिता की अनुमति के बिना प्रव्रजित न हो सकेगा। बौद्ध भिक्षु, कवि और दार्शनिक अश्वघोष की अमरकृति 'सौन्दरनन्द' में यह कहानी सविस्तार कही गई है और इसका सब अंकन अजन्ता के एक भित्ति-चित्र में हुआ है। नन्द ने नारीरत्न सुन्दरी को व्याहा था और दोनों में एक दूसरे के लिए प्राणों से अधिक ममता थी। नन्द जब स्नानान्तर सुन्दरी के दपण-स्वच्छ कपोलों पर 'भक्ति-चित्र' बना रहा था, बुद्ध यकायक द्वार पर आ खड़े हुए और उन्होंने भिक्षा के लिए अपना पात्र बढ़ा दिया। दास-दासी स्वामी-स्वामिनी के प्रसाधनाथ अगारागादि प्रस्तुत करने और जल आदि वासने में व्यस्त थे, किसी ने बुद्ध पर ध्यान न दिया। बुद्ध आगे बढ़ गए। वातायन से नन्द ने बुद्ध के समुन्नत शरीर को चुप-चाप गंभीर गति से राजमार्ग पर बढ़ते देखा। उनकी अवमानना का विचार कर वह व्याधित हो गया। उसके द्वार से बुद्ध रिक्त पात्र लिए लौट जायें, यह उसके लिए नितान्त क्षोभ और विषाद का कारण हो गया। उसने शीघ्र जा कर उन्हें लौटा लाने की सुन्दरी से अनुमति माँगी। सुन्दरी ने मुस्करा कर कहा—'जाओ, परन्तु मेरे कपोलों के आर्द्र आतंखन के सूखने के पहले ही लौट आना।' नन्द ने अनुकूल विधान मान लिया और वह द्रुतगति से बुद्ध के पाँछे चला। बुद्ध का उन्नत शरीर दूर से ही दमक रहा था। नन्द शीघ्र उनके समीप जा पहुँचा।

नन्द को देख बुद्ध को उसकी अन्तर्भावना समझते देर न लगी परन्तु उन्होंने उसे क्षमा प्रार्थना अथवा अपना भाव व्यक्त करने का अवसर न दिया। जय-जय नन्द कुछ कहने के लिए अभिमुख होता बुद्ध किसी और से बात करने लगते और सुसंस्कृत नन्द उनको बात कट जाने के भय से चुप हो रहता। अन्त में बुद्ध ने अपना भिक्षा-पात्र नन्द को दे दिया और अपने आवास का आर स्वयं चल पड़े। नन्द का अन्तर सुन्दरी के प्रेम से पूरित था परन्तु परिस्थिति बुद्ध ने कुछ ऐसा उत्पन्न कर दी थी कि उनका अनुसरण करने के लिये उसके पास कोई और चारा न था। उसने सोचा न्यग्रोध कानन में पहुँचते ही पात्र रख कर लौट पड़गा परन्तु वहाँ बुद्ध के आते ही उनके दर्शनों के

लिए जन संभार दृष्ट पड़ा। दूर-दूर से जनता उनका संभाषण सुनने आती थी, उस दिन भी कानन जन संकुल हो रहा था और उनके आते ही उनसे उपदेश करने का अनुरोध किया। उपदेश के बाद उपदेश चलते रहे, उनका क्रम अनवरत बना रहा और नागरिक संस्कारों का अप्रतिम प्रतीक नन्द चुपचाप अनुमति के अवसर की आशा में खड़ा रहा। उसको अनुपम प्रिया प्रकोष्ठ के वातायन में खड़ी सिसकती रही। परन्तु बुद्ध ने उसे एकान्त का अवसर नहीं दिया, यद्यपि उसका प्रणयसिक्त मन बार-बार अपने प्रासाद की ओर दौड़ता रहा, बार-बार उसकी पत्नी की सुधि उसे आती रही। अजन्ता के एक दरी गृह में चित्रों की एक शृङ्खला में नन्द की यह प्रियानुधाविनिवृत्ति बड़ी सक्षमता से अंकित है। अन्त में बुद्ध के प्रयास और उनके उपदेशों से नन्द को शक्ति मिली और वह धर्म, सत्य और बुद्ध की शरण में प्रविष्ट हुआ। उसका अनुराग स्वार्थ में निरोहित हो कर परार्थ में लगा। यह प्रणय की दुर्भेद्य शृङ्खला बुद्ध ने जानी थी, स्वयं तोड़ी थी। नन्द की प्रातिपत्तिक व्यथा का उन्हें ज्ञान था परन्तु वेदना और वासना की चरम अनुभूति के समय ही उन्होंने उसका दमन स्वयं किया था, अपने अनुगमियों द्वारा भी कराना इष्ट समझा।

इसके बाद बुद्ध मल्लों के देश पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द, नापित उपासित, प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त और दशेनिक अनिरुद्ध को प्रव्रज्या में दीक्षित किया। वहाँ से वे राजगृह पहुँचे जहाँ उन्होंने श्रावस्ती के धनाढ्य सेठ सुदत्त या अनाथपिण्डिक को अपना शरण में लिया। पुरातत्वविद् इस नाम ने भली प्रकार परिचित हैं क्योंकि यही श्रेष्ठी उस जेतवन का प्रख्यात केता है जिसकी कथा भारहुत-वेदिका की वेष्टनी और स्तंभों पर इस सफलता और सजीवता से उत्कीर्ण है। कहानी प्रसिद्ध है कि सुदत्त ने जेतवन की रमणीकता से लुब्ध होकर उसको बुद्ध की सेवा में अर्पण करना चाहा। परन्तु यह वन राजा जेत का था और वह किसी मूल्य पर उसे बेचने को तैयार न था। यह सोच कर कि इतना मूल्य सुदत्त न दे सकेगा, उसने उसके मूल्य पूछने पर हँसी में कहा कि यदि वन की सारी उच्छिन्न भूमि स्वर्ण-मुद्राओं से पाट दी जाय तब

वह उन्हें मूल्य रूप में स्वीकार कर बेच देगा। परन्तु प्रमाणतः जेत को सुदत्त के धन का अन्दाज न था। सुदत्त हँसा और उसने कहा—‘राजन्, सौदा हो गया, मैं आपको वाञ्छित द्रव्य देता हूँ।’ जेत ने इस पर मुकरने का प्रयत्न किया परन्तु सुदत्त ने न्याय की शरण ली और उसकी डिग्री हो गई। माँगे हुए धन को देकर भूमि पर अधिकार करने की उमे अनुमति मिल गई। असंख्य गादियों स्वर्ण मन्थ्रों, भर-भर कर लाई और जेतवन की भूमि पर रिक्त कर दी गई। सारी भूमि जब इन मन्थ्रों में ढक गई तब कहीं इस वन का क्रय हो सका।

बुद्ध संघ के साथ जेतवन के अपने नए आवास में प्रविष्ट हुए, और उस शिष्य की इच्छा पूरी की जिसने उनके प्रसाद के लिए अपने सर्वनाश तक की परवाह न की। इस जेतवन के विहार में बुद्ध प्रमेनजित् से मिले। प्रमेनजित् कोसल का राजा था। उसके साथ ही तक्षशिला का उसका सहपाठी और व्यापिलब्ध वैद्य जीवक भी बुद्ध की शरण आया। जीवक राजा बिंबसार के किसी पुत्र का रक्षित मित्र था और तक्षशिला में वैद्यक का ज्ञान अर्जित कर चिकित्सा में अद्वितीय प्रमाणित हुआ था। चिकित्सा के क्षेत्र में उसका यश कोसल की क्षुद्र सीमाओं को कब का लाँघ चुका था। उसकी चिकित्सा का क्षेत्र हिमालय के चरण से विन्ध्याचल के पार उज्जयिनी तक, कोसल और मगध, मल्ल और लिच्छिवि भूमि पर फैला हुआ था। राजगृह के बिंबसार और अवन्ती के चण्ड प्रद्योत महासेन का उम पर असाधारण प्रेम था। इस असाधारण विभूति का स्वामी जीवक बुद्ध और उनके संघ के प्रसादन में दत्त-चित्त हुआ। सीधे उसके नए धर्म की दीक्षा ली और बुद्ध आमुष्यु उसके चिकित्सा सम्बन्धी सलाह लेते रहे।

कुछ काल पश्चात् बुद्ध ने वैशाली में निवास किया। वैशाली से वे कपिल-वस्तु पहुँचे। वहाँ अकाल पड़ा हुआ था और रोहिणी के जल के अर्थ कालिम और शाक्य बहरतूर लड़ पड़े थे। उनका भागड़ा निपटा कर वे फिर कपिल-वस्तु पहुँचे और वहाँ अपने मृत पिता की उन्होंने अन्त्येष्टि की। शुद्धोदन सत्ता-

नवे वर्ष की अत्यन्त पकी आयु में मरे। वहाँ से वे फिर वैशाली लौटे जहाँ वह घटना घटी जिससे बौद्ध संघ के इतिहास-प्रवाह पर गहरा प्रभाव पड़ा। विमाता प्रजापती, पत्नी योधरा और अनेक अन्य कोलिय और शाक्य अभिजातकुलीना संबन्धिनियों ने बुद्ध से संघ में प्रविष्ट होने तथा प्रव्रज्या की अनुमति माँगी। बुद्ध विचार में पड़ गए, चिन्तित हो उठे। भविष्य की संभावनाएँ उन्हें विकल करने लगीं और वे उद्विग्न हो उठे। उनके अत्यन्त कृपापात्र शिष्य आनन्द ने उनकी ओर से विशेष प्रार्थना की। उसने कहा कि एक उनके पिता की विधवा और दूसरी भिक्षु (बुद्ध) की पत्नी होने के कारण उनके जीवन की घड़ियाँ सर्वथा रिक्त थीं। उनको भरने का कोई उपाय न था और धर्म में उनकी श्रद्धा अटूट थी। बुद्ध का चित्त फिर विचारों में खो गया। अन्त में वे नम्र हो गए। अपने सार्वजनिक जीवन और अध्यवसाय के क्षेत्र में स्पष्टतया वे जन-जन में अन्तर नहीं कर सकते थे, चाहे निवेदक नर हो या नारी। परन्तु दोनों वर्गों की सन्निकटता से अभिजनित भावी संभाव्य अचार का ध्यानकर वे विकल हो उठते थे। आनन्द के सुझाव से उनको अपने विधान में परिवर्तन करना ही पड़ा।

चिन्तित आकुल मन से उन्होंने धीरे धीरे कहा—“नारी से वर्जित धर्म और सब सहस्र वर्षों की अवधि तक जीवित रहते, परन्तु उसके संपर्क के कारण अब उनका जीवन-काल केवल पाँच शताब्दियों का होगा। यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य प्रमाणित हुई। पाँच सौ वर्षों में ही बौद्धधर्म और संघ की चूलें भारत में हिल गईं और बिहार घोर सांप्रदायिकता तथा अपचार के केन्द्र बन गए। फिर भी बुद्ध ने अपना वचन पूरा किया। नारियों को भी प्रव्रजित होकर संघ में प्रविष्ट होने की उन्होंने अनुमति दे दी। इतना उन्होंने अवश्य किया कि परिव्राजिका-भिक्षुणियों के एक पृथक् संघ की उन्होंने व्यवस्था की और उन भिक्षु समुदाय को अलग रखा।

इसके बाद वत्स की राजधानी कोशाम्बी में भी बुद्ध ने अनेक बार उपदेश किए। वहाँ यमुना के तट पर विलासी उद्यान की उद्यान-परम्परा थी। वहाँ बुद्ध ने

अनेक शिष्य बनाये और राजकुमार बोधी को अपने धर्म का उपासक बनाया । राजा और उसके मन्त्री भी उस महावक्ता के विनीत श्रावक थे । परन्तु उदयन की विलासप्रियता पर उस सम्युद्ध पर्यटक का विशेष प्रभाव न पड़ सका । उदयन के कान उपदेशों के नहीं, तन्त्री-नाद के अभ्यस्त थे, बुद्ध के उपदेश उसके लिए निरर्थक सिद्ध हुए । प्रमदाओं के मंदिर आलाप और नर्तकियों के अट्टहास ने मध्यम-प्रतिपदा की अनाकर्षक सच्चता की व्यंग-प्रतारणा की और प्रहृत पुष्कर के गम्भीर घोष ने मरण तथा पुनर्जन्म के भय को अपने नाद में डुबा दिया । उदयन की आत्मा इस दूर की आग से कभी संतप्त न हुई ।

वैरजा में अपना बारहवाँ वर्षाकाल समाप्त कर बुद्ध ने अपनी सबसे लम्बी यात्रा की—तक्षशिला की । तक्षशिला से वे संकाश्य, कान्यकुब्ज, प्रयाग और काशी होते हुए वैशाली लौटे और वैशाली से श्रावस्ती । उनके पिता ने शाक्यों के नेतृत्व के अर्थ कोई पुत्र नहीं छोड़ा था । एकमात्र विमाता-पुत्र को उन्होंने पिता के सामने ही धर्म में दीक्षित कर लिया था । इसलिए शुद्धोदन के बाद शाक्यों का राजा भक्ष्य हुआ था और अब उसके पश्चात् बुद्ध का पितृव्य-पुत्र महानामन हुआ । महानामा बुद्ध के दर्शन के लिए आया । बुद्ध ने उसको समृद्धि की अस्थिरता, संपत्ति की क्षणभंगुरता और जन्म-मृत्युह्वला के दुःख का उपदेश किया । इसी अवसर पर बुद्ध के श्वशुर सुप्रबुद्ध ने अपनी पुत्री यशोधरा को त्यागने के प्रतिकूल में बुद्ध का शाप दिया जिसे उन्होंने प्रसन्न मन से अंगीकार किया ।

कोसल में छलिक के पास ही वन में बुद्ध ने आवास किया । वहाँ अंगुलिमाल नाम का गितान्न नृशंस डाकू था । उसने अपने अत्याचारों से कोसल को प्रजा और स्वयं प्रसेनजित् को आतंकित कर रखा था । प्रसेनजित् का राज्य उस डाकू के उपद्रवों से विजन हो चला था । अंगुलिमाल इतना निर्दयी था कि उसने एक हजार मनुष्यों के वध का प्रण किया था । जिस किसी का वह वध करता उसकी एक उँगली काटकर वह नित्य बढ़ती उँगलियों की

अपनी माला में गूँथ लेता जिससे उसकी संज्ञा 'अङ्गुलिमाल' पड़ गई थी। इससे उसे अपने वधे मनुष्यों की संख्या का परिगणन हो जाता था। उसका क्रोध इस प्रकार का था, उसकी शोणित-स्वादुल जिह्वा इतनी अतृप्त, उसकी वध की लालसा इतनी उत्कट ! जब बुद्ध उस वन में प्रवेश करने लगे तब वहाँ खड़े प्रहरी ने उनको सावधान किया। बुद्ध ने भय और आतंक न जाना था, प्रहरी के अनुशासन पर हँस वे आगे बढ़ गए। सामने के घने वन में वे प्रविष्ट हुए। अन्तर्दृष्टि से उनका प्रसन्न-वदन विकसित था, उनके पदों की गति शान्त परन्तु गम्भीर थी। यकायक वन प्रान्तर को चीरती हुई बिजली की तड़प-सी पुरुष वाणी सुन पड़ी—'कौन जा रहा है ? ठहर जा !' प्रव्रजित साधु नृशंस-दस्यु की ललकार सुन उसकी प्रतीक्षा में रुक खड़ा हो गया। कृष्णकाय दस्यु अपनी विकरालता धूप में द्विगुणित करता बुद्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ। उँगलियों की उसकी असित माला उसके कृष्णतर कृत्यों का प्रतीक थी। सूर्य के प्रखर प्रकाश में उसकी कृष्णकाया चमक रही थी।

अङ्गुलिमाल के दस्यु-जीवन में आज यह पहला अवसर था जब मनुष्य उसकी ललकार सुनकर भी शान्त संयत खड़ा था, ललाट पर बिना रेखाओं के, सर्वथा निरस्त्र, अरक्षित। और जब उस अरक्षित भिक्षु ने प्रशान्त प्रसन्न-मुद्रा से उसका स्वागत किया तब तो उसके विस्मय की सीमा न रही। किसने उस साहसिक के अंक प्रदेश में प्रवेश करने का साहस किया। यह क्रोध से अधिक उसके कुतूहल का विषय हो गया और उसका रोम-रोम इसके उत्तर के निमित्त उत्कण्ठित हो उठा। वह धूर-धूरकर उस महाभ्रमण को देखने लगा। वस्तुतः यह उसके लिए एक नया अनुभव था। अभी अपने विस्मय से वह स्वयं प्रकृतिस्थ न हुआ था कि बुद्ध ने उसके प्रश्न के उत्तर में अपना उससे कहीं अधिक उद्भ्रामक प्रश्न पूछा, " 'ठहर जा !' अच्छा, मैं तो यह ठहर गया। पर अब तू बता—तू कब ठहरेगा ?" स्पष्टतः बुद्ध का प्रश्न शरीरबन्ध के उच्छेद से था, जन्म-मरण की शृङ्खला से, तज्जनित दुःख तथा उसके शमन से। और इस प्रश्न में निहित जिज्ञासा-तत्त्व से कहीं अधिक

विस्मयकारक प्रश्निक की मुद्रा थी। दस्यु ने जीवन में दया न जानी थी, उससे किसी ने आज तक कभी इस अकृत्रिम साधुता, अनादृत सौजन्य से प्रश्न न किया था। उसके सामने जीवन का एक नया अनजाना मार्ग था, अनोखा वस्तुतत्त्व। निःसीम जीवन स्नेह-प्रसार अपने वृहत् कपाट खोले उसे बुला रहा था। वह जीवन उसके अग्र तक के रक्त-रजित आचरण पर व्यंग कर रहा था। बुद्ध के शब्दों को उसने आदेश के रूप में ग्रहण किया। तब तथागत ने उसे सद्धर्म की महत्ता, दया और विनम्रता के आनन्द, तथा वर्ज्य आचरण के अनौचित्य पर उसे उपदेश किया। दस्यु सुगत के मुख से टपकती हुई अमृत की बूँदें पीता रहा। वह दीक्षित हुआ, समाधिस्थ हुआ, फिर अर्हत्।

इस काल बुद्ध ने अपनी आयु के ७२वें वर्ष में प्रवेश किया। सैंतिस वर्षों का अनवरत भ्रमण और सक्रिय सचेष्ट प्रचार अब उनके सशक्त शरीर को भी थका चले। जरा अब अपने तन्तु उनकी काया पर बुनने लगी; यद्यपि उनकी सक्रियता बनी रही और जगत्कल्याण की उनकी सद्भावना तथा उसके प्रति उत्साह अदम्य बना रहा। इस जरा के साथ ही संघ विषयक कुछ चिन्ताओं ने भी धीरे धीरे उनके शरीर में कुछ प्रवेश पाया। साम्प्रदायिक शत्रु पहले भी थे परन्तु अब वे अधिक सचेष्ट हो चले थे, यद्यपि वे साधु की शान्ति तोड़ न सके। वे आते, प्रश्न करते, संतुष्ट हो सद्धर्म में दीक्षित होते अथवा पराभूत हो अपनी राह लगते। अथवा जो तर्क-वितर्क का सहारा लेते वे वस्तुतत्त्व अथवा जीवन के आचरण पर अकृत्रिम सहज वाक्यावलि सुनते और अन्त में वे भी मूक हो जाते। अतः विरोधी साम्प्रदायिकों से सघर्ष की चिन्ता उनके मन में न थी परन्तु अपने ही संघ में जो अनुदार असंयत भेदक प्रवृत्तियाँ उठने लगी थीं उनसे निश्चय उन्हें भय होने लगा था। देवदत्त और उसके कुछ अनुयायियों को बुद्ध का प्रभाव और संघगत सत्ता खलती थी। दिन-दिन बुद्ध की बढ़ती हुई शक्ति देख उसी अनुपात में उनकी ईर्ष्या भी बढ़ने लगी और वे संघ में भेद डालने लगे।

देवदत्त बुद्ध का पितृव्य-पुत्र था जिसने कभी यशोधरा को बरने का प्रयत्न किया था और असफल हुआ था। उसकी ईर्ष्या बुद्ध की असीम लोकप्रियता से और जाग उठी। वह स्वयं सब का प्रधान भी होना चाहता था जो बुद्ध के जीवित रहते संभव न था। फिर भी इस देवदत्त का भी एक पक्ष था जिस पर विचार करना उचित है। बौद्ध साहित्य में देवदत्त के विरुद्ध सामग्री भरी पड़ी है और इस धर्म के आधुनिक अनुयायियों ने उसकी असाधुता प्रगट करने में विशेष उत्साह दिखाया है, परन्तु कुछ कटु सत्य निस्सन्देह ऐसे हैं जिनको गले से उतारना पड़ेगा। देवदत्त स्वयं तपस्वी था और भिक्षुओं के आचार को अधिक संयत अधिक तपपूत बनाना चाहता था यह तो निर्विवाद है। और इस सम्बन्ध में वह स्वयं आदर्श था और विनय के अपेक्षाकृत कटु विधानों का पहले स्वयं आचरणकर वह भिक्षुओं को उनको स्वीकार करने का उपदेश देता था। परन्तु संघ शासन के औचित्य का विचारकर, अथवा मध्यममार्ग के विचार से, अथवा देवदत्त के सामयिक असामयिक विरोध से संतप्त होकर बुद्ध ने उसके दृष्टिकोण का अनादर किया, उसकी उपेक्षा की। देवदत्त के प्रति बुद्ध का व्यक्तिगत आक्रोश भी सर्वथा काल्पनिक नहीं है यद्यपि यह मानना होगा कि बुद्ध का अस्नेह अकारण न था, स्वयं देवदत्त की ईर्ष्या ही उसका कारण थी। विरोध बढ़ते ही गये, उसी मात्रा में देवदत्त के प्रति अश्रद्धा भी बढ़ती गई, फिर भी बुद्ध ने अपनी शान्ति भंग न होने दी, न अपना रोष ही उन्होंने प्रकट होने दिया। जिस प्रकार वासनाओं को वे संयत रखते थे उसी प्रकार इस विरोध के प्रति भी वे उदासीन बने रहे। क्रोध अथवा चिन्ता का रेखा तक उन्होंने अपने चेहरे पर न आने दी। जब तक वे जीवित रहे, संघ उनका बना रहा। और वे उसके विश्वास-भाजन अनन्य प्रभु बने रहे। देवदत्त के षड्यन्त्र चलते रहे।

इसमें सन्देह है कि हत्या और व्यभिचार के अभियोग से बुद्ध का नाम कलंकित करने के प्रयत्नों से देवदत्त का कोई संपर्क था या नहीं, परन्तु उसके तथागत की हत्या और संघ का प्रधान बनने के प्रयत्न सम्भवतः निर्विवाद

हैं। कहा जाता है कि तीन-तीन बार बुद्ध के जीवन पर आघात हुए। अकृतकार्य होने पर—अनुव्रत का वक्तव्य है—देवदत्त ने बुद्ध के संरक्षक मगधराज बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु से मैत्री-भाव स्थापित किया। उसने उस अधीर दत्त राजकुमार को पिता की हत्याकर मगध का स्वामी बन अपनी दुरभिसन्धि में सहायता करने पर तत्पर कर लिया। देवदत्त अपने पहले उद्देश्य में तो सफल हो गया परन्तु दूसरे में फिर अकृतकार्य रहा। अजातशत्रु ने तो राज्य त्याग हत्या द्वारा अपने पिता को मगध के सिंहासन से हटा दिया; परन्तु देवदत्त बुद्ध को हटाकर सघ की प्रधानता न प्राप्त कर सका। अजातशत्रु ने अपना जघन्यपाप स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त किया।

अजातशत्रु को यह दृढ़तापूर्वक बताकर कि जब तक लिच्छवि जनपद का उचित आचरण करते हैं और अपने सांस्कृतिक आचरणों को गौरव देते हैं वे सर्वथा अजेय हैं, बुद्ध ने राजगृह से प्रस्थान किया। गङ्गा शोण के सगम पर पाटलिगौव में लिच्छवियों का आक्रमण रोकने तथा उन पर स्वयं आक्रमण करने के अर्थ अजातशत्रु दुर्ग का निर्माण कर रहा था। बुद्ध कुछ दिनों वहाँ ठहरें। फिर उस उठते हुए दुर्ग तथा स्थान की भावी महत्ता के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर वे गङ्गा पार वैशाली चले गए। वहाँ सुसंस्कृता गणिका अम्बपाली ने उन्हें भिक्षा के अर्थ निमन्त्रित किया। सर्वथा निष्पृह अनासक्त सुगत को उसके पात्रत्व में क्या सन्देह हो सकता था। उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वैशाली के अभिजात कुलियों के रथ से रथ सटाकर अम्बपाली ने हौंका। वैशाली के अभिजात कुलियों का दर्प मथ गया। बुद्ध से उन्होंने प्रार्थना की; परन्तु वे अम्बपाली के निमन्त्रण की अवमानना न कर सके। अभिजातकुलियों ने वृणित वारवनिता से किसी मूल्य पर अपना वह बुद्ध का आतिथ्य उन्हें बेच देने का अनुनय किया। “वैशाली के सर में साधिकार स्नान करनेवाले राजाओं,” गणिका ने उत्तर दिया, “यदि तुम सारी वैशाली का वैभव, मय उस नगर तथा उसके विजित के मुझे क्यों न दे दो, मैं तथागत के आतिथ्य का यह गौरव न बेच सकूंगी।” वैशाली की सम्पत्ति और उसका साम्राज्य वेनिस की समृद्धि

और साम्राज्य से कम न थी परन्तु गणिका के इस दृष्ट व्यंग पर दोनों तुल गए—वैशाली की सम्पत्ति भी, उसका साम्राज्य भी ।

बुद्ध दुर्बल होते जा रहे थे । वैशाली से वे बेलुव पहुँचे और बेलुव से फिर वैशाली । फिर वे पावा पहुँचे और वहाँ उन्होंने चुण्ड का निमन्त्रण किया । चुण्ड ने उन्हें भात और शूकर माँस परसा और तथागत ने अनापत्ति-पूर्वक प्रयच्छित आहार ग्रहण किया । परन्तु उसका परिणाम कष्टकर हुआ, अप्रत्याशित । जीवक की मेधा भी उस अजीर्ण को न सम्हाल सकी । बुद्ध कुसीनारा की ओर बढ़े; परन्तु दशा दिन-दिन गिरती गई, रोग बढ़ता गया । गन्तव्य के समीप ही दो साल वृत्तों के बीच आनन्द ने आसन बिछाया जिस पर सम्भवतः पहली बार असुविधावश अनिच्छापूर्वक उस महाव्रती ने शयन किया । उसका मस्तक उत्तर की ओर था, शरीर का भार दक्षिण पार्श्व पर था, एक चरण दूसरे पर टिका था ।

समय निकट जान उस महायात्री ने अपने शिष्यों को शंका-समाधान के अर्थ प्रश्न पूछने को कहा । संघ मूक था, सर्वथा निःशब्द । कोई न बोला । तथागत तब स्वयं बोले—“भिक्षुओ, अब मुझे तुम्हें इससे अधिक कुछ और देना नहीं कि ‘जरा और मरण पिंड का धर्म है । तुम अपना दुःख आप काटो, शृङ्खला से मुक्त होने का सतत प्रयास करो, ।” जब आनन्द और अन्य शिष्य तथागत का अन्त निकट जान विलाप करने लगे तब उन्होंने फिर कहा—“क्यों विलाप करते हो, आनन्द ? अन्य आचार्यों की भाँति मैंने कुछ अपने पास बचा न रखा । जो पाया था वह सब कुछ मैंने निःशेष रूप से मूट्टी खोलकर दे दिया । मेरे पश्चात् सत्य और संघ-नियम जिनका मैंने निर्माण किया है तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे ।” दीप शिखा बुझ गई, महापरिनिर्वाण में महायात्री प्रविष्ट हुआ ।

×

×

×

बुद्ध का चरित तथा उनके प्रचार-कार्य का अंकन हो चुकने के बाद अब

उनके कार्यों का मूल्यांकन करना युक्तिसंगत होगा। पैतालिस वर्ष का काल किसी व्यक्ति के जीवन में उसके व्यक्तित्व तथा कृत्यों की सफलता-असफलता का अन्दाज लगाने के अर्थ पर्याप्त होता है।

जब हम इस असाधारण धार्मिक नेता के चरित पर दृष्टिपात करते हैं तब हमारे सामने उसकी कुछ असामान्य उत्तमताएँ उठ आती हैं—उसका महा-भिनिष्क्रमण और सत्य की उत्कट जिज्ञासा, उसकी असीम मानवता और अनुकम्पा, उसका अद्भुत साहस और अभित शान्ति, उसका अथक श्रम और अविरमित गतिशीलता, उसका क्षत्रिय विद्रोह और सर्वथा जनतन्त्रीय दृष्टिकोण।

बुद्ध की जिज्ञासा इतनी जाग्रत थी, उसकी ज्ञान-पिपासा इतनी तीव्र थी कि उस राजभवन के सुख-वैभव नहीं रोक सके और वह उसे छोड़ कष्ट के मार्ग पर चल पड़ा। उन्निषदों के नविकेता की भाँति उसने सुखो जीवन का प्रत्येक द्वार अपने लिए बन्द कर दिया और जन कल्याण के मार्ग पर चल और सत्य की खोजकर उसने अपनी मुक्ति प्राप्त कर ली। युवावस्था में कुछ काल उसे ऐश्वर्य का जीवन बिताना पड़ा था, परन्तु वह जीवन कभी उसे बाँध न सका। उसकी श्रृंखला तोड़ वह निकल भागा। और जब तक वह उस वैभव का अन्यमनस्क हो भोगता रहा उसने ऐसा जाना जैसे वह अगारों के अम्बार पर पड़ा हुआ हो, जलता हुआ बेचैन हो, रक्षा के उपाय ढूँढ़ रहा हो। उसका महाभिनिष्क्रमण उसकी उत्कट जिज्ञासा तथा दुखी मानवता की कल्याण-भावना का चरम परिणति थी। अनेकों ने उसके पूर्व प्रव्रज्या ग्रहण की थी, अनेक उसके पश्चात् भी प्रव्रजित हुए, परन्तु उसकी परिस्थितियाँ सबसे भिन्न थीं, उसकी ज्ञान-पिपासा असाधारण थी। उसका नव तारुण्य, उसका स्निग्ध गार्हस्थ्य, उसका असीम सम्पत्ति, उसका असाधारण प्रभाव, उसके भावी उत्कर्ष का महिमा—इनमें से प्रत्येक किसी को निवृत्ति-मार्ग से विमुख करने में पर्याप्त सिद्ध होता, परन्तु इन सब का समाहार तो उसी जैसे अद्वितीय त्यागी द्वारा ही तिरस्कृत हो सकता था। इसके अर्थ उसी की शक्ति,

दृढ़ता और निस्पृहता आवश्यक थी। ज्ञान-पिपासा अभिवृत्ति के अर्थ उसका युग के विविध आचार्यों का सेवन तथा प्रायः छ वर्षों तक उसका भोषण कायिक तप सत्य की खोज में उसकी सतत जागरूकता सिद्ध करता है। सुबुद्धि से उसने आरम्भ में उन पीठों को खोजा जहाँ उसे शान्ति मिलने की सम्भावना थी, जहाँ सम्भवतः उसके प्रश्नों का उत्तर मिल सकता था, जहाँ युग की मेधा संचित थी। परन्तु उत्कण्ठा की जिस मात्रा ने ज्ञान के इन चरणों को सन्नाथ किया था साहस को उसी मात्रा ने उनका त्याग करने पर उसे बाध्य किया। तर्क के उलझे सूत्र-राशि का उसने सत्य और ईमानदारी की फूँक से उड़ा दिया। उसने शब्द-जाल को साफ़ जागड़म्बर कहा और ज़ोर से कहता वह चला गया—उसके प्रश्नों का उत्तर न आलार कालाम के पास है, न हृदक राम पुत्र के पास। व्यक्तित्व की ऊँचाई और परम्परा की प्राचीनता उसकी अकृत्रिम सादगी और प्रश्नों की सतत नवीनता को प्रभावित न कर सकीं। युग के बौद्धिक नेता नेतृत्व कार्य में स्वतः नियुक्त थे, कुछ को परम्परा ने नियुक्त किया था, कुछ को गुरुओं की शृंखला ने। उन्होंने औरों से पाया था, उस पर अपना रंग चढ़ाया, दुनिया को दिया। उसका प्रायः सारा अग्रना था, स्वयंमेव अर्जित और उसे सुननेवालों की भाषा में उनके समझने और प्रयोग के लिए कहा।

उसकी जिज्ञासा का आधार प्राणिमात्र के प्रति दया थी। अत्यन्त और अनन्त दुःख का निवारण कैसे हो, इसके उत्तर की उसे खोज थी और इसका उत्तर वाग्जाल नहीं दे सकता था। चमकते, नीले, अनन्त, चित्रित आकाश के नीचे मनुष्य दुःखो क्यों? निसर्ग की निःसीम उर्वरता और धारासार समृद्धि वर्षण के बीच भी मानव को अपूर्व आवश्यकताएँ क्यों? अनन्त-अनन्त सृजन, असंख्य-असंख्य प्रजनन के बीच जरा, मरण और पचत्वता क्यों? सौन्दर्य के प्रतीक, सृष्टि के अनुपम आदर्श मानव के मुख पर प्रसन्न आह्लादकर शशि-दिवाकर की किरणों के बीच चिन्ता के बादल क्यों? उनकी गहरी श्यामल छाया क्यों? दया और स्नेह उसके जीवन के

मूल तत्व हो गए—कारण, प्राणी ने इन्हीं को खो दिया था, इन्हीं की उसे आवश्यकता थी। प्राणि मात्र की सेवा उसके श्रम का लक्ष्य बन गई। उसका हृदय इतना विशाल, इतना विस्तृत था कि उसकी गहराई, उदारता, आनन्द, दया और स्नेह में जगत् का दुःख डूब सकता था। क्रौंच की रक्षावाली बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित उसकी कहानी श्रोता को स्तब्ध कर देती हैं। दया की कहानी है वह; ऐसी दया कि जिसने जीवों की पारस्परिक सीमाओं को तोड़ दिया है। देवदत्त उसी परिवार का है, उसी यत्न से पला, उसी प्रासाद की छत के नीचे। आखेट में क्रौंच को बाणविद्ध करता है, पतितोन्मुख पक्षी के पखों की फड़फड़ाहट गोतम की समाधि भङ्ग कर देती है। जलाशयवर्ती सुपरिचित कदली निकुंज का शान्त वातावरण आहत पक्षी के स्वर से खून ! खून ! चिल्ला उठता है। मरण का दुःख, दुःख का कारण, रूपों की क्षणभंगुरता जैसे मूर्तिमान हो आई। पक्षी के पतन के शब्द से उसकी विचार-धारा रुक गई। दौड़कर उसने उसे उठा लिया। हाथ रक्त से रँग गए। घाव धोया, पक्षी ने सज्ञा लाभ की तडफा, अभी मरा न था। देवदत्त तभी आ निकला। उसने अपना शिकार माँगा। दोनों उत्तेजित थे—प्रश्नोत्तर आक्रोशरजित हुए। देवदत्त ने राजसभा में आवेदन किया। प्रश्न हुआ—पक्षी किसने मारा ? देवदत्त ने कहा—मैंने। बुद्ध ने कहा—बचाया मैंने; पक्षी किसका ? मारने वाले का या बचानेवाले का ? उत्तर में प्रश्नों की एक परम्परा थी जिसका विधान ब्राह्मण व्यवहार-विधान में था, न शाक्य सभागार के क्षत्रिय प्रयोग में।

दूसरी कहानी भी उसकी अनुकम्पा और औशर्य को प्रतिष्ठित करती है। राजगृह के मार्ग पर महायात्री चला जा रहा था। भेड़ों का एक झुंड आगे जा रहा था। एक मेमना लँगड़ा चलता था। तथागत ने उसे उठा लिया। गड़रिया मुस्कराया। बुद्ध ने पूछा—क्यों ? उत्तर मिला—सुगता, हँसने की धृष्टता कौन करेगा ? पर संचिता हूँ जिसका हृदय मेमने के लँगड़ाने मात्र से द्रवित हो जाता है वह पितृहन्ता अजातशत्रु के पाप-शमन के अर्थ सहस्रों

यूपबद्ध प्राणियों की यज्ञ से कैसे रक्षा करेगा ? बुद्ध यज्ञशाला में जा पहुँचे जहाँ अजातशत्रु पशुओं के बीच बैठा था । पूछा—राजन्, यह पशु-प्रदर्शन कैसा ? उत्तर मिला—भन्ते, पाप बढ़ा है, उसका प्रायश्चित्त भी बढ़ा होगा, विधान लक्ष पशु बलि का है । तथागत ने एक तृण राजा के सामने फेंककर कहा—राजन्, तनिक इसे तोड़ो तो । तृण उँगलियों के कम्पनमात्र से टूट गया । फिर कहा बुद्ध ने—अब इन्हें जोड़कर पूर्ववत् तो कर दो ! राजा चकित हो महाश्रमण की ओर देखने लगा । महाश्रमण बोला—राजन्, जिसमें एक तिनका तोड़कर जोड़ने का सामर्थ्य नहीं वह सहस्रों प्राणियों के वध का आयोजन क्यों करे ! और सुनो, राजन्, ये मूक प्राणी तुम्हारी ओर से क्या बोलेंगे ? यदि ऐसा ही है तो मुझ सम्बुद्ध की बलि दो, पाप से उद्धार के निमित्त तुम्हारा कल्याण-पथ निर्मित करूँगा । अजातशत्रु चमत्कृत हो उठा । पशु मुक्त हो गए ।

बुद्ध में असाधारण साहस और निर्भयता थी । कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी उनकी पेशानी पर बल तक न पड़ते थे । साम्प्रदायिक शत्रुओं ने अनेक बार उनकी हत्या करने की धमकी दी, हत्या के अनेक प्रयत्न किये, परन्तु निरन्तर निर्भीकतापूर्वक वे अपने उपदेश करते गये । किसी प्रकार की धमकी अथवा भय उन्हें अपने मनोनीत मार्ग से नहीं हटा सकता था । अनेक बार उनके शत्रुओं ने उन्हें अपमानित और बदनाम करने के लिए कुलटाओं को उनके विरुद्ध खड़ा किया; परन्तु उनके साहस और नैमित्तिक आचरण में बाल भर भी अन्तर न पड़ा ।

उनकी गति अविराम थी, उनका श्रम अथक था । ४५ वर्ष वे निरन्तर देश में फिरते रहे और इन दीर्घ वर्षों का प्रत्येक दिन घटनाओं से भरा था । उनका नित्य का कार्यक्रम फ्रेडरिक महान् अथवा हर्ष को चकित कर देता, जिनका दिन नित्य के कार्य के अर्थ छोटा पड़ता था । बुद्ध अपनी शय्या नित्य प्रातः छोड़ देते और अपने आप बिना किसी की सहायता के स्नान करते, वस्त्र धारण करते और दोपहर तक ध्यान करते । तदनन्तर त्रिचीवर धारण करके

भिच्छाटन के अर्थ गलियों में निकल पड़ते। जहाँ भिच्छा करते वहीं गृहस्थ-उगसकों को उपदेश करते। लौटकर वे अपने भिक्षुओं की प्रतीक्षा करते और उनके आ जाने पर प्रत्येक को उसके चिन्तन तथा ध्यान का विषय बता स्वयं चिन्तन तथा विश्राम के लिए अपने कक्ष में प्रविष्ट होते। तीसरे पहर जनता आ पहुँचती और वे उसको उपदेश देते। फिर स्नानकर वे चुप बैठते और प्रश्नों का आवाहन करते। जो प्रश्न उनके अनुयायियों को विकल करते उनको वे सुनते और उत्तर देते। तब तक सन्ध्या हो आती और वे फिर चिन्तन तथा विश्राम के अर्थ उठ खड़े होते। समय-समय ही उनके पास अत्यन्त कम था, कार्य अपेक्षाकृत अत्यधिक।

बुद्ध उस क्षत्रिय-शूद्रता की प्रायः अन्तिम कड़ी थे जिसने ब्राह्मण सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया। वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञपरक पशुबध के विरुद्ध यह विद्रोह उसके क्षत्रिय पूर्वजों ने बहुत पूर्व ही आरम्भ कर दिया था। इनमें प्राचीन राजन्य थे, राजर्षि थे, और उपनिषत्काल के चिन्तक-नेता थे—अश्वपति कैंकेय, प्रवहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह। इस क्रमिक आक्रमण कार्य को उन्होंने पूरा किया और उनकी चोट से ब्राह्मण दुर्ग की प्राचीरें और नींव—वर्ण-व्यवस्था, देवभाषा संस्कृति जिसमें अपने भक्तों से देवता कर्त्तव्य-वचन बोलते मन्त्र कहते—हिल गई। बुद्ध बाल की खाल निकालनेवाले तार्किक न थे और न स्वप्निल दार्शनिक ही थे। उनके अनेक समसामयिक तर्क शक्ति तथा दार्शनिक वितन्वन में उनसे अधिक कुशल, मेधा में उनसे अधिक विचक्षण थे। परन्तु बुद्ध के पक्ष में एक विशेष बात थी। वे अपने तार्किक प्रतिस्पर्द्धियों के सामने भले प्रकार सिद्ध कर देते कि उनके तर्क का ठोस जीवन से कुछ सम्बन्ध नहीं, उनके चरण आकाश में हैं, उनके निष्कर्ष अनुभवजन्य नहीं। चतुर्दिक स्पर्श्य जगत् को दाहण यथायथा अस्पृश्य दार्शनिकता से कहीं समर्थ है, कहीं भयानक। बुद्ध का शीलाचार, असीम करुणा, निष्पक्ष प्रेम विरोध को तार-तार कर देते, विरोधों को विजित। सकल हित का भाव उन्हें संघ को उन सिद्धान्तों

पर संगठित करने के अर्थ साहस तथा अन्तर्दृष्टि देता जिनमें अभूतपूर्व समता और भ्रातृभाव विशिष्ट थे। ब्राह्मण-व्यवस्थित समाज के सर्वहारा दलितों ने संघ की नई व्यवस्था, अनजानी समता, का स्वाद पाया; उनका मानव परिमाण वैयक्तिक आकार, सहसा बढ़ गया। उस संघ की दीवारों के भीतर वे ऊँचे से ऊँचे उठ सकते थे। जो कपाट लाभानुर वर्ग के स्वार्थ से उनके लिए अब तक बन्द थे, इस नये क्षेत्र में अब सहसा खुल गये। चाण्डाल ब्राह्मण के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर बैठने लगा; निर्माण के मोक्ष-प्रतिपद पर अब वह समाह्वित था।

‘सुन्दर, सुवर्ण, सुदर्शन, सुमन’ बुद्ध ने अपने युग को अपने विनम्र भाषण तथा अकृत्रिम विनय से जीता। उन्होंने तर्क कम किया, लिखा कुछ नहीं, दर्शन की ग्रन्थि एक न बाँधी। परन्तु उनका निश्छल विकल प्रियदर्शी व्यक्तित्व जितना प्रभावजनक तब था उतना ही सदियों के बाद आज है और काल के ऊपर जो पदांक उन्होंने छोड़े, वे गहरे हैं, तूफानों की रेत से न भर सके, न भर सकेंगे।

२

सिकन्दर महान्

१

ग्रीस के उत्तर में मकदुनिया नाम का एक पहाड़ी मुल्क है जिसके निवासियों को दृप्त ग्रीक बर्बर कहते थे, प्रायः उसी भाँति जिस भाँति उन्होंने कुछ ही दिनों बाद रोमनों को कहा । दोनों ग्रीस के विजेता था । मकदुनिया का राजा फिलिप वीर बर्बर था । उसकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में ग्रीस की स्वतन्त्रता असाधारण प्रतिरोध थी । उसने उसे जाँतने के एकाध प्रबन्ध किए भी; परन्तु वह फिर भी विकल मनोरथ रहा । बार-बार वह प्रयत्न करता रहा, बार-बार प्रांकों का देश-प्रेम, उनकी मनस्विता उसे मार भगाती; परन्तु अवरोध का भी आखिर अन्त होता है, विशेषकर जब युद्ध स्वरक्षा में अपनी भूमि पर लड़ना पड़ता हो ।

फिलिप नगर-राज्यों का रन्ध्र जानता था, उसने पर प्रहार किया । रक्षा-प्राचीर बिखर गये, फिलिप विजयी हुआ ! सदियों का स्वतंत्र राष्ट्र आज विजित था । एथेन्स की विवसित मर्दित सभ्यता पर मकदुनिया की नग्न बवेरता अट्टहास कर उठी । परन्तु फिलिप भी अपने रक्त से सने ऐश्वर्य को देर तक न भोग सका । भतीजी के विवाह की रात, मन्दिरमन्द पर्यंकसेवा फिलिप का हृदय-द्वार किसी शत्रु ने छुरे की चोट से उन्मुक्त कर दिया ।

फिलिप का एक पुत्र था—सिकन्दर, कर्मठ, सुभट, महत्वाकांक्षी । बचपन

में ही उसे सुबोध बनाने के लिए पिता ने उसके लिए विद्वान् शिक्षक रखे थे। ग्रीस तब दर्शन का उस जगत में गुरु था। ग्रीस के अद्वितीय दार्शनिक शुकरात का प्रशिष्य अरस्तू तब वहाँ के चिन्तकों का नायक था। उसे ही फ़िलिप ने सिकन्दर के शिक्षण के अर्थ नियुक्त किया था। परन्तु अरस्तू के 'पालिटिक्स' और 'पोएटिक्स' सिकन्दर ने अखाड़े की धूल और घोड़े की पीठ पर मसल दिये। उसे बल्लम प्यारा था, भाला और तलवार।

पिता देश पर देश जीतता, पुत्र लुब्ध हो उठता। बाप जब विजय-यात्रा से लौटता बेठा विमन हो उसका स्वागत करता। अरस्तू ने पूछा एक दिन—तुम्हारी विरक्ति का कारण क्या है? यदि पिता इसी क्रम से देश-परदेश जीतते गए तो मेरे लिए क्या बच रहेगा? उत्तर मिला। निश्चय प्रातरालोक प्रखर था, मध्याह्न के आदित्य को तपना ही था।

दार्शनिक चकित था, मुग्ध, अन्तर्मुख। सौदागर घोड़े को लिए फ़िलिप के सामने घुटने टेके उसके गुन बखान रहा था। फ़िलिप के अनुभवों अश्वरक्षक उसके चतुर्दिक् खड़े थे। परन्तु घोड़ा किसी की पुचकार न सुनता था, किसी को बदन में हाथ लगाने न देता था। यकायक सोलह वर्ष का बालक उछला और घोड़े की पीठ पर जा बैठा। घोड़े ने बहुत उछल-कूद की, फ़िलिप भी संतुष्ट हो उठा; परन्तु बालक उस से मस न हुआ। रानों की पेशियाँ कस गई थीं, पीठ की उभर आई थीं—सवार की भी, घोड़े की भी। घोड़ा सहसा अलफ़ ले उड़ चला। थोड़ी देर में दोनों लौटे, दोनों पानी-पानी हो रहे थे। सवार थका, घोड़ा संयत। सवार सिकन्दर था, घोड़ा युकेफ़ेलस जो भेलम के तट पर, जहाँ सिकन्दर ने उसका स्मारक बनवाया।

सिकन्दर के स्वप्न का राज्य अत्यन्त विस्तृत था जगत् की सीमा तक, हिरेक्लिज और दियोनिसस की पहुँच के बाहर तक। गद्दी पर बैठते ही वह अपना स्वप्न सही करने के चिन्तन में लगा। ग्रीकों की सहायता भी उसे वांछनीय थी। एथेन्स पहुँच उसने सहायता माँगी। सहायता मिली, लोग ईरानी हमलों का बदला फेरने की उद्यत थे पर एक शर्त पर—सिकन्दर

उनके सामने अपने को 'भगवान का बेटा' नहीं कहेगा। उनकी स्वतन्त्र भावना अभी मरी न थी। उन्हें मजूर न था कि कोई मानवेतर विरुद्ध धारण कर उन पर शासन करे। और सिकन्दर ने शीघ्र यह शर्त मंजूर कर ली। उसकी महत्त्वकांक्षा की परिधि इस विरुद्ध तथा ग्रीस से कहीं बढ़ी थी।

मकदूनिया से उसने घोर कर्मा शुरू चुने और दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने के पूर्व उसने अपने मित्रों तथा सेनापतियों को एकत्र किया और उन्हें पिता के राजप्रासाद की विलास की वस्तुएँ तथा कोष का धन बाँट दिया। अपने पास केवल इतना रखा जितने में उसकी सेना की आवश्यकताएँ कम से कम मिस्र की विजय तक पूरी हो सकें। जो कृत्रु बच रहा उसे तक अपने पास न रख जब उसने किसी को दे डालना चाहा तब मित्र ने पूछा—सब तो दे डाला, अपने लिए क्या बचा रखोगे? भट उत्तर मिला—अपनी आशाएँ !

इन्हीं आशाओं को लिए वह विलक्षण दिग्विजयी विश्वविजय के अर्थ निकला। पहला लक्ष्य प्राचीन मिस्र था, फ़राओं का देश, पिरामिडों का, नील के मुहाने का, जिसने कभी मिदाम के क्रीट और एकाइल्स के ग्रीस को जीता था। मिस्र पहुँचने के मार्ग में समय अधिक लगा, उसे जीतने में कम। भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन) के तट पर सिकन्दरिया की नींव पड़ी। सिकन्दर की पहली विजय का यह पहला स्मारक था। तरुण का साहस आसमान चूमने लगा, पिरामिडों के उन्नत मस्तक झुक गए, सदियों से सोई लाशें ताबूतों में हिल उठीं !

सिकन्दर मिस्र जीत लौटा उत्तर पूर्व की ओर। तब मिथ्र और एशिया की जमीन मिली हुई थी। रास्ता खुशकी का ही था, लाल समुद्र का छिछला सोत बीच में पड़ता था जिसे तीन सदियों बाद रोमन ऐन्तनी घोड़े पर ही लाँघ गया था, मकदूनियन सिकन्दर भी उसे घोड़े पर ही लाँघ गया।

सामने संसार का सब से बड़ा साम्राज्य खड़ा था—इरानी (ईरानी) साम्राज्य—पूव में गन्धार की सीमा सिन्धु तट तक, पश्चिम में मेडिटरेनियन

तक । इस्समौ सम्राटों—कुरुष् (स० ५५८-३० ई० पू०) काम्बुजीय प्रथम, कुरुष् द्वितीय, काम्बुजीय द्वितीय (५३०-२२ ई० पू०) दारयबौष् प्रथम (५२२-४८६ ई० पू०) और क्षयार्ष (४८६-६५ ई० पू०)—ने उसे खड़ा किया और बढ़ाया था । इन सम्राटों के रिसाले यूरोप की दक्षिण-पूर्वी सीमा रौंदते रहे थे, उस पर चोटें करते रहे थे । क्षयार्ष का हमला तो केवल सौ वर्ष पहले हुआ था । थर्मोपोली की ग्रीक वीरता के किस्से सिकन्दर के अनेक योद्धाओं ने अपने पितामहों से सुने थे जो अपनी तरफ़ाई में उस मोर्चे पर लड़ चुके थे । कुरुष् और क्षयार्ष का वंशज दारयबौष् तृतीय का साम्राज्य बृद्धि के हाथी की भौंति शिथिल फैला पड़ा था ।

पहले तो उसने इस ग्रीक बर्बर को सरहद्दी लुटेरा समझा और सीमा प्रान्तीय क्षत्रपों को उससे निपट लेने को कह शूषा के महलों में जा सोया पर जब ग्रीक भालों की चोट से ईरानी ऐश्वर्य जमीन चूमने लगा तब दारयबौष् ने रात-दिन चलकर गौगामेला (अथवा अरबेला) के मैदान में डेरा डाला और दुश्मन की राह देखने लगा ।

सिकन्दर जब गौगामेला पहुँचा (३३१ ई० पू०), सूर्य कब का अस्त हो चुका था, सन्ध्या का अन्धकार घना हो चला था । ईरानी साम्राज्य की असंख्य सेना समुन्दर सी फैली पड़ी थी । मित्र सेनापति ने सिकन्दर के पास जाकर सलाह दी “शत्रु की सेना अनन्त है । इसी समय रात के अंधेरे में ही भट आक्रमण कर दें वरन् यदि कहीं इसी मुठ्ठी भर की ग्रीक सेना ने उसका विस्तार दिन के उजाले में देख लिया तो वह षण भर न टिक सकेगी, घर की राह लेगी ।” सिकन्दर ने रोष से कन्धे उछाल दिये, भाले के दण्ड पर दाहिनी मुठ्ठी कस गई, बाएँ को हवा में उठा उसने कहा—“सिकन्दर विजय चुरा नहीं सकता !” और घृणा से मुँह फेर लिया ।

चमकते दिन में वसन्त की सुनहरी धूप में उसने दारयबौष् की सेना पर आक्रमण किया । ग्रीक तीरन्दाजों ने सामने की ईरानी हरावल पर तीर

बरसाए और मकदूनियन रिसालों ने उसके दोनों बाजू रौंद डाले। हरावल दूटते ही दारयवौष् भागा। सिकन्दर ने उसका पीछा किया और जब उसे पकड़ा तब वह जख्मों से दम तोड़ रहा था। उसकी कन्याएँ—आर्तकामा (ऋतकामा) और स्तातिरा विजयी के हाथ लगीं। आर्तकामा भिन्न के शासक लालेमी को भेंट चढ़ी, स्तातिरा को विजेता ने अपनी सेवा में लिया। इससे पूरे सिकन्दर रुक्साना से विवाह कर चुका था और उससे भी पहले वह अतिथोक की वारवनिता तथा के लावण्य-पाश में बँध चुका था।

गौगामेला की विजय के पश्चात् ३३० ई० पू० में सिकन्दर ईरानी साम्राज्य की राजधानी पर्सिपोलिस पहुँचा। शूषा और एकबताना के महलों को ख्याति जगत्प्रसिद्ध थी परन्तु उससे कहीं बढ़कर ऐश्वर्य पर्सिपोलिस के राजप्रासाद का था जहाँ सदियों से सम्राटों ने दूर-दूर के वैभव एकत्र किए थे। सिन्ध का सुवर्ण, स्पेन की मदिरा, रोम के दास, ग्रीस की यवनियाँ, बाख्त्री की केसर, शहर मुंजान के गोमेद, ताम्रगर्णी के मोती, अफ्रीका के रत्न। उसी के भग्नप्राचीनों को लॉथ सिकन्दर ने राजप्रासाद के सामने डेरा डाला। प्राचीर की संचारिणी दीपशिखाएँ सदा के लिये तुम गई थीं; शहर पनाह के सन्त्री गायब थे।

ग्रीक स्कन्धासार में शराब के दौर चलने लगे, ताया का मंदिर विलास विजयी के उन्माद को छेड़-छेड़ जगाने लगा। यकायक उसे कुछ सूझी और वह उठ खड़ी हुई। उसने कहा—सिकन्दर दुनिया में पहले भी कुछ विजयी हुए हैं; पर उनकी तुलना तुमने क्या हो सकती है। मैं चाहती हूँ कि दुनिया कहे कि विजयी सिकन्दर के साथ एक नारी थी जिसने पर्सिपोलिस को आग लगा दी।' यह कह ताया उठी। उसने पास जलती मशाल उठा ली और राजभवन की ओर बढ़ी। इस सूफ ने सब को चमत्कृत कर दिया। सब ने मशालें ले ले उसका पीछा किया, स्वयं सिकन्दर ने भी।

पर्सिपोलिस के राजभवन से लाल लपटे निकलने लगीं। कई दिनों

हखमनी सम्राटों का वह विशाल प्रासाद जलता रहा। यही दशा शूषा और एकबताना नगरों को हुई। तब के जगत में शूषा और एकबताना की जोड़ के महल न थे। ग्रीकों की बबरता ने ईरानी सभ्यता के अद्भुत आधार नष्ट कर दिए।

बैक्ट्रिया (बारुत्री, २ वहीक) में दारयवौष् के पुत्रों ने शरण ली थी। सिकन्दर ने उसे जीता और कुछ काल ईरान के अन्य स्थान जीतने तथा चगावर्ने दबाने में उसने व्यतीत किया। फिर भारत जीतने की अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए वह ३२७ ई० पू० के वसन्त के अन्त में उधर बढ़ा। बर्फ गल चली थी, ऊँचाइयों लन्ध्य थीं। हिन्दूकुश की ऊँची दीवार खावक और काओशान के बर्फाले दरों को पारकर कोहे दामन की उर्वर उपत्यका में वह आ उतरा। उसके पास इस समय लगभग ५०,००० यूरोपीय सैनिक थे।

पहले उसने अपने पिछले आधार पुष्ट किए जिसमें आगे बढ़ते ही शत्रु उसका उनसे सम्बन्ध-विच्छेद न कर दे। इसी विचार से उसने पहले सीस्तान जीता था अब वह उधर से छुट्टी पाकर दक्षिणी अफगानिस्तान पर जा दूटा। यहाँ राजमागों की सन्धि पर सन्त्री रूप 'अराकोसियों' में सिकन्दरिया नामक उसने नगर बसाया। आज वहाँ कन्दहार खड़ा है। फिर वह अपनी विशाल सेना लिए काबुल घाटी में जा उतरा; परन्तु इसी समय उसे बारुत्री के विद्रोह की सूचना मिली। तत्काल सिकन्दर लौटा और हिन्दूकुश लॉथ आँधों की भौंति बारुत्री पर दूट पड़ा। वहाँ का विद्रोह शान्तकर वह फिर भारत की सीमा की ओर बढ़ा।

सिकन्दरिया से वह निकाइया पहुँचा, सिकन्दरिया और काबुल नदी के बीच, काबुल नदी की ओर। निकाइया में उसने अपनी विशाल सेना के दो भाग किए। एक को हेफ्रोस्टियन और पर्डिकस को दे उसने उन्हें सिन्धु पर पुल भेजने के अर्थ आगे भेजा, दूसरा स्वयं अपने साथ ले वह सीमाप्रान्त के शुद्ध-प्रिय

कबीलों और दुर्द्धर्ष जातियों के विरुद्ध बढ़ा। भारत की विजय इनकी विजय से पूर्व संभाव्य न थी।

सामने अलीसांग-कुनार की उर्वर घाटी थी जहाँ घोड़ों की सौदागर-जाति का निवास था जिसे ग्रीक ईरानी माध्यम से अस्पसीओई कहते थे। अस्पसीओई अपनी शान्त घाटी में कृषि कार्य करते थे और अपने पशुधन के लिए प्रसिद्ध थे। सिकन्दर ने कुछ टक्करों के बाद इस वीर जाति को परास्त कर दिया। उसने इस जाति के ४०,००० पुरुष वन्दी कर लिए और २,१०,००० वृषभ छीन लिए। इन वृषभों में से सुन्दर पशु छाँटकर उसने कृषि-कर्म के लिए मकदूनिया भेजे। इस घाटी के निवासी संभवतः प्रथम भारतीय थे जिनसे सिकन्दर की टक्कर हुई और एरियन कहता है कि इनके साथ युद्ध भयंकर हुआ क्योंकि पक्षों के कबीलों में यह भारतीय कबीला असाधारण लड़ाका था (४,२५)।

कोडे मोर की छाया में नीसा का पर्वती नगरराज्य था। अब सिकन्दर की चोट उसे सहनी पड़ी। यह गण-राज्य था जिसका शासन ३०० अभिजात-कुलीय करते थे और जिनका प्रधान अकूफ़िस् (अबोभ ?) था। इस नगर ने अस्पसीओई की कीर्ति पर कालिख पोत दी और बिना युद्ध के आक्रमक को आत्म-समर्पण कर दिया। वहाँ के कार्यों ने विजेता के साथ एक विचित्र संबंध स्थापित कर लिया। उन्होंने अपने को डियोनिसस् का वंशज बताया और प्रमाण में देश में फैलनेवाली 'आइवी' लता तथा समीप के मेरोस पर्वत की ओर संकेत किया। सिकन्दर को और चाहिए क्या था। अप्रत्याशित बन्धुत्व ने उसके स्वागत में अपनी स्वतंत्रता भेंट कर दी और उसकी सेना ने दम लेने के लिए कमर खोल दी। ग्रीकों में शराब के दौर चलने लगे, ओलिम्पिक के खेल होने लगे।

सिकन्दर आगे बढ़ा, अश्मकों की सेना उसकी राह रोके खड़ी थी— २०,००० अश्वारोही, ३०,००० पदाति, ३० गज। अश्मक अथवा अश्वक सम्भवतः अस्पसिओई की जाति की ही शाखा थे। मस्सग उनका

अजेय नगर समझा जाता था। उसके निर्माण में मनुष्य और प्रकृति दोनों का सम्मिलित सहकार था। दुर्ग की दुर्भेद्यता देख सिकन्दर की आशा-जता मुरझा चली। फिर भी उसने नगर पर घेरा डाल दिया था। वीर जूझ रहे थे, भीतर भी, बाहर भी। सहसा मस्सगियों का राजा आकस्मिक शर का लक्ष्य हुआ। ग्रीकों की गई हुई आशा लौट्टी। अब युद्ध व्यर्थ जान रानी ने आत्म-समर्पण कर दिया।

सिकन्दर की दृष्टि जो उसके सौन्दर्य पर पड़ी तो उसे ताया और रुक्साना विस्मृति हो गई। कहते हैं कि इस सम्बंध से विजेता को उस भारतीय रानी से सिकंदर नामक एक पुत्र भी हुआ परन्तु पता नहीं जस्टिन का यह वृत्तान्त (१२.७) कहाँ तक सत्य है।

प्रायः सात हजार सैनिक वृत्ति के योद्धा मस्सग के दुर्ग में अवरुद्ध थे। सिकन्दर ने ग्रीक देवताओं को साक्षी बनाकर उन्हें अभयदान दिया और उन्हें दुर्ग से बाहर निकल जाने को कहा। सैनिक निकल कर अपने मनोनीत स्थान की ओर चले। परन्तु अभी वे कुछ ही दूर गये थे कि सिकन्दर ने चुने हुए वीरों को लेकर उन पर छापा मारा। डियोडोरस लिखता है कि भारतीयों ने उच्च स्वर से इस वचन का प्रतिवाद किया, साथ ही उन देवताओं को पुकार-पुकारकर इस अनीति की ओर संकेत किया जिनकी शपथपूर्वक सिकंदर ने उन्हें मैत्री का वचन दिया था (१७, ८४)। सिकंदर ने तत्काल उत्तर दिया कि उसकी प्रतिज्ञा केवल उनको नगर से निकाल देने के सम्बंध में थी, कुछ शाश्वत मैत्री के लिए नहीं।

भारतीय सैनिकों पर फिर मार पड़ने लगी। अब वे भी अपनी रक्षा में सयत्न हो गए। अत्यधिक दृढ़ता से उन्होंने शत्रु का सामना किया। दुःसाहस और अद्भुत शौर्य से उन्होंने सिकंदर को चकित कर दिया। हत और आहतों का स्थान रिक्त न होने पाया। पुरुषों के गिरते ही नारियाँ शस्त्र ले आगे बढ़ती और रिक्तस्थान भर देतीं। ग्रीस में नारी की अभोगति एक सीमा तक पहुँच चुकी थी, और उन्हें उसके प्रति आदर न था। परन्तु इन वीर

भारतीय नारियों के आचरण ने होमरिक नारियों की उनके दिलों में याद जगा दी होगी। अन्त में विदेशियों की संख्या बहुलता से भारतीयों की पराजय निश्चित थी। डियोडोरस लिखता है कि इन वीरों ने "शालीन मृत्यु का आलिङ्गन किया जिसके बदले उन्हें अपमान भरा जीवन स्वीकार न था।" (१७, ८४)। यह घटना सिकन्दर के औदार्य को नहीं प्रगट करती; इसके विरुद्ध प्रीकों का आचरण युद्ध की नैतिकता के भी सर्वथा विरुद्ध है। प्लूटार्च ने सही कहा है (५६) कि यह घटना सिकन्दर के "सैनिक यश पर काले धब्बे" की भाँति है।

मस्सग के पतन के बाद यूसुफजई के अनेक दुर्ग सिकन्दर ने आसानी से सर कर लिए। इन्हीं में पुष्करावती (चरसद्दा) की प्राचीन नगरी भी थी। इस प्रकार सीमाप्रांत को जीत विजेता ने अपनी पार्ष्णि-रक्षा की व्यवस्था की और तदनंतर वह पञ्जाब की ओर बढ़ा।

पञ्जाब की दशा इस आक्रमण के अनुकूल पड़ी। पञ्जाब और सिन्ध में उस काल अनेक छोटे-छोटे राज्य और गण-तंत्र थे जिनकी अनवरत पारस्परिक कलह अकुशल महत्वाकांक्षी की भी विजय का निमंत्रण दे सकती थी, सिकन्दर तो आसधारण सेनानी था। इन राज्यों की नीति इतनी पृथिल हो गई थी और आपस की ईर्ष्या ने इतना असर किया कि इस समान विपत्ति में भी उन्होंने लाभ उठाने का अवसर देखा। तक्षशिला और अभिसार, मेलम और पिप्रम, कठ और अम्बष्ट, मालव और चन्द्रक और इनके अतिरिक्त अनेक अन्य राष्ट्र पञ्जाब की धूमि पर फैले पड़े थे। इनमें से अनेक सिकन्दर से मोर्चा लेने का तत्पर थे परन्तु अपनी शक्ति सघर्ष में संगठित कर उससे लड़ न सके। ऐसा भी न था कि सिकन्दर का आना कुछ आकस्मिक था। आखिर ईरानी साम्राज्य का पतन साधारण घटना न थी और यदि इतनी महत्वपूर्ण घटना के होते भी भारतीय राष्ट्र एक न हो सके तो किस बुद्धि से उन्होंने एकैक ईरान विजेता से लड़ने का साहस किया, यह विस्मय की बात है। इतना ही नहीं तक्षशिला के राजा आम्भी ने तो भारत का सिद्धार्थ ही जैसे उन्मुक्त कर

दिया। साथ ही पर्डिकस के अधीन अप्रगामी सेना की अनेक प्रकार से उसने सहायता भी की। सिन्धु तक पहुँचना खेल न था और यदि आम्भी न होता तो सिन्धु और सीमाप्रांत के बीच बसी जातियाँ पर्डिकस की यात्रा अत्यन्त कष्टप्रद कर देती। आम्भी की सहायता से ये जातियाँ पराजित हुईं और सिन्धुनद की चौड़ा जल-राशि पर नौकाओं पर पुल बँध गया।

३२६ ई० पू० के वसन्त में सिकन्दर सिन्धु तट पर पहुँचा। आम्भी और पर्डिकस ने नौकाओं का पुल बना रखा था। ओहिन्द (वर्तमान डंड, अटक के पास) के समीप सिकन्दर ने सिन्धु नद पार किया। आम्भी स्वागत के लिये बहुमूल्य भेट के साथ खड़ा था। वृद्ध सुन्दर भेड़ें और अत्यधिक मात्रा में चाँदी उसने विजेता को प्रदान की। सिकन्दर दूर दर्शी था, शत्रु के देश-में बाहरी प्राचारों का सिंहद्वार खोल देने के लिए, जो उद्यत हो उससे कर ग्रहण करना उसने उचित न समझा। उसने तक्षशिला के राजा को मूलधन की भाँति उपयोग करना उचित समझा और इसका परिणाम भी शीघ्र उसके अनुकूल हुआ। पञ्जाब के अन्दर उसके युद्धों में आम्भी ने उसकी निरन्तर सहायता की। जहाँ जहाँ कठिन मोर्चे आये वहाँ वहाँ इस आम्भी ने उन्हें आसान किया। सिकन्दर ने उसकी भेट से प्रसन्न होकर उसकी भेट की वस्तुएँ तो उसे लौटा ही दीं अपनी ओर से भी उसे उसने अनेक उपहार दिये। आम्भी उसकी इस सार्थक उदारता से और भुक्त गया और उसकी ओर से लड़ने के लिए उसने तक्षशिला से ५००० चुने वीर दिये जिनकी देश-द्रोहिता के ऊपर विदेशी विजेता भरोसा कर सकता था। इस तरह के आचरण संक्रामक होते हैं। जिस प्रकार बलिदान और उदारता के कृत्य वातावरण को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार कायरता तथा देश-द्रोहिता भी संक्रामक होती है। अभिसार (पूँच और नैशेरा के जिले) का राजा विदेशी से लोहा लेने के लिए तैयार खड़ा था, परन्तु आम्भी के आचरण ने उसे भी बुज्जदिल बना दिया। एक बार हिम्मत कर वह पौरव से मिल जाने के लिए भेलम की ओर बढ़ा, परन्तु उसकी राह में आम्भी आ अटक। विरोध व्यर्थ जान उसने आत्म-समर्पण कर

दिया। आसपास के अन्य राजाओं ने भी सिकन्दर के विरुद्ध लड़ना मुनासिब न समझा और उन्होंने भी उसे राह दे दी।

आगे भेलम थी, प्राचीन बितस्ता, जिसके तट पर प्राचीन काल में अनेक लक्ष्मी लड़ाइयाँ लड़ी जा चुकी थीं। ग्रीक सेना के सामने पार समीप के छोटे राज्य का स्वामी पौरव (पोरुष) अपनी छोटी सेना लिए खड़ा था। तक्षशिला से सिकंदर ने उससे कहला भेजा था कि वह भी आम्भी की भाँति आचरण करे और आकर उससे मिले। पौरव ने उसे उत्तर में कहला भेजा था कि पौरव उससे मिलेगा जरूर परन्तु तक्षशिला में नहीं अपने राज्य की सांभा पर, भेलम के मोर्चे पर। भेलम भरी हुई थी गहरी और फैली हुई। वर्षा ऋतु का जोर था। दिन-रात पानी बरसता था और नदी का वेग और विस्तार नित्य बढ़ते जा रहे थे। उसे पार करना आसान न था—विशेषकर जब पौरव का सा शत्रु अपनी सेना लिए उसके घाटों की रक्षा कर रहा हो। पर पार तो जाना ही था और परियामतः सिकन्दर और पौरव में पहले दाँव-पेचों का युद्ध शुरू हो गया, किस प्रकार दुश्मन की आँख बचाकर भेलम पार कर ले। यह सिकंदर की चिन्ता थी। उसने 'चोरी से पार उतरने' का निश्चय किया। ५ वर्ष पूर्व गौगामेला के मैदान में जब दारा की असंख्य ईरानी सेना पड़ी हुई थी और शाम के झुटपुटे में जब ग्रीक सेना वहाँ पहुँची तब अपने एक सेनापति के यह सुझाने पर कि अगर रात के अंधेरे में हमला न हुआ तो उनकी सेना दुश्मन की ताकत देख भाग खड़ी होगी उसने जवाब दिया था कि सिकंदर विजय चुराता नहीं लड़कर लेता है। परन्तु सिकंदर की सामरिक नीति में नैतिक एकता न थी जो उसकी सफलता के विशिष्ट कारणों में से एक है। नदी के बहाव के ऊपर धारा सहसा मुड़ गयी थी और दोनों तटों के बीच जल्ल से भरी भूमि थी। सिकंदर ने वहीं से नदी पार करने का निश्चय किया।

उधर सतर्क पौरव को भी गुमराह करना जरूरी था। अपने स्कन्धावारों में उसने आसपास के गाँव से अनादि लाने की आज्ञा दी। ग्रीक शिवरों में नाच

रंग होने लगे और शत्रु ने समझा कि सिकन्दर अब बरसात के बाद आगे बढ़ेगा। एक रात जब आसमान बादलों से ढक गया था मूसलधार पानी बरस रहा था, सिकन्दर ११००० चुने हुए सैनिकों को लेकर सहसा मनोनीत स्थान की ओर बढ़ा। कातेरस को उसने ग्रीक शिवरों में विशाल सेना के साथ पीछे छोड़ दिया। असंख्य मशालवाले खेल किसी को धोखे में डालने के लिए पर्याप्त थे। अपने और कातेरस के बीच चुनी हुई एक वीर सेना उसने मिलीगर के नेतृत्व में खड़ी की और कातेरस और मिलीगर दोनों को आज्ञा दी कि संकेत पाते ही वे भेलम पार करें और शत्रु पर दूट पड़ें। स्वयं उसने नदी के बीच द्वीप पर अपनी सेना उतार दी, और फिर नदी के पार। पौरव ने विद्युत् के प्रकाश में ऊँचे टोपवाले विदेशियों को नदी पार करते देखा, परन्तु वह निश्चय न कर सका कि वह स्वयं आगे बढ़कर दुश्मन की राह रोके या ग्रीक शिविर के प्रति सतर्क रहे। २००० सैनिकों और १२० रथों के साथ उसने नदी पार करते हुए सिकन्दर के विरुद्ध अपने पुत्र को भेजा। युवराज की सेना ग्रीकों ने कुचल दी। एक आदमी न लौटा—जो पौरव को बताता संहार की सूचना देता। पौरव ने परिस्थिति समझ ली और वह स्वयं सिकन्दर की ओर अपनी सेना लेकर बढ़ा। सम्भवतः उसके पास २०००० पैदल ३००० घुड़सवार १००० रथ १३०० हाथी थे। सिकन्दर चुपचाप शत्रु के पहुँचने की बाट देखता रहा। पौरव ने पलक मारते व्यूह रचना की सामने हरावज में हाथियों की दीवार खड़ी हुई और उनकी आड़ में बीच-बीच में पदाति सेना डटी। पार्श्वों पर अश्वरोही सेनायें खड़ी हुई और उनके सामने रथों की कतार लगी। करी के मैदान में शत्रु की यह व्यूह रचना देख सिकन्दर का दिल एक बार हिल गया। कर्टियस लिखता है (८, १४) कि शत्रु की शक्ति से प्रभावित होकर सिकन्दर के मुँह से निकल पड़ा—‘आज का मोर्चा खतरे का है वह मेरे साहस को ललकार रहा है। आज की लड़ाई बर्बर पशुओं और असाधारण लड़ाकों से है।’ परन्तु सिकन्दर को भय छू नहीं गया था और उसने अपनी घुड़सवार सेना के साथ सहसा पौरव के पार्श्व पर हमला किया और अनवरत ग्रीक

घुड़सवारों की बाढ़ें पार्श्व पर दृष्टी नहीं । सन्ध्या तक भारतीय सेना जमकर लड़ती रही परन्तु शत्रु की सेना की सख्या सिकन्दर के सैन्य संचालन की निपुणता और अपनी ही सामरिक नीति की त्रुटियाँ—सब विपरीत पड़ीं ।

पानी बरस चुका था । भूमि पर पैदल सेना के पैर टिक न पाते थे, फिसल-फिसल पड़ते थे । भारतीय धनुर्धर धनुष का एक सिरा भूमि में टिका शत्रु पर बाण-वर्षा करते थे, परन्तु वर्षा के कारण वे बेकार हो गये । भारतीय सेना की मुख्य शक्ति उसके रथ थे । प्रत्येक रथ में चार घोड़े जुते थे और उसमें छः सैनिक बैठते थे, दो डाल लिए, दो धनुर्धर और दो सारथी जो युद्ध के सघन होने पर रास छोड़ शत्रु पर बाण बरसाने लगते । परन्तु पानी बरसने से जो दल-दल हो गयी थी उसमें रथों के चक्के जा धँसे और उनकी शक्ति व्यर्थ हो गयी । ग्रास और विशेषकर भकदूनिया के रिसालों का हमला जगत प्रसिद्ध था और उनकी बाढ़ रोकना आसान न था । फिर शत्रु सेना का संचालन दुनिया का अभूतपूर्व सेनापति सिकन्दर कर रहा था—उस सेना का जिसमें योरप, अफ्रीका और एशिया तीन महाद्वीपों के चुने हुए वीर थे । शत्रु संख्या वैसे भी बड़ी थी और सिकन्दर का संकेत पाकर जब कातेरस और मिलीगर भी नदी पारकर पौरव पर दृष्टे तब तो वह और भी बढ़ गयी । भारतीयों की व्यूह रचना इतनी शिथिल, इतनी पुरानी थी, उसके हाथी और रथ इतने शिथिलगति थे कि उनका ग्रीक रिसालों की फुर्ती के साथ कोई मुकाबिला न था । पार्श्व पर दृष्टे हुए ग्रीक घुड़सवारों को संहालने के लिए जब भारतीय सेना उधर मुँह करती ग्रीक सहसा घूमकर उसकी चन्दावल तोड़ देते और जब तक वह उधर की ओर फिरती तब तक सिकन्दर हरातल पर दृष्ट उसे छिन्न-भिन्न कर देता । अन्न में सिकन्दर की आज्ञा ने उसके चुने हुए वीरों ने वह काम किया जो निश्चय ही मृत्यु है । हजारों ग्रीक सैनिक फरसा ले लेकर हाथियों पर दृष्ट पड़े और उनकी सडें काट डालीं । कटियस लिखता है कि हाथी 'भेड़ों की तरह' भभर कर भागे और शत्रु से कहीं अधिक अपनी सेना को क्षति पहुँचाई । चिंघाड़ते और पैदल सेना को रौंदते उन्होंने अपनी ही सेना में भगदड़ मचा दी । सबनाश हो जाने

पर भी पौरव ने मैदान न छोड़ा। शरीर उसका चोटों से विंधा था; परन्तु आम्भी ने जिस समय उससे सिकन्दर का सन्देश कहा, एक बार फिर उसकी धृष्टता को दंडित करने के लिए उसकी और बढ़ा। जय बन्दी कर पौरव सिकन्दर के सामने लाया गया तब उसके यह पूछने पर कि उसके साथ विजेता कैसा व्यवहार करे उसने अपना प्रसिद्ध उत्तर दिया—“जैसा राजा राजा के साथ करता है।”

सिकन्दर वीर था और यह उत्तर सुनकर उसकी उदारता जाग पड़ी। उसने पौरव को उसका राज्य लौटा दिया। इतिहासकार स्वाभाविक ही पूछेगा—क्या इस उदार कृत्य का कारण शुद्ध सैनिक भावना ही थी? क्या सचमुच शत्रु के वीर कृत्यों ने पहले भी सिकन्दर के मर्म का स्पर्श किया था? मस्सग का उदाहरण क्या इसके विरुद्ध नहीं जाता? आम्भी का सहयोग अपने उदार आचरण के परिणाम में सिकन्दर को अब तक मिलता रहा था। भेलम के तट तक जो उसकी सेना कुछ मोर्चों के बाद बढ़ पायी थी वह अधिकतर आम्भी की सहायता और सक्रिय अध्यवसाय का ही फल था। भेलम की लड़ाई ने सिकन्दर का स्वप्न कुछ सीमा तक तोड़ दिया। हिरेक्लीज, डिपोनिसेस्, और सेमिरेमिस् की महत्वाकांक्षाओं का अतिक्रमण निश्चय असंभव हो जायगा यदि पौरव के से शत्रु उसकी राह रोकते रहे—यह भावना करीं मैदान के इस मोर्चे के बाद सिकन्दर के दिल में निरन्तर घर करने लगी। और पौरव का सा यदि उसे मित्र मिल गया तो इस अनजाने वीर देश में उसका कार्य कितना सरल हो जायगा, यह उस मित्त और ईरान के विजेता से छिपा न था। इस सूक्ष्म सत्य पर उसने उदारता का आवरण रक्खा और दुर्द्धर्ष शत्रु को परम मित्र बना लिया। अपने देश को शत्रु के हवाले करने में पंजाब की वीर जातियों के विरुद्ध पथ-प्रदर्शन करने में आम्भी तथा पौरव में होड़ सी लग गयी। संभव है और सही है कि शौर्य, निर्भक्ता और शालीनता में पौरव आम्भी को तुलना में बहुत ऊँचा था। परन्तु निःसन्देह अपने आचरणों से प्रतिफलित परिणाम में भी वह तच्छशिला-पति से किसी प्रकार कम न था। विजेता के प्रसाद तथा

अनुरक्ति के अर्थ उसने प्रायः उन सारे साधनों का प्रयोग किया जिनका उपयोग आम्भी ने किया था। कुछ काल तक आगे की लड़ाई पौरव की सहायता से लड़ी गयी। देश-प्रेम की भावना ने जब-जब सजग होकर सिकन्दर के विरुद्ध कठिन मोर्चा बौंधा तब-तब सिकन्दर ने पौरव का उपयोग किया और पौरव ने अपनी शक्ति, सूझ और वीरता से उसे तोड़ने में उसकी मदद की। तात्कालीन भारतीय राजनीतिक आचरण की संभवतः यह विडम्बना थी कि जब नेता शत्रु से पराजित हो गया तब उसने उसकी ओर से अपने ही देश के रन्ध्रों पर प्रहार किया। पौरव ने जिस शत्रु प्रसादन नीति का अब अवलम्बन किया था उसमें उसका पराक्रम डूब गया।

करों के मैदान में अपनी असाधारण विजय के स्मारक स्वरूप सिकन्दर ने निकाडपा नाम का नगर बसाया। थोड़ी ही दूर पर केलेला नाम का एक और नगर उस स्थान पर खड़ा हुआ जहाँ इसी नाम का सिकन्दर का स्वामि-भक्त घोड़ा मरा था। यह कह देना यहाँ पर उचित होगा कि यह विजय कुछ विशेष बड़ी न थी; क्योंकि भेलन का मोर्चा आखिर दो नितान्त असम शक्तियों के बीच लड़ा गया था। परन्तु सिकन्दर के पूर्वाभिमुख प्रगति के सहायक स्वरूप सचमुच यह महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

ग्रीक देवताओं को बलि चढ़ा सिकन्दर आगे बढ़ा। गलाउसाई जाति अपने अनेक नगरों में निवास करती थी। प्रायः उनके ३७ नगर सिकन्दर ने जीते और इन नगरों में अनेकों की जनसंख्या १०००० से ऊपर थी और इनमें से किसी की भी ५००० से कम न थी। सिकन्दर इन को जीत इतकी सम्पत्ति की प्रभूत लूट से अभी सन्तुष्ट भी न हुआ था कि सहसा उसे दुःसम्वाद मिले। पश्चिमी पंजाब और सीमा प्रान्त की ओर विद्रोह के बादल उमड़ आये थे और सिन्धुनद का पश्चिमी भूमि के शासक निकेतर की हत्या हो गयी थी। खोरनस के शासक सिसिकोहस (शशि गुप्त) ने भी मदद के लिए हरकारे पर हरकारे भेजे; सिकन्दर आगत विपत्ति से सन्त्रस्त हो उठा। दुश्मनों का देश, आगे युद्ध का मोर्चा, विद्रोह के उपद्रव। बड़े से बड़े वीर के हृदय को

प्रास से भर सकते थे। सिकन्दर उद्विग्न हो उठा। यदि ओरनस के समीप का शासक तिरियास्व और तक्षशिला का रेजिडेन्ट फिलिप शीघ्र उधर की ओर न पहुँच जाते तो सिकन्दर जानता था कि उसके दुःसाहस का क्या परिणाम होता। इन शासकों की स्फूर्ति ने मकदूनिया की सत्ता को कुछ काल के लिए खतरे से बचा लिया। वास्तव में अभिसार का राजा, जैसा पहले कहा जा चुका है और पश्चिमी पंजाब की जनता ने विदेशी आधिपत्य कभी स्वीकार न किया था और अभिसार ने अपने कन्धों से जुआ फेंके देने का उपक्रम किया। काश आम्भी और पौरव भी अभिसार के आचरण से आकृष्ट हुए होते! अस्तु, ये से से आई कुमक ने अभिसार नरेश को फिर सवेत कर दिया और सिकन्दर को चिनाव की ओर बढ़ने का अवसर मिला। उससे पहले पौरव के भतीजे एक दूसरे पौरव के विरुद्ध मोर्चा था। अपने बंधु के विरुद्ध लड़कर पौरव ने उसका राज्य ले लिया, सिकन्दर ने खुशी-खुशी इस भाग का शासन भी पौरव महान् को सौंप दिया।

रावी पार कर ३२६ ई० पू० के अन्त में अरिष्टों का गढ़ पिम्प्रम जीता और कठों के देश की ओर बढ़ा। साहस और युद्ध की कला में कठ जाति लासानी थी। इस प्राचीन जाति ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में कभी सक्रिय योग दिया था। कठोपनिषद् उसी जाति की कीर्ति पताका है। सिकन्दर को अब इन्हीं से लोहा लेना था। स्ट्रेबो लिखता है कि कठ शरीर के सौन्दर्य का बड़ा आदर करते थे और जाति के सबसे सुन्दर पुरुष को वे अपना राजा चुनते थे। उनका राजा कुलागत न होता था। उनके शासन विधान के अनुसार देश में कोई असुन्दर व्यक्ति रह भी नहीं सकता था, क्योंकि प्रत्येक नव जात शिशु को उसके जन्म के दो महीने बाद सरकारी अधिकारी भली-भाँति देखकर निश्चित करते थे कि उसका शारीरिक सौन्दर्य उसे जीवित रहने का अधिकारी बनाता है या नहीं।

इस जाति के नर नारी अपने पत्नी-पति आप चुनते थे और नारियाँ पति के मरने के बाद उसके शव के साथ सती होती थी। स्ट्रेबो का यह उल्लेख

ऐतिहासिक युग में भारतीय सती प्रथा का पहला प्रमाण है। आश्चर्य है कि इतनी उदात्त और नारी को इतनी स्वच्छन्दता प्रदान करनेवाली जाति ही इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य क्योंकर भूल बैठी और सती प्रथा के अमानुषिक तथा निर्दय विधान को उसने कैसे सम्मत माना। सिकन्दर ने उनके मुख्य दुर्ग संगल पर घेरा डाला। शक्ति और शौर्य के प्रतीक कठों ने सिकन्दर का वीरता से सामना किया और एक बार तो ग्रीकों की हालत इतनी नाजुक हो गयी कि सिकन्दर को सहायता के लिए पौरव को बुलाना पड़ा। पौरव जो रावी के तट पर ही रुक गया था ५००० चुने कुमक लिये वीर स्वदेश वासियों के पराभव के लिए आ पहुँचा। सिकन्दर इस प्रबल प्रतिरोध से क्षुब्ध जला बैठा था। इस छोटे दुर्ग ने उसकी सारी सैन्य वृत्ति की ताकत नाप दी थी और अब नयी सहायता मिल जाने पर उसने संगल पर फिर धावा किया। संगल को अपने प्रतिरोध तथा वीरता का पुरस्कार मिला। उसकी ईंट से ईंट बजा दी गयी और उसे गिराकर उसका चिन्ह तक मिटा दिया गया। १७००० भारतीय सैनिक इस युद्ध में काम आये। इतने हतों और अनन्त आहतों की सख्या से प्रगट है कि यह मोर्चा कितना कठिन रहा होगा। परन्तु अब सिकन्दर भाग्य से खेल नहीं सकता था इसलिए उसने आगे बढ़ने से पहले पीछे के नगरों को सँहाल लेना टोक समझा। उनका उचित प्रबन्ध कर वह चिनाव की ओर बढ़ा। चिनाव के पार पूर्व में वह सिकन्दर का अभिलषित स्वप्न देश था जहाँ विजेता मकदूनिया और ग्रीस का झण्डा गाड़ना चाहता था, जिसकी आशा में योरप के दक्षिण पूर्वी भागों के सामरिक इतनी दूर का रास्ता है तय कर आये थे। परन्तु आगे की कहानी सिकन्दर के पराभव की है।

३

भेलम तट का मोर्चा ग्रीक सेना को अभी भूला न था। निकेतन का नाश अभी उनकी स्मृति में ताजा था और कठों की वीरता उनकी उदासीनता की विषय न थी। ग्रीक सेना की गति रुक गयी। चिनाव के तट पर ग्रीक

सैनिकों ने अपने हथियार डाल दिये। इतिहासकार स्वाभाविक ही पूछेगा क्यों? जिस सेना ने मिस्र को दिन छिपने से पूर्व जीत लिया था, जिसने सीरिया और पार्थिया को कमर पलक मारते तोड़ दी थी, जिसकी गति हखमनी साम्राज्य की असंख्य सेना भी न रोक सकी थी, हिन्दूकुश की ऊँची दीवार भी जिसका अवरोध न कर सकी थी, उसने सहसा चिनाव के तट पर अपने हथियार क्यों डाल दिये। सिकन्दर सा शूर-विजेता उनका सचालक था। सिल्यूकस्, कातेरस्, पर्टिकस् उनके नायक थे। थेस की कुमक अभी ताजी थी और पौरव का सा विषम लड़ाका उनका पथ प्रदर्शक सहायक था, फिर किस कारण उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया! रण वाद्य की गम्भीर ध्वनि, सिकन्दर की उत्साह वर्धक ललकार, स्वप्न देश की विजय की महत्वाकांक्षा कुछ भी प्रोकों को न हिला सकी। उसने उन सबका उत्तर केवल आँसुओं से दिया (प्लूटार्च, ६२)। ग्रीक लेखकों और आधुनिक विदेशी इतिहासकारों का कहना है कि ग्रीक सैनिक अब तक के निरन्तर युद्धों से थक गये थे, व्याधियों से वे आक्रान्त थे, घर का याद उन्हें बार-बार सताती थी, उनके बदन पर वस्त्र न थे, उनके मित्र हाल के युद्धों में काम आ चुके थे, गृह के बन्धु स्वदेश में विलख रहे थे और नित्य यातायात की बढ़ती हुई असुविधाओं ने बीच का मार्ग और कठिन कर दिया था। सही, ग्रीक सेना युद्धों से थक गयी थी, व्याधि ग्रस्त थी, उसे घर की याद सताती थी परन्तु उनकी संख्या शक्ति क्या सचमुच घट गयी थी और क्या दर असल वे निरस्त और निरवसन थे। परसिपोलिस की लूट और खुविस्तृत ईरानी साम्राज्य के वैभव से उन्हें क्या अपने तन ढकने के लिए वस्त्र भी न प्राप्त हो सके? उपहार की सामग्रियों से ग्रीक शिविर भरे होते थे उनकी धारा-सार वर्षा से मकदूनिया और ग्रीस के नगर ससम्पन्न हो उठे थे। फिर क्या सचमुच सेना की दरिद्रता ही इस प्रतिक्रिया का कारण थी! इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अशों में इन वक्तव्यों में सत्यता थी। परन्तु उसकी सक्रियता का कारण सम्भवतः अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। दिन-दिन पूरव की ओर बढ़ती ग्रीक सेना को मगध के साम्राज्य की शक्ति की सूचना

मिलती और उसके सम्बन्ध में निरन्तर अफवाहों से वह आतंकित होने लगी, पौरव और कठों के मोर्चे ग्रीकों को अभी भूले न थे और उनकी सत्ता प्राचो के मगध साम्राज्य के सामने कितनी नगण्य थी यह कहने की आवश्यकता नहीं। जिस पौरव को उन्होंने इतनी कठिनाई से परास्त किया था उसकी सेना सम्भवतः केवल २०००० थी; परन्तु जिसकी चर्चा अब वे इधर सुनने लगे थे उस मगध के नन्दराज की सैन्य संख्या लाखों में थी। उस नन्दराज की सेना के सम्बन्ध में उड़नेवाली अफवाहों का ग्रीक लेखकों ने काफ़ी वर्णन किया है। कर्टियस ने मगध नाम के किसी व्यक्ति द्वारा लाये सन्देश का उद्धरण दिया है उसमें पूर्व में गंगा के तट पर बसनेवाली दो वीर जातियों का नाम उल्लेख हुआ है। इन गंगरिदर्द और प्रसिआई (प्राची) जातियों का राजा अग्रनिस (नन्द) था जिसके केवल सीमा की रक्षा के लिए २०००० घुड़सवार २००००० पैदल, २००० रथ तथा ३००० गज थे (६, २) प्लूटार्च ने भी इस वक्तव्य की प्रायः पुष्टि की और पूर्वी सम्राट् की सेना की संख्या का जो उसने उल्लेख किया है वह कर्टियस की संख्या से भी बड़ी है। उसके द्वारा उल्लिखित ८०००० घुड़सवार, २००००० पैदल ८००० रथ और ६००० विशाल गज जिस आतंक को मूर्तिमान करते थे उसकी अवहेलना क्या ग्रीक सैनिक सचमुच कर सकते थे ? इन संख्याओं को हम नितान्त कल्पित कहकर भी उड़ा नहीं सकते। क्योंकि हमें प्रामाणिक प्रमाण इस सत्य के उपलब्ध हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने कुछ ही वर्षों बाद अपनी सेना की संख्या ६००००० कर ली थी और उससे प्रत्युपहार में पाये ५०० गजों से सिल्यूकस् ने अपने प्रतिद्वन्द्वी का निपटारा कर दिया था। कर्टियस, प्लूटार्च और एरियन के सम्मिलित प्रमाण का प्रतिबाद नहीं किया जा सकता। एरियन तो स्पष्टतः कहता है कि “सेना का दिल बैठ चला.....”, वह रुदन और विलाप करने लगी और अन्त में उसने एलान कर दिया कि स्वयं सिकन्दर ही क्यों न उनका संचालन करे वह आगे नहीं बढ़ेगा (५, २५)।” इस पर सिकन्दर ने उनकी शक्ति और वीरता की अपील की और अफवाहों पर विश्वास न करने के लिए प्रोत्साहित किया।

उसने कहा—“सैनिकों में इस बात से अनभिज्ञ नहीं हूँ कि इस देश के निवासियों ने तुम्हारे भय को बढ़ाने और हृदय को त्रास से मरने के लिए अनेक प्रकार की झूठी अफवाहें उड़ा रखी ही हैं; परन्तु इन मिथ्या के आविष्कारों का तुम्हारा अनुभव भी नया नहीं है। (कर्टियस ६, २)।” परन्तु उसके व्याख्यान का कोई अर्थ न हुआ स्वयं कोयनस् ने सिकन्दर के सामने ही कह दिया कि “यद्यपि बर्बरों ने सत्य का अतिरंजन कर दिया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि खबरों में सत्यता का अंश बहुत काफी है (वही ६, ३)।” फिर तो उत्तेजित होकर सिकन्दर ने अन्तिम पाँसा फेंका, उसने चिल्लाकर कहा—“नदियों के खतरे में मुझे डाल दो भीमकाय हाथियों के भीषण क्रोध के सामने मुझे फेंक दो और उन लुब्ध बर्बर जातियों के प्रतिशोध का मुझे एक मात्र लक्ष्य बना दो जिनके त्रास से तुम्हारे हृदय भर रहे हैं, मैं उनको ढूँढ़ लूँगा जो इस विपत्ति में मेरे पीछे चलेंगे, (वही ६, २)। परन्तु मकदूनिया और ग्रीक के सैनिकों को भारतियों की वीरता की कहानी कुछ सुनानी न थी, उनकी शक्ति और पौरुष का उनको अनुभव हो चुका था और अपने सेनापति की जान खतरे में डाल देनेवाली चुनौती भी हिला न सकी। और तब झल्लाये हुए उसने कहा—“मेरी अपील निश्चय बहरे कानों पर पड़ी है। मैंने कृतघ्न और भय से कुचले हुए हृदयों को उत्साहित करने का प्रयत्न किया है” (वही) हार कर—उसे सेना की बात माननी पड़ी और उसने उसे लौटने का हुक्म दे दिया। यहाँ पर यह बात स्पष्टतः कह देनी उचित है कि सिकन्दर भय से परे था। डर उसे छू तक न गया था और जहाँ तक व्यक्तिगत खतरे का सवाल है वह हमेशा उसमें कूदने को तैयार रहता था। लड़ाइयों में अपनी रक्षा की सुविधाओं पर वह कभी विचार न करता था और कठिन से कठिन मोर्चे पर वह डटा रहता था। इसे मानना होगा कि यद्यपि उसकी सेना पर आतंक छा गया था और इस आतंक से घबराकर उसने आगे बढ़ने से इन्कार किया था, परन्तु सिकन्दर स्वयं उससे डरनेवाला व्यक्ति न था। वह केवल इस कारण लौटा कि सेना के

अभाव में उसका आगे बढ़ना असम्भव था। और उसने उसे लौटने की इजाजत दे दी।

X

X

X

अपने पूर्वाभिमुख आक्रमण की सीमा निर्धारित करने के लिए उसने चिनाव के तट पर ग्रीक देवताओं के नाम पर पत्थर की बारह विशाल वेदिकायें बनवायीं। जब इनका निर्माण पूरा हो गया तब सिकन्दर ने घर लौटने का प्रबन्ध निश्चित किया।

३२६ ई० पू० के सितम्बर में वह लौटा। रावी के तट पर पहुँचकर उसने पञ्जाब के विविध विजित भागों को अपने मित्र पौरव के अधीन किया और पौरव अब रावा और चिनाव के बीच की सारी भूमि का शासक हो गया। तक्षशिला के आम्भी को उसने सिन्धु और रावी के बीच के द्राच का स्वामी बनाया और अभिसार के राजा की शासन सीमायें हजारों जिले और काश्मीर तक विस्तृत कीं। स्पष्ट है कि यह अभिसार सम्बन्धी प्रबन्ध नीति-परक था। सिकन्दर के पञ्जाब आक्रमण के आरम्भ में ही अभिसार ने जो रुख दिखाया था वह आक्रमक के लिए विशेष सन्तोष का न था और जब सिकन्दर कठों के मोर्चे पर था तब पश्चिमी पञ्जाब में जो विद्रोह के बादल खड़े हो गये थे और ग्रीक शासक निकेतर की हत्या हुई थी उसमें निःसन्देह अभिसार का सक्रिय योग था। सिकन्दर सम्भवतः जानता था कि उसके अभाव में मृत्यु का हँसकर आलिङ्गन करनेवाले भारतीयों के सामने उसके शासक एक दिन न टिक सकेंगे; अतः उसने नीति और सद्भाव से काम लेना अधिक उचित समझा और अभिसार के राजा को स्थानीय शासन का भार दे, उसने उसे अभितृप्त किया। इस प्रकार सीमा-प्रान्त और काश्मीर से चिनाव तक का सारा प्रदेश वस्तुतः भारतीयों के हाथ में आ गया। परन्तु आखिर सिकन्दर ने यह सब क्यों किया था? इतने खतरे क्यों भेले थे? अगर इस बात का कोई वास्तविक परिणाम न हुआ। इस कारण अपनी विजय को जीवित रखने के लिए और

भारतीय शासकों पर नियन्त्रण रखने और कम से कम उन पर बाह्य आधिपत्य कायम रखने के लिए उसने कुछ ग्रीक शासक नियुक्त किये और स्थान-स्थान पर दुर्गों और नगरों में ग्रीक सेना नियुक्त की। इस नियुक्ति का उद्देश्य भारतीयों पर नियन्त्रण रखना था जिससे कोई साहसी सामरिक उसके किये धरे पर पानी न फेर दे। सिकन्दर को जो भय था निःसन्देह वही हुआ। परन्तु उसकी कहानी दूसरी है। यहाँ तो हम उसके लौटने की योजना पर विचार करेंगे।

रावी के तट पर पहुँचकर और ऊपर बताया प्रबन्ध सम्पन्न कर सिकन्दर ने नदी के रास्ते सिन्धु से होकर लौटने का निश्चय किया। परन्तु उससे पहले पास की जातियों को हराना आवश्यक था जिससे आकस्मिक, अप्रत्याशित विपत्तियों से उसकी रक्षा हो सके। समीप की नमक की पहाड़ियों में सौभूति राज करता था और स्ट्रेबो लिखता है कि यहाँ की जनता वीर थी। वहाँ के कुत्ते शेरों से लड़ते थे और सिकन्दर ने स्वयं यहाँ कुत्ते और सिंह का युद्ध देखा था। जनता सद्बिधान और सुरीतियों से व्यवस्थित शासन में रहती थी, और कठों की भौति ही सौन्दर्य की उपासक थी। उस भाग के रहनेवाले चिकित्सा-शास्त्र को सारी विद्याओं के ऊपर रखते थे और कठों की ही भौति अस्वास्थ्य और असुन्दर शिशु को जीने का उनके यहाँ भी अधिकार न था। उनका पराभव कर सिकन्दर नौकाओं के बेड़े पर चला। दोनों तटों पर उसकी रक्षक-सेना हेफ़ैस्टियन और क्रातरस के नेतृत्व में पैदल चली और रावी और व्यास के संगम तक चलती गयी। आगे शिबियों का निवास था और उनके पक्षों में अग्रभ्रेणियों (अगलस्सियों) का। अपनी सेना लिये दोनों सिकन्दर की राह रोकने के लिए तैयार खड़े थे। शिबियों के आचरण ने तो ग्रीकों को चकित कर दिया क्योंकि हिंस्र पशुओं का चर्म पहने लाठी लेकर अभी तक कोई सेना उनसे लड़ने न आई थी। इन ४०००० लाठीधारियों की सेना पर विचार करते हुए इतिहासकार निश्चय उनकी निर्भीकता और साहस को सराहेगा। स्पष्ट है कि इस जाति की सारी जनता नवागत शत्रु से जूझने को उठ खड़ी

हुई थी। यह बात विशेष महत्व की नहीं है और न समझदार चिन्तक इस प्रश्न का उत्तर देने का उपक्रम करता है कि किस 'आसानी से' ग्रीकों ने शिबियों को पराभव किया। इससे केवल एक बात सिद्ध है कि शिबि वीर थे और निरस्त्र होते हुए भी वे विदेशी आक्रमण के तेवर न सह सके। अग्र-श्रेणियों के साथ तो सिकन्दर का खुलकर युद्ध हुआ और अपनी राजधानी की प्राचीरों से उन्होंने अनेक बार सिकन्दर के आक्रमणों को विमुख कर दिया जिससे उसे गहरी हानि उठानी पड़ी। कटियस लिखता है कि इन वीरकर्मा अग्र श्रेणियों ने अन्त में अपने सत्यानाश को निकट जान "अपने घरों में आग लगा दी और अपने बच्चों और पत्नियों के साथ उसकी लपटों में वे जल मरे" (६,४)। प्रमाणतः यह पश्चात्कालीन राजपूती 'जौहर' का पहला उदाहरण था।

आगे का मोर्चा अत्यन्त कठिन था। रावी और चिनाव के तटों पर और द्राव में प्राचीन काल से मालव और क्षुद्रक नामक दो वीर जातियों का निवास था जिनके गण राज्य उस काल और उस भूमि में विशिष्ट माने जाते थे। इन्हीं मालवों और क्षुद्रकों से अब सिकन्दर का सामना था। फेलम के युद्ध से कहीं महत्वपूर्ण आगे का संघर्ष था क्योंकि मालव और क्षुद्रक उस भूखंड में भारतीयों में सबसे अधिक दिलेर और वीरकर्मा थे। मालव और क्षुद्रक सदियों से परस्पर शत्रु थे और उनके बीच पारस्परिक रक्त-प्रतिशोध की भावना निरन्तर जागरूक रहती थी। परन्तु इस विदेशी आक्रमण के समान भय के उपास्थित होने पर दोनों ने एक बार, सम्भवतः केवल एक बार बुद्धि और नीति से काम लेने का निश्चय किया। अपनी चिरकालिक शत्रुता को भूल और उस पर विजय पाने के लिए उन्होंने तत्काल दोनों जातियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के उपक्रम किये। उन्होंने घोषणा की कि दोनों जातियों के कुमार-कुमारिकायें एक दूसरे को वरेंगे। शीघ्र इसकी व्यवस्था हो गयी यद्यपि भाग्य उनके विपरीत था। अपनी नारियों और बच्चों को सुरक्षित नगर-दुर्गों में भेज वे शत्रु की प्रतीक्षा में जा डटे। दोनों जातियों की सम्मिलित सेना—६००००

पैदल १०००० घुड़सवार ६०० रथ—कुछ कम न थी और यद्यपि दोनों सेनायें मिल न सकीं, परन्तु ग्रीक सैनिकों ने जो कुछ देखा उतने से ही वे सन्त्रस्त हो उठे कि उन्होंने व्यास के तट की कहानी वहाँ भी दुहरा दी। “विद्रोह भरे शब्दों में वे अपने राजा की अवमानना करने लगे” (कर्टियस, ६,४)। उन्होंने कहा कि उनके सेनापति ने जान पड़ता है कि युद्ध बन्द नहीं किया केवल उसके मोर्चे बदल दिये हैं। इस बार की विपत्ति व्यास तट की विपत्ति से कहीं बढ़कर थी। वहाँ व्यास को पारकर दूसरों पर आक्रमण करना था। यहाँ युद्ध से विमुख घर को लौटते हुए ग्रीकों की राह रुकी थी, और राह रोकी थी एक ऐसे शत्रु ने जो साहस, वीरता और शत्रुता के कृत्यों से अपना प्रतीक आप था। सिकन्दर सामने की विपत्ति से कुछ चिन्तित तो हो उठा था। अपनी सेना के इस आचरण ने उसे और विपत्ति में डाल दिया। कोई चारा न देख उसने अपनी सेना एकत्र की और विपन्न के सामन उससे अपील की; “मुझे मान और मर्यादा के साथ लौटने दो भगोड़े की तरह भागने को विवश न करो” (वही)। सेना स्वयं सामने की विपत्ति से न अनभिज्ञ थी न उदासीन और उसने समझा कि बिना युद्ध किये निकल जाना सम्भव नहीं। इस बीच सिकन्दर ने एक और युक्ति सोची। उसने कुछ ऐसे कार्य किये जिससे मालव और क्षुद्रक अध्यवसाय में कुछ शिथिल पड़ गये। क्षुद्रक और मालव सेनायें अभी मिल नहीं पायी थीं और मालव सैनिक अभी अपने खेतों में काम ही कर रहे थे कि विजेता ने सहसा उन पर आक्रमण किया। यह जानी हुई बात है कि मालव-क्षुद्रक एक हाथ में तलवार और दूसरे में हँसिया लेकर खेत में पैठता था। परन्तु एरियन का वक्तव्य है कि सिकन्दर ने जब उन पर खेतों में आक्रमण किया तब वे निहत्थे थे। (६६) कहाँ तक सचमुच वे निहत्थे थे ? परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि आक्रमण करने अथवा उससे लोहा लेने के लिए जिस सैन्य संगठन की आवश्यकता हुआ करती है वह उनमें न थी। सिकन्दर ने एकाएक हमला कर उनकी एक बड़ी संख्या काट डाली क्योंकि उसने समझा कि सम्भवतः वध की आशंका से सन्त्रस्त होकर मालव और क्षुद्रक

जातियों अपने निश्चित पथ से विरत हो जायें। कुछ मालवों ने एक दुर्ग का आश्रय लेकर अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया परन्तु सिकन्दर के आक्रमण से उनमें से २००० व्यक्ति हत हुए। कुछ ने पास के ब्राह्मणों के नगर में शरण ली परन्तु सिकन्दर ने उनका पीछा किया। एरियन लिखता है कि निरन्न और अल्पसंख्यक होने पर भी ये मालव साहसी थे और उनमें से कोई बन्दी नहीं किया जा सका, सब ने लड़ते हुए प्राण खोये (६, ७)

तदनन्तर सिकन्दर ने मालवों के प्रमुख नगर-दुर्ग पर हमला किया जो वर्तमान भंग और मन्टगुमरो जिलों की सीमा पर कहीं था। युद्ध वहाँ घमासान हुआ और मालवों ने सिकन्दर को भी अछूता न छोड़ा। एरियन लिखता है कि सिकन्दर को अपने भारतीय आक्रमण में जो गहरी चोट लगी थी वह इसी मोर्चे के तीर की थी और वह तीर बड़ी कठिनाई से निकाला गया (वही)। कुछ ग्रीक लेखकों का मत है कि सम्भवतः यही तीर काबुल में संघातक सिद्ध हुआ और परिणामतः सिकन्दर को प्राण छोड़ने पड़े। चाहे जो हो इतना तो सत्य है कि ग्रीकों से यह छिपा न था कि उनके सेनापति की रक्षा पर ही स्वयं उनकी रक्षा निर्भर थी और इस कारण मालवों के विरुद्ध उनका प्रतिशोध भी परिणामतः कम निर्दय न हुआ। उन्होंने 'नर-नारी बालक' लुब्धे' (वही) किसी को न छोड़ा, सब को तलवार के घाट उतार दिया। मस्सग-बैस की ही भाँति इस मालव नगर के नर-नारियों और बच्चों की हत्या भी ग्रीक सैनिक नीति पर एक कालिमा है। परन्तु इससे एक बात निश्चित हो गई। वह यह कि सिकन्दर उपस्थित भय की शंका से मुक्त हो गया। मालव विरोध तो टूट ही गया, क्षुद्रक भी इस प्रभूत हत्याकांड से सन्नस्त हो उठे और उन्होंने युद्ध निरर्थक समझ आत्म-समर्पण कर दिया। स्वतन्त्रता और स्वशासन के वे भी गहरे पुजारी थे। और कर्टियस लिखता है कि उन्होंने आत्म-समर्पण करते हुए सिकन्दर से सही कहा था कि भय कारण नहीं प्रत्युत देवताओं के विरुद्ध होने से उन्हें उसकी शक्ति के सामने झुकना पड़ा (६, ७)। सिकन्दर ने उनके बलव्य की सत्यता समझी और उनके व्यक्तित्व

तथा आकार से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उनका उन्मुक्त स्वागत किया। जिस आदर और अपनयन से उसने उनका स्वागत किया उसे देख सिकन्दर के सेनापतियों में ईर्ष्या की भावना जग पड़ी। जुद्धकों के साथ विजेता ने सन्धि कर ली और मालवों और जुद्धकों की सत्ता पर अंकुश रखने के लिए फिलिप्पस को उनके ऊपर अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया।

फिर नदियों के मार्ग से धावा करता वह चिनाव और सिन्धु के संगम पर पहुँचा। वहाँ उसे पर्डिकस की प्रतीक्षा करनी पड़ी जो अम्बष्ठों के पराभव के अर्थ गया हुआ था। अम्बष्ठ भी वीरकर्मा थे और भारत में संख्या अथवा साहस में किसी अन्य जाति से कम न थे। उनका शासन भी मालवों की ही भाँति गण शासन था (डिपोडोरस, १७, १०२)। उन्होंने एक बड़ी सेना लेकर सिकन्दर का सामना किया; परन्तु भाग्य उनके भी विरुद्ध था।

सत्रियों, वसातियों, भूषिकों आदि को जीतता हुआ, सिकन्दर नदी के बहाव के साथ और आगे बढ़ा, ग्रीक लेखकों ने भूषिकों की दीर्घ आयु की प्रशंसा की है और लिखा है कि उनमें दास-प्रथा न थी। वे प्रायः १२० वर्ष तक जीते थे और चिकित्सा-शास्त्र की उनसे बड़ी प्रतिष्ठा थी।

ग्रीक लेखकों के वक्तव्य से जान पड़ता है कि भूभाग की राजनीति में बड़ा बोलबाला था, कहते हैं कि उन्होंने भूषिकों को सिकन्दर के विरुद्ध फिर भड़का दिया। एरियन लिखता है कि ब्राह्मणों द्वारा यह विरोध असाधारण था क्योंकि देश में उनका बड़ा मान था। सिकन्दर ने बढ़ती हुई विपत्ति की आशंका से उनका एक विशाल संख्या में बंध कर डाला। हजारों की तादाद में वे तलवार के घाट उतार दिये गये। पमूया प्लूटार्च ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक घटना का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि ग्रीक दार्शनिकों के कहने पर उसने कुछ भारतीय ब्राह्मण दार्शनिकों को पकड़वा मँगवाया और उनसे अपने चमत्कार दिखाने को कहा। उनमें से एक ने सिकन्दर से कहा कि, “हम भी तुम्हारी ही तरह मनुष्य हैं। अन्तर बस इतना है कि हम

शान्ति पूर्वक रहते हैं और तुम बौखल की भाँति घर छोड़ दूर जाकर दूसरों के कार्य में विघ्न डालते फिरते हो अपने आप कष्ट उठाते हो दूसरों को कष्ट में डालते हो, छिः ! सिकन्दर उसकी हिम्मत देख दंग रह गया और ११ओं दार्शनिकों को एकत्र कर उसने उनमें से एक से कहा; मैं इन १० ओं से १, १ सवाल करूँगा। तुम सुनो और बताओ कि इनमें सबसे अधिक सही उत्तर किसका है। इस हाजिर-जवाबी के क्रम से ही मैं तुम सब लोगों को प्राण दंड दूँगा। उसने प्रश्न करना शुरू किया।

पहले से उसने पूछा—तुम्हारे विचार में जीवितों की सख्या अधिक है अथवा मरे हुआ की ?

उत्तर मिला—जीवितों की क्योंकि मरे हुआ का अस्तित्व नहीं।

दूसरे से प्रश्न हुआ—जीव जल में अधिक हैं अथवा स्थल पर ?

उत्तर मिला—स्थल पर क्योंकि जल स्थल का ही है।

तीसरे साधु से उसने पूछा—जानवरों में सबसे बुद्धिमान कौन है ?

साधु बोला—वह जिसका पता मनुष्य अभी तक नहीं लगा सका (अर्थात् जो मनुष्य की वैचक दृष्टि से अब तक बच रहा है)।

सिकन्दर ने चौथे से पूछा—तुमने शत्रु (भूषिकराज) को विद्रोह के लिए क्यों उभाड़ा ?

वह बोला—इसलिए कि मैं चाहता था कि यदि वह जिये तो गौरव के साथ और मरे मान के साथ।

पाँचवे साधु से प्रश्न हुआ—पहले कौन बना दिन या रात ?

साधु ने झट उत्तर दिया—दिन पहले बना रात से एक दिन पहले।

सिकन्दर कुछ समझ न सका, उसने पूछा—मतलब ?

साधु बोला—असम्भव प्रश्नों के उत्तर भी असम्भव हो होंगे।

छठे साधु से पूछा—मनुष्य (राजा) किस प्रकार लोक-प्रिय हो सकता है ?

साधु बोला—बहुत शक्तिमान परन्तु साथ ही प्रजा का प्रिय होकर जिससे प्रजा डरे नहीं ।

सातवें से प्रश्न हुआ—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ?

उत्तर मिला—ऐसे काम करके जो मनुष्य न कर सके ।

फिर आठवें से प्रश्न हुआ—जीवन और मृत्यु में अधिक बलवान कौन है ?

उत्तर मिला—जीवन, क्योंकि वह भयानक से भयानक कष्ट सहन करता है ।

सिकन्दर ने ९वें साधु से पूछा—कब तक जीना मान के साथ जीना है ?

साधु बोला—जब तक मनुष्य यह नहीं सोचता कि अब जीने से मर जाना अच्छा है ।

अन्त में सिकन्दर ने जज से पूछा—किसका उत्तर सबसे सुन्दर है ?

जज सम्भवतः उत्तर सोचे बैठा था । उसने झट जवाब दिया—प्रत्येक उत्तर दूसरे से बढ़कर है ।

इस पर सिकन्दर पहले उसका ही वध करने को तत्पर हुआ । परन्तु ग्रीक दार्शनिकों के बीच-बचाव से उसने सब को बन्धन मुक्त कर दिया ।

इस प्रकार ब्राह्मणों के विरोध को तोड़ पत्तल के नगर को जीतता हुआ वह आगे बढ़ा । पत्तल के सम्बन्ध में ग्रीकों ने लिखा है कि उसमें स्पार्टा की भाँति शासन का प्रचलन था । युद्ध में उसकी सेना का संचालन दो भिन्न कुलों के राजा करते थे और राष्ट्र की सत्ता वृद्धों की सभा के हाथ में थी (डिपो-डोरस, १७, १०४) । ३२५ ई० पू० के सितम्बर में सिकन्दर ने अन्ततः भारत छोड़ा । अपनी सेना को उसने दो भागों में विभक्त किया । एक को उसने नियर्कस के नेतृत्व में जल मार्ग से भेजा । दूसरे को लेकर वह स्वयं बलूचिस्तान की राह से काबुल के लिए लौटा । अपने लिए उसने बहुत कठिन मार्ग चुना और उसकी सेना विपत्ति पर विपत्ति भेलती भूख और प्यास की मारी

अधेनगनावस्था में जैसे-तैसे काबुल पहुँची। अभी वह राह में ही था कि उसका प्रतिनिधि शासक फिलिप्पस मार डाला गया। और वह सिवाय इसके और कुछ नहीं कर सका कि वह तक्षशिला के आम्भी और उपरले सिन्धु के यूडेमस को यथोचित करने का आदेश कर दे। मालव और चुद्रक की सी वीर जातियों का शासक होना किना विपज्जनक था यह फिलिप्पस की इस हत्या ने भले प्रकार प्रदर्शित कर दिया। जिस दयनीय स्थिति में ग्रीक सेना अपने जगत प्रसिद्ध सेनानी के नेतृत्व में काबुल पहुँची, वह आक्रमण के समय भारत प्रवेश से नितान्त विपरीत थी। सिकन्दर स्वयं जर्जर हो गया था और ३२३ ई० पू० के जून में वह अद्भुत अभूतपूर्व दिग्विजयी अपने जांते वैभव की अनित्यता के बीच अनन्त निद्रा में सो गया। उसके निधन में सम्भवतः मातृवों के बाण का भी योग था। सिकन्दर ने कोई पुत्र न छोड़ा। रुक्साना के गर्भ में जो बालक था उसे उसकी प्रेयसी ने नष्ट करा दिया। इतने अध्यवसाय, उत्साह, वीरता, और शक्ति से निर्मित सिकन्दर के साम्राज्य को भोगनेवाला कोई न रहा। उसके मरते ही उसका क्षणिक साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया और प्रत्येक टुकड़े पर उसका कोई न कोई सेनापति काबिज हुआ। साम्राज्य का जो विभाजन हुआ उसमें मिस्र टालेमी को मिला, सीरिया सिल्यूकस को, पूर्व ऐन्टीगोनस को। शीघ्र ऐन्टीगोनस और सिल्यूकस में खूनी संघर्ष शुरू हो गया जो ऐन्टीगोनस की हत्या के बाद ही रुक सका। केवल ८ वर्ष पहले सिकन्दर ने रुवेंला के युद्ध में ईरानी साम्राज्य को अपनी टोकरी से तोड़ डाला था और उसके बाद उसके साम्राज्य के टुकड़े, ईरानी साम्राज्य के प्रांतों से भी अधिक छोटे हो गये।

×

×

×

सिकन्दर साहसी था, वीर था, निर्भीक था, नीति कुराल और अद्भुत सेनानी था। पिता के छोटे से आधार से उठकर उसने संसार का सबसे बड़े साम्राज्य स्थापित किया। बड़ी से बड़ी विपत्ति में वह धबराता न था, कठिन

से कठिन मोर्चे पर वह सतत जागरूक रहता था। जिस समय कठों से मोर्चा था उसके पीछे छोड़े पंजाबी प्रान्तों में विद्रोह हो गया था, आगे मगध का विस्तृत साम्राज्य था और इसी बीच ग्रीक सेना भी विद्रोह कर उठी, पर सिकन्दर ने धैर्य से काम लिया और लौट पड़ा। अनेक बार उसके व्यक्तिगत साहस और सूझ से उसकी विजय हुई। परन्तु इस अनन्त अध्यवसाय, अपूर्व साहस और अद्भुत आक्रमण का परिणाम क्या हुआ? विविध देशों की स्वतन्त्रता जिस आसानी और स्वाभाविकता के साथ सिकन्दर ने कचली उसका क्या कोई दीर्घ कालिक परिणाम सम्भव था। शक्ति के आधार पर स्थापित शासन परम्परा निश्चय शक्ति के प्रभाव में कायम न रह सकती थी। सम्भव है यदि सिकन्दर जीता रहता तो वह फिर-फिर विजयी होता; परन्तु इसमें सन्देह है कि सशक्त रहते भी यातायात की सुविधाओं के अभाव में और विभिन्न जातियों के बारम्बार के विद्रोह से उसको शान्ति मिलती! परसिपोलिस और शूषा के राज प्रासाद उसने वारवनिता के कहने पर अग्नि की लपटों को अर्पित कर दिये। संगल और मस्सग के मोर्चों पर उसके आचरण अचम्य थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सिकन्दर की प्रतिभा असाधारण थी और ३० वर्ष की अल्पायु में उसने जितना किया वह वस्तुतः कल्पनातीत है। भारत पर उसके आक्रमण का परिणाम राजनीतिक दृष्टि से नितान्त नगण्य है। शीघ्र स्थान-स्थान पर पञ्जाब में उपद्रव हुए, प्रजा विद्रोही हो उठी, भारतीय सेनाओं ने विप्लव किये और ग्रीक सेनाओं को भारत से निकाल बाहर किया। इन उपद्रवों का प्रमुख नेता चन्द्रगुप्त मौर्य था जिसने चाणक्य की सहायता से पञ्जाब और सीमाप्रान्त की दुर्द्धर्ष जातियों को संघठित कर वहाँ की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया और ग्रीक आक्रमण के सारे चिन्ह मिटा दिये। सिकन्दर १६ महीनों के अपने अल्पकालिक युद्ध-व्यस्त भारतीय सम्पर्क के काल में कुछ युद्ध जीतने के सिवाय भारत में और कुछ न कर सका। उसका आक्रमण इतना तुच्छ समझा गया कि भारत के किसी सांस्कृतिक क्षेत्र में, किसी साहित्यिक प्रणयन (ब्राह्मण, बौद्ध, जैन) में कहीं उसका किसी प्रकार

का संकेत नहीं मिलता। सम्भव है पश्चिम के देशों को जानेवाले भारतीय वणिक्पथ प्रशस्त हो गये हों, सम्भव है ग्रीकों के सिक्कों का भारत के मुद्रण-क्षेत्र पर कुछ प्रभाव पड़ा हो। यह भी सम्भव है कि पञ्जाब के छोटे-छोटे परस्पर ईर्ष्यालु राज्यों को दुर्बलता से सबक सोखकर ही सिकन्दर ने मौर्य साम्राज्य के एकतन्त्री शासन की नींव डाली हो; परन्तु सिकन्दर के आक्रमण का देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, अथवा आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, यह मानना ही होगा।

३

अशोक

१

आज के उच्छृङ्खल संसार में शक्ति और समृद्धि का आदर्श प्रस्तुत है, कभी अहिंसा और त्याग का था। इसका अर्थ यह कभी नहीं कि प्राचीन काल में शक्ति की उपासना नहीं हुई। हुई और खूब हुई। दिग्विजय की परम्परा, कृत्य और आदर्श दोनों में भारत के अतीत में पूजी गई। रघु और अर्जुन, महापद्मनन्द और चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य और पुष्पमित्र 'शुग', समुद्रगुप्त और शशांक सभी शक्ति के उपासक थे, असुरविजयी नृपति। इसीसे जब हम अशोक का नाम लेते हैं, कुछ हिल जाते हैं।

हिल जाते हैं, क्योंकि अतीत और वर्तमान दोनों में उसका नाम असम वातावरण उपस्थित करता है। उसकी भाँति, प्रकार और मात्रा दोनों में, राजाओं में न कोई पहले हुआ, न पीछे। कठोर, व्यस्त, दुःखी जगत में वह अकेला है, सबेधा अकेला हम उसे देखते हैं। इतिहास का परदा उठा तब जगत की ओर देखते हैं, फिर लौटकर उसे ही देखते हैं। अपना-सा वही है। निश्चय, प्रकृति ने उसे भी ढालकर साँचा तोड़ दिया था !

राजकुल बढ़ा था, प्रतिष्ठित। पितामह के कृत्य इतने बड़े थे कि शीघ्र ही बाद में वे अमानुषिक समझे जाने लगे थे—'सर्वज्ञान्तक' नन्द के वंश का समूल नाश और मगध पर अधिकार, पंजाब से असुर विजेता सिकन्दर के

आक्रमण-चिह्नों का निःशेषीकरण, सिल्यूकस की विजय, मौर्य साम्राज्य का निर्माण और उसका सागर पर्यन्त प्रसार—सभी एकैक भी महान् के लिए भी महान् थे। और इनके स्रष्टा के पीछे कालातीत चाणक्यमेधा उससे भी ऊपर। ऐसे पितामह की आप देखी पृष्ठभूमि क्या जनन करती?—शौर्य, स्पधा, शक्ति।

सम्भवतः उसने किया भी प्रजनन कुछ ऐसी ही निष्ठा का, परन्तु उसमें पौत्र का व्यक्तित्व आ अटका। अशोक यद्यपि अपने शिलालेख में कहता है कि कलिंग-युद्ध से उसके चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा, परन्तु चाहे जितना भी उस पर उसने प्रभाव डाला हो, उसके लिए किसी न किसी मात्रा में पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत थी। पितामह के व्यस्त, घटनाबहुल रत्नांकित जीवन का अन्त क्या उसने न देखा था? क्या कर्मठ जीवन की सन्ध्या में पितामह अन्तर्मुख न हो गया था? भद्रबाहु और श्रावण-बेलगोला, जैनाचरण तथा प्रायोपवेश-मरण क्या जल पर लिखे थे? यदि सचमुच ही दिग्विजय की भावना प्रबल थी, स्वभावतः नृशंसता जाग्रत थी, तो राज्याभिषेक के ही वर्षे कलिंग-विजय क्यों नहीं हुआ? आठवें वर्ष क्यों?

चन्द्रगुप्त मौर्य प्रायः २४ वर्ष राजकर लगभग २६७ ई० पू० के मरा। उसका पुत्र बिन्दुसार अमित्रघात अशोक का पिता था और उसने २५ वर्ष शासन किया। सम्भवतः २७२ ई० पू० में जब उसका निधन हुआ, मौर्य राजकुल में गृह-युद्ध की तैयारियाँ हो चुकी थीं। सुषीम अथवा सुमन अवश्य अशोक से ज्येष्ठ था, यदि उसके अतिरिक्त अन्य भी उससे बड़े न थे। सुषीम की पीड़ा पुरानी थी, यौवराज्यकाल की। पिता के समय अशोक उज्जैन का प्रतिनिधि-शासक था, सुषीम तक्षशिला का। उज्जैन साम्राज्य का मध्यवर्ती केन्द्र था, राजनीतिक भी, व्यापारिक भी। जिस प्रकार वह दक्षिणापथ और उत्तरापथ की सन्धि पर था, उसी प्रकार पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तटों के मार्ग पर भी वह था। व्यापार के सारे मार्ग, पारगज्य, चोल और केरल, कलिंग, कल्याण और मृगुकच्छ; बंग, मगध और गन्धार उरगपुर, अवन्ती

और वत्स, कोशाम्बी, शूरसेन और शाकल के सारे प्रशस्त वणिक्पथ या तो उज्जैन से होकर जाते थे या अपने उपमार्गों से उसे छूते थे। स्वयं अवनती की उर्वरता पार्श्वस्थ व्यापार-केन्द्रों से कम महत्व की न थी।

और न तक्षशिला उपेक्षणीय थी। सीमाप्रान्त की दुर्द्धर्ष जातियों की विनयस्थिति उसी के उत्तरदायित्व में थी। चन्द्रगुप्त ने सीरियक सम्राट् मिल्यू-कस को परास्त कर जिन चार ग्रीक प्रान्तों को प्राप्त किया था उनकी पश्चिमोत्तर सीमा अब हिन्दूकुश थी। तालेमी के संकेतानुसार भारत की वैज्ञानिक और भौगोलिक सीमा। अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान, काश्मीर और सिन्ध। सब पर दृष्टि सुदूर मगध का सम्राट् इसी तक्षशिला के केन्द्र से रखता था। मध्य एशिया की घुमक्कड़ युद्ध प्रिय जातियों के रास्ते, खैबर और बोलन के दर्रे, इसी तक्षशिला के अन्तर्गत थे। और काश्मीर की उत्तरी सीमा पर गिल-गित से लगी जो वल्लुनद की घाटी थी उसमें निरी केसर ही नहीं फूलती थी, वहाँ की जातियाँ तलवार भी मुट्ठी में कसकर पकड़ती थीं। और यह पामीरों में दुरित वहीक (बलख, बाख़्त्री) सदा राजनीतिक विस्फोट का केन्द्र भी रहा। दारा तृतीय के पुत्रों ने यहीं शरण ली थी। यहीं के निवासियों ने भारत की ओर बढ़ते सिकन्दर को चन्दावल और पीछे के मार्ग को खतरे में डाल दिया था। उसी बाख़्त्री से सतर्क रहना और पाटलिपुत्र को सावधान कर देना भी इसी तक्षशिला का काम था। मध्य एशिया और भारत का भीतरी मोर्चा यही था। और स्वयं इसके पङ्चास की भूमि कुछ कम खतरे की न थी।

और शीघ्र मगध के युवराज-कुल को इसने खतरे में डाल भी दिया। सुषीम के मन्त्रि मंगडल से असन्तुष्ट होकर तक्षशिला की जनता ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सुषीम ने असीम प्रयत्न किए; परन्तु विद्रोहार्थि का प्रसार बढ़ता ही गया। मगध को सूचना मिली तो उसने उज्जैन की ओर देखा और अशोक को तक्षशिला की ओर भेजा। अशोक ने तक्षशिला का शासन-भार अपने कन्धों पर लिया। परीक्षा कठिन थी। युवराज और अग्रज अकृतकार्य हुआ था, अब अशोक की बारी थी। अशोक ने विद्रोह दबा

दिया। अशोक ने साथ ही एक शत्रु भी उत्पन्न किया। उसने सुषीम की आशंका, ईर्ष्या, आक्रोश सब एक साथ जगा दिए।

यह अनुज असाधारण था, वीरकर्मा, सफल-शासक, विद्रोह विध्वंसक, योग्य, अकृतकार्य अप्रज का सफल स्थानापन्न जो तक्षशिला में उसका स्थानापन्न हो गया, वह क्या मगध में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर लोभ भरी दृष्टि न डालेगा? संघर्ष अनिवार्य था। सुषीम मूल में अपनी शक्ति संगठित करने लगा। क्या अशोक में भी यह महत्वाकांक्षा घर करने लगी थी? यह तो स्पष्ट था कि वह भाई से अधिक सफल था, अधिक सबल भी। राज्य किसका है—ज्येष्ठ का अथवा विक्रम का? अशोक भी भावी की टक्कर के लिए कटिबद्ध हो गया। व्यवहार और परम्परा उसकी आकांक्षा के विरुद्ध थी परन्तु तलवार उसकी कसी सुट्टी में थी, रन्ध्र-प्रहार का लाघव मेधा में। और यदि सुषीम 'मूल' में था तो अशोक को भी आक्रमक की महत्ता प्राप्त थी। पिता की मृत्यु के समय यदि अशोक तक्षशिला का शासक होने के कारण पाटलिपुत्र में न था, तो उस घटना की सूचना पाकर वह मगध की ओर चला।

१७२ ई० पू० अशोक का निर्णायक वष था, सुषीम का भी। उसने निर्णय किया भी, अशोक के पक्ष में भी, सुषीम के सम्बन्ध में भी। अशोक मगध की गद्दी पर था, सुषीम अब वन्य जन्तु का भाँति आक्रमण के लिए अवसर ताकता चक्कर काट रहा था। अशोक अब घर में था, सुषीम बाहर। परिस्थितियाँ बदल गई थीं—केन्द्र अब आक्रमक था, आक्रमक केन्द्र? अशोक सिंहासन पर था सही; परन्तु गृह-शत्रु के जीवित-सजग रहते क्या वह निश्चिन्त रह सकता था? गद्दी के औरस वारिस के रहते उसका अभिषेक कैसा? निरापद होने के निमित्त वह भाई की ओर बढ़ा। एक का अन्त दूसरे का आरम्भ था।

सम्भवतः चार वर्ष तक दोनों में संघर्ष होता रहा। उनके कुछ भाई और भी थे। परन्तु कौन किसकी ओर से लड़ा यह नहीं कहा जा सकता और न यही कि इस गृह-युद्ध की घटनाएँ क्या थीं। इतिहास के इस सम्बन्ध के आँकड़े काल के अन्तराल में समा चुके हैं। परन्तु जो कुछ हुआ उससे इतना सिद्ध है

कि सुषीम अशोक के मार्ग से हट गया और वह राण में हत होकर अथवा हत्या से । अपने आप वह गद्दी अशोक के लिए छोड़ नहीं सकता था क्योंकि पहले तो वह उसका सही अधिकारी था, दूसरे शक्ति का स्वाद उसे तक्षशिला के शासन से लग चुका था ।

अब अशोक ने, जो गद्दी पर पिता की मृत्यु के बाद ही अस्थिर चित्त से बैठ चुका था, निःशंक अपना अभिषेक कराया । सिंहली वृत्तान्त का कहना है कि अशोक ने अपने छोटे सहोदर भ्राता तिष्य को छोड़ बाकी सारे ६६ भाइयों को तलवार के घाट उतार दिया और इस प्रकार खून के दरिया में चल कर वह गद्दी तक पहुँचा परन्तु इस प्रकार की अनुश्रुति में विश्वास नहीं किया जा सकता । पहले तो १०० अथवा १०१ वास्तविक नहीं पारम्परिक संख्या है; दूसरे इतने भाइयों का होना अस्वाभाविक है; तीसरे कुछ विद्वानों ने पंचम शिलालेख में जो उसने अपने भाइयों के अवरोधों के प्रति अपना कर्तव्य निभाया है उससे भाइयों के जीवित रहने का निष्कर्ष निकाला है यद्यपि यह निष्कर्ष प्रामाण्य नहीं क्योंकि उसमें स्पष्टतः भाइयों का हवाला नहीं उनके परिवार का है और भाइयों को मरवा कर भी अशोक प्रायश्चित्त रूप में उनके परिवारों के प्रति दयाशील हो सकता था । अनुमान यह है कि बौद्ध वृत्तान्त में इस प्रकार का वर्णन इस कारण आया कि उस धर्म का प्रभाव-चमत्कार प्रदर्शित हो सके—अर्थात्, अशोक की भ्रांति क्रूर प्राणी भी सद्धर्म के प्रभाव से पिशाच से देवता हो सकता है ।

अशोक के भाइयों के संबंध में केवल चार नाम उपलब्ध हैं । यह तो प्रायः सर्वमान्य है कि सुषीम अथवा सुमन उसका ज्येष्ठ विमाता-पुत्र (सौतेला भाई) था जिसके साथ उसका संघर्ष हुआ । सिंहली अनुश्रुतियों से उसके सहोदर कनिष्ठतम भ्राता तिष्य का पता चलता है । उत्तरी अनुश्रुतियों में विगताशोक अथवा वीताशोक का नाम उल्लिखित है । कुछ अनुश्रुतियों में महेन्द्र के भी भाई होने का उल्लेख मिलता है यद्यपि सिंहली वृत्तान्तों में उसे वेदिशगिरि की देवी से उत्पन्न अशोक का पुत्र तथा संघमित्रा का सहोदर

आता कहा गया है। स्पष्ट है कि सिंहली ग्रन्थों का एतत्सम्बन्धी पाठ अशुद्ध और अतिरंजित है और उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

उत्तरी वृत्तान्त में अशोक की माता का नाम सुभद्रांगी लिखा है और उसे चम्पा (अंग की राजधानी, अब भागलपुर) के ब्राह्मण की कन्या कहा गया है। महावंश-टीका उसे धर्मा कहती है और उसके कुल को आजीविक सम्प्रदायावलम्बी। कुछ आश्चर्य नहीं यदि बिन्दुसार ने ब्राह्मणदुहिता सुभद्रांगी से विवाह किया हो और अशोक उसकी कोख से उत्पन्न हुआ हो। धर्मा उस अवस्था में उसकी विमाता हो सकती है। कम से कम इतना प्रमाणित है कि अशाक ने स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों के आदर का स्तोत्र गाया और आजीविकों को भी दान दिए।

अशोक जब अभिषिक्त हुआ तब ई० पू० २६६ अथवा २६८वें वर्ष था। उसने भी कुलागत परम्परा के अनुसार देश-विजय की, परन्तु आठवें वर्ष में वह इस ओर झुका। इस सम्बन्ध में इतिहास मूक है कि अशोक राज्यारोहण से बारह वर्ष और अभिषेक से आठ वर्ष बाद तक क्या करता रहा। संभव है गृह-कलह के अन्त हो जाने पर भी राज्य के कुछ भाग अव्यवस्थित रह गए हों जिनको सम्हालना पहले आवश्यक था। वस्तुतः वह अपने विक्रम से गद्दी पर बैठा था और इस प्रकार के लोगों की सख्या पर्याप्त रही होगी जो उसके गुणों के बावजूद भी कानूनन गद्दी का हकदार सुषीम को ही समझते हों। वास्तविक अधिकारी से दो-दो चोटें कर आसानी से निपटा जा सकता है परन्तु इस प्रकार के जनमत से लोहा लेना कठिन है। अशोक को भी उसे अपने पक्ष में करने में समय लगा होगा, विशेषकर जब गद्दी का एक दूसरा और स हकदार, सुषीम के बाद और अशोक से पहले, अभी जीवित था। वह था सुषीम का पुत्र निम्रोध जो बाद में बौद्ध हो गया और जिसका हाथ अशोक के बौद्ध धर्मे ग्रहण में कुछ कम न था।

अपने चतुर्दिक को राजनीतिक परिस्थिति सम्हाल लेने के पश्चात् ही

अशोक विजय-यात्रा कर सकता था। उसका पैतृक बड़ा था। पितामह ने ही हिन्दूकुश से मैसूर तक का सारा भारत जीत लिया था। परन्तु फिर भी कलिंग (उड़ीसा) का पूर्वतटवर्ती राज्य कैसे स्वतन्त्र बना रहा यह ऐतिहासिकों के लिए एक पहेली है। यह तो सिद्ध है कि नन्दों के काल में यह देश मगध के अधिकार में था। नन्दराज ने उसकी विजय की थी, वहाँ से वह जैन तीर्थंकर की मूर्ति उठा ले गया था और उसने वहाँ सिंचाई के लिए एक 'प्रणाली' (नहर) खुदवाई थी। * संभव है चन्द्रगुप्त-चाणक्य द्वारा मगध-विजय तथा नन्द वंश के नाश के समय कलिंग स्वतन्त्र हो गया हो। बिन्दुसार के शासन-काल में भी कम से कम उत्तर-पश्चिम में कुछ उथल-पुथल हुई थी और कुछ विद्वानों का मत है कि संभवतः इसी काल कलिंग स्वतन्त्र हो गया, यद्यपि मध्य देश सर्वथा अन्तरंग और सुदूर दक्षिण तक के सविनय बने रहने में यह धारणा कुछ सबल नहीं जान पड़ती। वास्तव में संभावना तो कलिंग के स्वतन्त्र हो जाने की तब थी जब बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् मगध में सुषीम तथा अशोक में गृह-युद्ध छिड़ गया था। कुछ आश्चर्य नहीं कि अशोक ने उसे साम्राज्य से बाहर जाते देखा हो परन्तु उपस्थित वर्तमान में अपनी सक्रिय अभियोग व कारण उधर रख न कर सका हो। गद्दी पर बैठते ही कलिंग पर अधिकार न करना भी उसी गृह-युद्ध को प्रमाणित करता है।

गद्दी पर बैठ चुकने और सुषीम के साथ शक्ति तौल लेने के बाद अशोक ने जनमत सम्हाला और राज्य को प्रकृत व्यवस्था की। फिर जब उसे इन कामों से छुट्टी मिली तब उसने 'प्रसर' की चिन्ता की। जाने हुए प्रायः सारे देश, सुदूर चोलों, पाण्ड्यों, केरलों, आदि के अतिरिक्त, साम्राज्य की सीमा के भीतर थे, केवल पू्व का कलिंग स्वतन्त्र था, और संभवतः देखते ही देखते स्वतन्त्र हो गया था। इस बीच अशोक और सुषीम में जो संघर्ष छिड़ा और मगध प्रायः एक युग (बारह वर्ष) जो अपनी आन्तरिक राजनीति में व्यस्त

* हाथीगुफा का खारवेल-लेख।

रहा तो कलिंग को अपनी शक्ति बढ़ाने का पर्याप्त अवसर मिल गया। उसकी सैन्य-शक्ति इतनी प्रबल हो गई कि केवल भावी युद्ध में हतों और वन्दियों की संख्या प्रायः ढाई लाख थी। उस प्राचीनकालिक अपेक्षा कृत न्यून जन-संख्या के बावजूद भी एक छोटा-सा राज्य जो कम से कम तीन लाख सेना मैदान में उतार सका उससे सिद्ध है कि पहले तो, कालिंगों में असाधारण स्वदेश प्रेम था, दूसरे, उनकी शक्ति प्रबल थी, संसार की प्रायः सबसे बड़े तात्कालिक शक्ति साम्राज्य* से लोहा लेने में समर्थ।

कुछ भी हो अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। युद्ध भीषण हुआ। कालिंगों के विकट मोर्चे से सम्राट् और कुपित हो उठा और उनके हतों-आहतों से उसने भूमि पाट दी। तेरहवें शिलालेख में अशोक स्वयं स्वीकार करता है कि इस भयानक नरयज्ञ में “डेढ़ लाख सैनिक वन्दी हुए, एक लाख मारे गए, और इस संख्या के कई गुना मर गए।” इतने दारुण युद्ध के बाद अकाल, रोग और महामारी का प्रकोप तथा फलतः नरसंहार स्वाभाविक ही है। कलिङ्ग सर्वथा विजित हो गया। उसका सारा जनबल अशोक के खड्ग की तीक्ष्ण धार के नीचे था। परन्तु वेदना और चीत्कार, रक्त और वुभुक्षा अशोक को द्रवित न कर सकी। कलिङ्ग को लूटकर उसने उसे रौंद डाला।

परन्तु फिर भी इतना बड़ा त्याग, इतनी दारुण नरहत्या आखिर व्यर्थ नहीं जा सकती थी। अन्ततः इस रक्तपात और जनबलि ने वह काम किया जिससे एक अत्यन्त असाधारण कायापलट हो गई और मानव-इतिहास में एक सर्वथा नए दृष्टिकोण का निर्माण हुआ, राज्य पद्धति में एक नई नीति जन्मी। कलिङ्ग की असामान्य विपत्ति ने क्रूरकर्मा अशोक के मर्म को छू लिया; सम्राट् का अन्तरतम अपने कृत्य को दारुणता से हिता गया। उसकी

* सिल्युकस के वंशजों का सीरियक साम्राज्य संभवतः मौर्य साम्राज्य से कुछ बड़ा था।

स्मृति उसकी सुषप्ति और जागरण को आकुल करने लगी। रक्त-सिक्त करों को उठाकर उसने प्रतिज्ञा की। राज्य-सीमा के विस्तार के लिए वह कभी अपनी तलवार म्यान से बाहर न करेगा, युद्ध यात्रा के बदले अब वह धर्म-यात्रा करेगा, भेरी घोष के बदले धर्म-घोष। इस प्रकार वह हिंसा के स्थान पर अहिंसा की प्रतिष्ठा करेगा। और उसने की। विजय-यात्राओं के बदले उसने धर्म-यात्राएँ (तीर्थ यात्राएँ) कीं; भेरी घोष (युद्धवाद्य) के बदले धर्मघोष किया—शिलाओं और स्तम्भों पर उसके उपदेश चमक उठे। हिंसा के स्थान पर उसने प्रेम और आतृभाव, प्राणि-पूजा और सहिष्णुता के अंकुर रोपे।

कलिंग का युद्ध उसकी पारस्परिक राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी, मानव इतिहास में उसकी महत्ता कहीं अनोखी, कहीं गगन चुम्बी थी। उस आधार से जिस नीति का उदय हुआ वह राजनीति में अश्रुतपूर्व थी, सर्वथा श्रेयस्कर और साधु। अनुश्रुतियों का प्रमाण है कि अशोक बौद्ध धर्म की ओर सुषीम-पुत्र निग्रोध से आकृष्ट हुआ, उपगुहा से दीक्षित। सम्भव है वह निग्रोध द्वारा आकृष्ट हुआ हो, उपगुप्त द्वारा दीक्षित परन्तु जिस घटना ने उसे सर्वथा मानव का दृष्टिकोण दिया, उसी के स्वीकरण से, वह निस्सन्देह कलिंग-युद्ध था। युद्धान्तर जीवन के अपने आचरण से उसने अपने उस कृत्य का निरन्तर प्रायश्चित्त किया। उसका यह जीवन जितना त्यागपरक साधूचित था उतना राजस नहीं।

जब इस प्रकार अशोक का चित्त अपने ही कृत्य से व्यथित और आकुल हो उठा तब उसे शान्ति और उपदेश की आवश्यकता हुई। सुषीम के पुत्र निग्रोध के प्रयत्न इस काल ही उपादेय सिद्ध हो सकते थे। उपगुप्त ने बुद्ध के उपदेश, प्रेम और शान्ति के सन्देश, सुनाए। सरल अकृत्रिम सर्वथा मानव उपदेशों ने आकुल अशोक को शान्ति दी। बुद्ध के अभय-दान में साहस प्रदान करने की अदभुत शक्ति थी। अशोक सद्धर्म का उपासक हो गया, उपगुप्त उसका उपदेश।

अशोक स्वयं अंगीकार करता है कि “कलिंग-विजय के बाद देवानंघ्रिय धम्म के आचरण में, धम्म के प्रेम में, धम्म के उपदेश में सर्वथा अनुरक्त और उत्साहित हो गया” (तेरहवाँ शिला लेख) । इससे सिद्ध है कि उसका आकर्षण बौद्ध धर्म की ओर अब तक काफी हो चुका था । उसकी ओर से केवल आदर ही नहीं था प्रत्युत विशेष आग्रह था और वह उसके प्रचार में दत्तचित्त हुआ । कुछ विद्वानों ने उसके बौद्ध होने में सन्देह किया है परन्तु ऊपर के उसके वक्तव्य से सिद्ध है कि संघ में भिक्षु की हैसियत से चाहे उसने शरण और दीक्षा न ली हो परन्तु उपासक वह बुद्ध का निश्चय हो गया था ।

इसके अतिरिक्त उसके अनेक कार्य निश्चित रूप से उसका बौद्ध होना प्रमाणित करते हैं । कुछ का परिगणन नीचे किया जा सकता है । (१) भद्रू लेख में उसने बुद्ध, धम्म और संघ की शरण लेने की घोषणा की है । प्रत्येक बौद्ध, भिक्षु और उपासक, को सम्प्रदाय को स्वीकार करते समय यह कहना पड़ता था—बुद्ध शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि । वही अशोक ने भी किया । (२) उसी लेख में उसने सघ-प्रविष्ट तथा साधारण उपासक दोनों के पाठ तथा ध्यान के अर्थ बौद्ध पिटकों से कुछ उद्धरण चुने हैं । अन्य धर्म के साथ इतना अकारण सम्बन्ध किसी का नहीं हो सकता । (३) फिर सारनाथ और अन्यत्र के लघु-स्तम्भ लेख में संघ भेदकों (फूट डालने वाले भिक्षुओं) को दण्डित करने के लिए उसने कुछ विधान किए हैं । उनमें से एक यह था कि इस प्रकार के भिक्षु को श्वेत वस्त्र पहना कर संघ से बहिष्कृत कर दिया जाएगा । (४) उसने बुद्ध के स्पर्श से पुनीत बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा भी की थी । लुम्बिनी (लघु-स्तम्भ-लेख), जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था, और बोधगया (आठवाँ शिला लेख), जहाँ उन्हें सम्बोधि मिली थी, की उसकी यात्रा का उल्लेख तो उसके अभिलेखों में भी हुआ है । सारनाथ (जहाँ बुद्ध ने धर्म चक्र प्रवर्तन—प्रथम उपदेश—किया था) और कुशी नारा (जहाँ उनका महापरिनिर्वाण हुआ था) के

नाम तो नहीं मिलते परन्तु कुछ आश्चर्य नहीं कि अशोक ने इनकी यात्रा भी की हो। कम से कम उसकी सारनाथ की यात्रा तो इससे भी प्रमाणित हो सकती है कि वहाँ उसने धर्मराजिक नाम का स्तूप बनवाया था। (५) यज्ञादि और भोजनार्थ पशु-वध का साम्राज्य भर में निरोध (शिला लेख प्रथम) भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है। (जनुश्रुतियों से विदित होता है कि बुद्ध के अवशेष स्तूपों में से निकाल कर उसने अनेक नए स्तूप बनवा कर उनमें उनको फिर से रखा। अशोक के अनेक स्तूपों के हवाले चीनी यात्रियों ने दिए हैं। (७) अशोक ने बौद्ध सिद्धान्तों पर पुनर्विचार के अर्थ पाटलिपुत्र में एक बौद्ध संगीत बुलाई जिसका प्रधान उसका गुरु मोग्गलि-पुत्त-तिस्स था। इसी अधिवेशन के उपरान्त उसने अनेक विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ वहाँ विद्वान् धर्मदूत भी भेजे।

ऊपर के प्रमाणों से अशोक का बौद्ध होना निःसन्देह सिद्ध हो जाता है। अनेक बार तो उसने संघ के अधिकारी को हैसियत से आचरण किया है। सारनाथ के लघु-स्तम्भ-लेख से यही ध्वनि निकलती है। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान में तो उसके दीक्षित तक हो जाने का संकेत है। चीनी-यात्री ईत्सिंग भी लिखता है कि उसने अशोक की एक मूर्ति भिज्जु रूप में देखी थी। परन्तु अशोक की शासन-सक्रियता से सिद्ध होता है कि अन्त तक उसने राज्य का प्रबन्ध किया और वास्तव में प्रव्रज्या नहीं ली। लघु-शिला-लेख प्रथम में 'संघ उपयीते' एक वाक्यांश आया है। उसे भी कुछ लोगों ने अशोक की प्रव्रज्या के पक्ष में उद्धृत करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसका अर्थ भी केवल अशोक का अधिकाधिक संघप्राण होना है, कुछ प्रव्रजित होकर भिज्जु होना नहीं।

अशोक ने भेरीघोष के स्थान पर धम्मघोष की व्यवस्था की। उसका धम्मघोष क्या था? उसके उपदेश क्या थे? उसके अभिलेखों से अनभिज्ञ व्यक्ति स्वाभाविक ही उसके उपदेशों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

हुँदेगा, चार आर्य-सत्य (चत्तारि अरिय सच्चानि), अष्टांगिक मार्ग निर्वाण, आदि खोजेगा, और वह निराश होगा क्योंकि उसे उन अभिलेखों में इनमें से एक भी नहीं मिलेगा । इनके स्थान पर उसे जीवन का तत्त्व मिलेगा, घरेलू सीख, गृह-शान्ति के सार-पदार्थ । उसके उपदेशों में सारे धर्मों का निचोड़ है जो अप्रयास अनायास मन में आ सकते हैं परन्तु जो गार्हस्थ्य जीवन की शिलाभित्ति हैं जो विश्व-धर्म के आधार भूत तत्त्व हैं । जिन गृहगत आचरणों के अभाव से कलह का अंकुर फूटता है, आदर-णीयों में अध्रद्धा होती है, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में असहिष्णुता, उन्हीं आचरणों का अशोक के उपदेशों में समावेश है । उसके पत्थर पर लिखे उपदेश जैसे हम आज भी सुनते हैं ।

उसके धम्म के अंग क्या हैं ? उसके उपदेश तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) व्यक्तिगत आचरण, गृह तथा समाज में आचरण, और (३) अन्य सम्प्रदायों के प्रति आचरण । व्यक्ति में वह निम्नलिखित गुणों की अपेक्षा करता है—

सयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढभक्तिता (शिला-लेख सात) दया, दान, सत्य, शौच (स्तम्भ-लेख दो); मोद (धर्मानन्द), साधुता (स्तम्भ-लेख सात); क्रोधजनित पाप, नैष्ठ्य (क्रूरता), मान (गर्व) और ईर्ष्या आदि का त्याग (स्तम्भ-लेख तीन) । ये तो हुआ व्यक्तिगत गुण-दोषों का निरूपण परन्तु व्यक्ति सर्वथा अन्तर्मुख तो नहीं हैं उसकी परिधि तो अन्यो का भास्पर्श करती है और इसीलिए अशोक ने उसका वृत्त धीरे धीरे व्यक्ति से गृह और समाज तक फैलाया है । यह परिधि निरन्तर बढ़ती जाती है । इसके अवयव निम्नलिखित हैं—माता-पिता, गुरु-आचार्यों तथा वृद्ध-गुरुजनों की सुश्रूषा तथा श्रद्धा (अपचिति); ब्राह्मणों, श्रमणों, सम्बन्धियों (ज्ञानियों), मित्रों, वृद्धों, अनाथों आदि के दान और उनके उचित आचरण (सम्प्रतिपत्ति) (शिला-लेख तीन, चार, सात, नौ, और स्तम्भ-लेख दो) ।

इनके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी अशोक ने व्यक्ति के कर्तव्याचरण घोषित किए। उसका साम्राज्य सुविस्तृत था जिसमें अनेक जातियाँ, अनेक मतावलम्बी बसते थे। प्राचीन काल में समाज में मुख्य कलह के कारण सम्प्रदाय थे और अशोक ने अपने साम्राज्य को साम्प्रदायिक भगड़ों से बचाने के लिए अपनी प्रजा को सहिष्णुता के उपदेश दिए। स्वयं तो वह सारे धर्मों का आदर करता ही था उसने अपनी प्रजा से भी उसी आचरण की आशा की और उनके आचरण के अर्थ उसने इस सम्बन्ध में एक पूरा अभिलेख (शिला-लेख बारह) ही खुदवा दिया। उसमें सम्राट् ने धार्मिक सहिष्णुता का निचोड़ रख दिया। उसने कहा कि सारे धर्मों के सारभूत तत्त्वों की वृद्धि से बढ़ कर कोई दान नहीं। वाक्संयम आवश्यक है। दूसरे सम्प्रदाय की अकारण अवमानना नहीं करनी चाहिए। उनका आदर करना चाहिए। ऐसा आचरण कर मनुष्य अपने सम्प्रदाय का भी कल्याण करता है दूसरे का भी। इससे अन्यथा आचरण दोनों का अहित करता है। एक दूसरे के प्रति सद्भाव और सहिष्णुता होनी चाहिए। बहुश्रुतता बड़ा गुण है। इसे सीखना चाहिए। जब एक मत का व्यक्ति दूसरे मत के गुण सुनेगा तब वह उसका आदर करेगा।

इस प्रकार अशोक ने अपनी प्रजा को परस्पर सद्भाव रखने तथा मतान्तरों का आदर करने की सलाह दी। स्वयं वह इस सिद्धान्त का पूर्ण आचरण करता था। उसने सारे सम्प्रदायों का आदर किया। आजीवकों के लिए उसने दरी गृह खुदवाए, ब्राह्मणों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों (जैन) आदि के प्रति वह सदा श्रद्धालु बना रहा और उनको उसने प्रभूत दान दिए। उसने कहा कि चूँकि सारे धर्म संयम और चित्तशुद्धि पर जोर देते हैं इससे उनमें सद्भाव होना चाहिए और उसने उनको अपने साम्राज्य में सर्वत्र निर्भय होकर बसने को कहा (शिला-लेख सात)। निस्सन्देह अशोक अपने काल से सदियों आगे था।

ये तो हुए विधान, परन्तु इस क्षेत्र में अशोक ने कुछ निषेध भी किए

थे। सभी धर्मों में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ घुस गई थीं जो कुछ का स्वार्थ सिद्ध करतीं और समाज पर अपना अनुचित प्रभाव डालती थीं। अशोक जानता था कि उनके निषेध से कुछ लोगों में असन्तोष होगा परन्तु मानवता और औचित्य के विरुद्ध धर्म के नाम पर आचरण वह सहन करने को तैयार न था। इससे जिन बातों को उसने अनुचित समझा उनका निरोध करने में वह क्षण भर न रुका। जिस भावना ने बुद्ध को प्रेरित किया था जिससे वह स्वयं द्रवित होकर बौद्ध हो गया था उस प्राणिवध का निषेध उसका मूल मन्त्र था, उसके व्यक्तिगत धर्म का बीज। और ब्राह्मण-धर्म के यज्ञादि में प्राणिवध नित्य का कार्य था। उसने वे सारे यज्ञ जिनमें पशु-वध होता था निषिद्ध कर दिया (शिला-लेख पहला) इसी प्रकार मंगल के नाम पर की जाने वाली अनेक कुरीतियों को भी उसने रोका। नारियाँ विविध अवसरों पर भिन्न-भिन्न मंगलों के नाम पर अनेक अनाचार करती थीं, उन्हें उसने अनुचित समझ कर बन्द कर दिया और धम्म-मंगल अर्थात् जीवन में सुचारु आचरण को प्रोत्साहन दिया (शिला-लेख नवाँ)। इसी प्रकार एक प्रकार का उत्सव होता था जिसे 'समाज' कहते थे। उसमें नृत्य, संगीत, मांस-भोजन आदि होते थे और समय समय पर अनर्थ हो जाया करता था। उसे भी उसने सर्वथा निषिद्ध कर दिया और अपनी रसोई से भी धीरे-धीरे मांस बहिष्कृत कर दिया (शिला-लेख पहला)।

इस प्रकार के निषेध कर उसने मंगलादि के स्थान पर कुछ धार्मिक प्रदर्शनों के भी आयोजन किए। विमान-प्रदर्शन, राज-प्रदर्शन, अभिखण्ड-प्रदर्शन आदि के उत्सवों का उसने संगठन किया। मृत्यु के बाद अपने पुण्य के प्रताप से धर्मात्मा इन आनन्दों का उपभोग करते हैं। उसका विश्वास था कि उसके इन प्रदर्शनों से प्रजा में सुकर्म करने की प्रवृत्ति होगी और उसने स्वयं कहा है कि कुछ ही काल में उसके इस प्रयोग से जम्बूद्वीप में जो लोग धर्म और देव-विरुद्ध थे वे उसकी ओर अनुरक्त हो गए (लघु-शिला-लेख

पहला)। ऊपर कहा जा चुका है कि स्वयं उसने अपनी युद्ध-यात्राएँ और विहार-यात्राएँ छोड़कर धम्म-यात्राएँ आरम्भ कीं और अपने व्यक्तिगत आचरण से लोगों में धर्म तथा दान की भावनाएँ जगाने लगा (शिला-लेख आठवाँ)।

अशोक का साम्राज्य जिस प्रकार सुविस्तृत था उसी प्रकार उसका हृदय भी विशाल था, अत्यन्त उदार। कलिंग-युद्ध के बाद तो उसे हिंसा से घृणा हो ही गई थी और उसने अपने साम्राज्य में पशुवध सर्वथा बन्द करा ही दिया था, अब वह जन-हित के साधन में अनेक प्रकार से कटिबद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में उसका सबसे स्तुत्य आचरण चिकित्सा का प्रबन्ध था—मनुष्य और पशु दोनों के लिए। मनुष्य की चिकित्सा तो किसी न किसी रूप में होती ही आई थी परन्तु पशुओं की चिकित्सा पर किसी ने कभी ध्यान न दिया था। अशोक की उदारता मनुष्य की सीमाओं को लॉंघ गई और उसने जिस प्रकार व्याधिग्रस्त मनुष्य का भला सोचा उसी प्रकार मूकररुग्ण पशु का भी। और इस सम्बन्ध में देश-विदेश में अन्तर न डाला। जहाँ तक उससे हो सका उसने इस सम्बन्ध में अपना हाथ बढ़ाया। दक्षिण के स्वतंत्र राज्यों और यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के ग्रीक राज्यों में सर्वत्र उसने इस पशु-मानव चिकित्सा की योजना की (शिला लेख दूसरा)। जहाँ-जहाँ चिकित्सा-सम्बन्धी औषधियाँ न थीं वहाँ-वहाँ अन्यत्र से जड़ी-बूटियों के बीज और अंकुर लाकर रोपे गए। जिन स्वतन्त्र देशी राज्यों में अशोक ने यह प्रबन्ध किया—वे थे—चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र (सम्भवतः सिंहल भी)। इसी प्रकार जिन विदेशी राजाओं के शासित प्रदेशों में यह प्रबन्ध किया गया उनके नाम भी उसने अपने तेरहवें शिला-लेख में इस प्रकार गिना दिए हैं :—सीरिया का अंतियोक (अन्तियोकस् द्वितीय महान्—२६१-४६ ई० पू०), मिस्र का तुरभाय (तालेमी द्वितीय फ्राइला-डेलफस्—२८५-४७ ई० पू०), मकदूनिया का अंतैकिन (ऐन्तिगोनस् गोनैतस्—२७८-३६ ई० पू०) साइरि का भग (मेगस्—३००-२५८

ई० पू०) और एपिरस का अलिकसुदरो (अलेग्जेंडर—२७२-५८ ई० पू०) ।

राजपथों पर यात्रियों के लाभ के लिए उसने प्रत्येक आध कोस की दूरी पर उसने कुएँ खुदवाए, विग्रामशालाएँ बनवाईं । पशुओं और मनुष्यों दोनों के परिभोगार्थ उसने घनी छाया और फलोंवाले बट और आम्र वृक्ष लगवाए । उसने समझा कि उसका प्राणियों के प्रति ऋण है जिसका चुकाना आवश्यक है और उनसे उऋण होने के लिए वह सतत यत्न करता रहा ।

अपने अभिषेक के सत्रहवें वर्ष में अशोक ने वह कार्य किया जिससे बौद्ध धर्म का पीछा देश में सबल हुआ और विदेशों में लगा । मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में उसने एक बौद्ध-संगीति बुलाई । बौद्धों की संगीति एक प्रकार की संघ की असाधारण बैठक थी जो बड़े आवश्यक अवसरों पर हुआ करती थी । बुद्ध के निर्वाण से अशोक के पहले केवल दो बार संगीति बुलाई गई थी । पहली बार तो इसका अधिवेशन राजगृह में निर्वाण के शीघ्र बाद बुद्ध के उपदेशों को एकत्र तथा स्पष्ट करने के लिए हुआ दूसरा वलभी में (लच्छ-विदेश के भिक्षुओं के अनाचार के सम्बन्ध में) । अशोक के समय तक बौद्धों में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर बन गए थे जिनमें परस्पर झगड़े होते रहते थे । इन्हीं झगड़ों को निपटाने के लिए अशोक ने पाटलिपुत्र में संगीत बुलाई । इस प्रकार की यह तीसरी संगीति थी । इस अधिवेशन में निर्णय स्थविरों के पक्ष में हुआ । संगीति को इस बैठक का सम्बन्ध बौद्ध धर्म के इतिहास से बहुत घना है । इससे इस धर्म के प्रचार पर गहरा प्रभाव पड़ा । प्रधान ने इसके अन्त में विदेशों के लिए कुछ धर्म-दूत मनोनीत किए जिनको वहाँ जाकर सद्धर्म प्रचार का कार्य सौंपा गया । काश्मीर और गन्धार हिमालय के देश, महिषमण्डल, सुवर्णभूमि, महाराष्ट्र, यवन-देश, और लंका आदि देशों को क्रमशः मज्झान्तिक, मज्झिम, महादेव, सोन और उत्तर, महाधर्मरक्षित, महारक्षित, और महेन्द्र भेजे गए । इन प्रचारकों ने इन विविध देशों में बौद्ध धर्म का विस्तार किया । अशोक की कन्या संघमित्रा ने बोधगया से बोध-वृक्ष

की एक टहनी ले जाकर सिंघल में लगाया जो सद्धर्म के साथ ही साथ लगा और फैला ।

२

अशोक की धर्मरति का उल्लेख कर चुकने के बाद उसके राज्य-विस्तार और शासन पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित होगा । जिस राज्य में उसने पहले सद्धर्म का प्रसार किया उसका विस्तार असाधारण था । प्राचीन काल के किसी राजा ने इतने बड़े साम्राज्य पर शासन न किया । अशोक के बाद भी इस देश में कभी इतना सुविस्तृत शासन स्थापित न हो सका । इसकी सीमाएँ अशोक के अभिलेखों और साहित्यिक संकेतों के आधार पर स्पष्ट निर्धारित की जा सकती हैं ।

इतना तो सर्वमान्य है कि अशोक ने सिवा कलिंग के अन्य देश नहीं जीते । जो साम्राज्य उसके शासन में रहा वह प्रायः पैतृक ही था । ग्रीक लेखकों के प्रमाण से उसके पितामह चन्द्रगुप्त का सिल्यूकस निकेटर से चार ग्रीक प्रान्त पाना सिद्ध है । ये प्रान्त थे—एरिया (हेरात), एराकोसिया (कन्दहार), गेद्रोसिया (बलूचिस्तान), और परोपनिसदी (पर-उप-निषध-हिन्दूकुश-प्रदेश-काबुल की घाटी) । इस प्रकार उत्तर-पश्चिम से अशोक के साम्राज्य की सीमा मध्य-एशिया के दक्षिण-पूर्व के कोण तक पहुँच जाती है । अशोक का इन प्रान्तों पर अधिकार न मानने का कोई कारण नहीं है ।

इस भूभाग से लगे दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान तथा आधुनिक सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब (गन्धारादि) अशोक के अधिकार में थे यह उसके अभिलेखों के विवरण तथा चीनी यात्री हुएन्-च्वांग के सम्मिलित प्रमाणों से प्रमाणित है । उसके शिलालेख शहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) और मनसेहरा (हजारा जिला) में मिले हैं । इसके अतिरिक्त हुएन्-च्वांग

ने उसके बनवाए स्तूप काफिरिस्तान (कपिष्ठा) और जलालाबाद में देखे थे।

हुएन्-च्वांग और कलहण दोनों अशोक को काश्मीर का अधिपति मानते हैं। राजतरंगिणी में तो उसके काश्मीर सम्बन्धी अनेक कृत्यों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त अन्य अनुश्रुतियों से भी अशोक का उस देश में अनेक स्तूप और चैत्य बनवाना प्रमाणित है। श्रीनगर के निर्माण का श्रेय भी उसी सम्राट् को दिया जाता है। जिस नरेश का इस देश से इस प्रकार का संपर्क रहा हा उसे उसका सम्राट् होना ही चाहिए।

ये तो हुई उत्तर-पश्चिमी और उत्तर की सीमाएँ। पश्चिम में यह साम्राज्य आसमुद्र फैला था, यह गरनार और सोपारा के शिलालेखों से प्रमाणित है। गरनार सौराष्ट्र में है और सोपारा थाना जिले में। रुदा-दामन् के जूनागढ़ वाले अभिलेख से सिद्ध है कि अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक पवती नदी की धार रोक कर अपने प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा एक भील बनवाई थी जिसमें से स्थानीय खेतों की सिंचाई के लिए अशोक के प्रान्तीय शासक यवन (ईरानी, ग्रीक नहीं) तुषास्प ने नहरें निकलवाईं।

दक्षिण में निजाम हैदराबाद और मैसूर की रियासतों तक अशोक के शिलालेख मिले हैं। मस्की और इरागुडी हैदराबाद में हैं और चतिकदुग मैसूर में। इस प्रकार ये स्थान भी उसकी शासन-परिधि के अन्तर्गत ही रहे होंगे। इनके बाद ही सुदूर दक्षिण में चोलों, पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के स्वतन्त्र राज्य थे।

पूर्व में भी इस साम्राज्य का विस्तार समुद्र तक था। बंगाल तो नन्दों के समय से ही मगध के आधिपत्य में था। हुएन्-च्वांग ने बंगाल के अनेक स्थानों में अशोक के बनवाए स्तूप देखे थे। फिर बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित

है कि सिंहल जाते हुए अपने पुत्र महेन्द्र तथा कन्या संघमित्रा को विदा करने सम्राट् स्वयं ताम्रलिप्ति (तावलुक) के बन्दरगाह तक गया था । कलिंग का उसके साम्राज्य में होना निर्विवाद है क्योंकि उसकी विजय स्वयं सम्राट् ने की थी । उसने वहाँ धौली (पुरी जिला) और जौगडा (गँजाम जिला) में दो शिलालेख भी खुदवाए थे । इससे समुद्र तक बंगाल तथा कलिंग का भी अशोक के साम्राज्य में होना प्रमाणित है ।

शुद्ध उत्तर में अशोक का सीमा-विस्तार हिमालय तक था । देहरादून जिले के कालसी तथा नैपाल की तराई के सम्मिलनदेई और निगलीवा में तो उसके अभिलेख ही मिले हैं । इसके अतिरिक्त अनुश्रुतियों से प्रमाणित है कि नैपाल भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था । वहाँ उसने ललित पाठन का नगर बसाया था जो आज भी खड़ा है और वहाँ वह अपनी दुहिता चारुमती तथा जामाता देवपाल क्षत्रिय के साथ गया था ।

पाँचवें और तेरहवें शिला लेख में अशोक ने कुछ ऐसी आधीनस्थ जातियों का वर्णन किया है जो उसकी सीमा पर बसती थीं और उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत थीं । इनके नाम निम्नलिखित थे :—योन (यवन), कम्बोज, गन्धार, रष्टिक-पेतनिक, भोज, नाभक-नाभपन्ती, अन्ध्र, और पारिंद अथवा पालद ।

हिमालय से चीतलदुग, हिन्दूकुश से बंगाल, और सौराष्ट्र से कलिंग तक का यह सुविस्तृत साम्राज्य अशोक द्वारा सुशासित भी हुआ । उसकी मौर्य-कालीन पैतृक पद्धति में स्वयं अशोक ने भी अनेक नई व्यवस्थाएँ की जो उसके धर्मपरिवर्तन के फलस्वरूप होनी आवश्यक थीं । इस साम्राज्य के शासन में उसका विशाल व्यक्तित्व उसके पूर्वजों के परिमाण में कहीं ऊँचा उठ गया ।

इस साम्राज्य का शासन-कार्य भी कुछ आसान न था । शासन सवेथा केन्द्रीय भी नहीं हो सकता था क्योंकि आने-जाने की सुविधाएँ बहुत कम

थीं और बड़े साम्राज्यों के केन्द्रीयकरण अथवा केन्द्रस्थ शासन में उनका अभाव उसके नाश का कारण सिद्ध होता है। ऐसी दशा में साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर ही उसका उचित शासन हो सकता था।

अशोक के समय में भी साम्राज्य का शासन प्रायः वही रहा जो उसके पितामह के समय था परन्तु उसके दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर पड़ गया। चन्द्रगुप्त के लिए यह साम्राज्य सर्वथा विजित था और उसका शासन वस्तुतः शस्त्र और शक्ति के आधार पर होता था। अशोक ने उस नीति को सर्वथा बदल दिया। उसे अपने पिता की भाँति सद्यः विजित जातियों के निरोध की आवश्यकता न थी, उसे जन-कल्याण और जीव-रक्षा के सिद्धान्त पर शासन करना था और इस हेतु उसे उस पैतृक शासन-पद्धति में कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा।

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वार्थ्य निरंकुश शासन का केन्द्र होने के कारण राष्ट्र की सारी शक्ति उसी के करों में केन्द्रित थी परन्तु इस नीति की परुषता को उसने अपने व्यक्तिगत स्नेहाभिसिंचन से स्निग्ध कर दिया। उसने राज-नीति के इतिहास में उस परम्परा का आरम्भ किया जिसे आज की भाषा में 'उदार-निरंकुश-शासन' कहते हैं। द्वितीय-कलिंग-शिला लेख में उसने अपने इस दृष्टिकोण को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है :—“सारी प्रजा (मनुष्य) मेरी सन्तान है और जैसे मैं अपनी सन्तान के लिए इस लोक और परलोक में सब प्रकार के सुख और समृद्धि की कामना करता हूँ वैसे ही मैं अपनी प्रजा के सुख-समृद्धि की कामना करता हूँ।” इस सन्तति-निग्रह, कल्याण और शिक्षण कार्य के अर्थ ही उसने ऐसे शासक नियुक्त किए जो सफल धाय की भाँति प्रजा का भार वहन कर सकें (स्तम्भ लेख ४)। उत्तरदायित्व के इस असाधारण विचार के कारण वह प्रजार्थ साधन में निरन्तर व्यस्त रहने लगा। छोटे शिलालेख में उसने अपने पूर्वगामी राजाओं की उपेक्षा-नीति की ओर संकेत किया है और घोषणा की है कि अपनी प्रजा के कार्य-संपादन के अर्थ सर्वदा और सर्वत्र सेव्य होगा। उसके लिए वह कोई समय और स्थान-विशेष

निश्चित न करेगा । चाहे वह भोजनालय में हो, शय्यागार में हो, उपासनागृह में हो सर्वत्र-सर्वदा वह अपने अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत प्रजा के कार्य करेगा । परन्तु इतना करके भी क्या उसकी अन्तर्चेतना को अभिवृत्ति होती थी ? उसी अभिलेख में वह कहता है कि इतना करके भी वह सन्तोष लाभ न करता था । और इस कार्य-व्यस्तता का परिणाम, परितोष अथवा पुरस्कार क्या था ? “भूतानां अनन्तं गच्छेयम्”—प्राणियों के प्रति उसका ऋण-मोक्ष !

इस ऋण-मोक्ष के अर्थ सतत सयत्न होने में उसे कुछ नए साधनों, नए अधिकारी-सहायकों की आवश्यकता पड़ी और उसने अपनी पैतृक शासन-व्यवस्था में यथोचित परिवर्तन कर उनकी नियुक्ति की । पहले के शासन-विधान में विभागाध्यक्षों अथवा महामात्रों की व्यवस्था थी परन्तु नए धार्मिक दृष्टिकोण से राज्य चलाने के लिए अब एक नए प्रकार के अध्यक्षों अथवा महामात्रों की आवश्यकता पड़ी जो प्रजा की आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में सहायता कर सकें । विविध सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्ध की देख-भाल, दान-वितरण, वर्धक्य, सन्तति-बाहुल्य आदि के आधार पर दण्ड में कमी करा कर अथवा शरीर यन्त्रणा (परिबाध) का निषेध कर न्याय की कठोरता को करुण करना इन धर्म महामात्रों के अनेक कार्य थे ।

इस धर्म-विभाग के अन्तर्गत अनेक अन्य कर्मचारी भी थे । वास्तव में राजा के प्रजार्थ-साधन के कार्य तभी सम्पन्न हो सकते थे जब वह अपनी प्रजा की आवश्यकताएँ समझ सकता और उनके दुःख-सुख जान सकता । इस प्रजा पर्यवेक्षण के अर्थ उसने ‘राजुकों’ ‘प्रादेशिकों’ से लेकर ‘युक्तों’ तक को आदेश किया कि वे प्रत्येक पाँचवें, अथवा आवश्यकतावश, प्रत्येक तीसरे वर्ष जनपदों में दौरा (अनुसंधान) करें जिससे वे ग्रामवासिनी प्रजा के स्पर्श में आ सकें (शिलालेख ३ और कलिंग शिलालेख १) ऊपर उन प्रतिवेदकों (पटि-वेदकों) के कर्तव्य के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है जो अशोक तक नित्य सर्वदा और सर्वत्र प्रजा की आवाज सुना सकें (शिला लेख ६) । ‘राजुकों’

का पद तो पैतृक शासन-विधान में ही था परन्तु अशोक ने उनके कर्तव्यों की फिर से परिभाषा की। ये 'लाखों प्राणियों पर नियुक्त थे,' लाखों का सुख-दुःख इनके हाथ था इससे सम्राट् ने इनको गौरव-वितरण (अभिहाले) तथा दण्ड के क्षेत्र में स्वतन्त्र कर दिया जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन आत्म-विश्वास और निर्भीकतापूर्वक कर सकें। शासक के हाथ बँध जाने पर जहाँ निरंकुशता का नियन्त्रण होता है वहीं अनेक बार उदारता का व्यवहार क्षेत्र भी उसका सकुचित हो जाता है। अशोक इस बात को भली भाँति जानता था कि मौर्य दण्ड-विधान में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनका अक्षरशः पालन न्याय को खतरे में डाल देगा। इस कारण उसने इन राजुकों के कर्तव्य-कार्यों में एक अंश यह और जोड़ दिया कि वे दण्ड और व्यवहार (कानून) में समता लाने का प्रयत्न करें (स्तम्भ-लेख ४)।

इनके अतिरिक्त अशोक ने अपने विधान में एकाध और नवीकरण भी किए। अपने राज्याभिषेक के वार्षिक उत्सव पर वह बन्धियों को मुक्त करने (स्तम्भ-लेख ५) और बन्धियों को तीन दिन की छूट भी देने लगा (स्तम्भ-लेख ४)। इस प्रकार धर्म महामात्रों और प्रतिवेदकों की व्यवस्था, राजुकों-प्रादेशिकों, युक्तों के पंचवर्षीय अथवा तृवर्षीय दौरों का प्रबन्ध, राजुकों के परिवर्द्धित अधिकृत और विशिष्ट दिनों पर बन्धियों को मुक्त आदि करने के विधान सम्राट् के शासन की नयी योजनाएँ और सुविधाएँ थीं जिनसे उसने पैतृक शासन की परुष व्यवस्था को विनम्र किया और अपने नए सुकदर मानव-सिद्धान्तों की उसमें पुट दी।

शासन की साधारण पूर्ववत् व्यवस्था इस प्रकार थी। नित्य के राज-कार्य में एक मन्त्रि-परिषद् सम्राट् को सहायता करता था (शिलालेख ३ और ६) साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था जिनके पृथक्-पृथक् प्रान्तीय शासक थे। शिलालेखों के 'राजु' (रुद्रदामन के राष्ट्रीय) सम्भवतः इन्हीं प्रान्तों के शासक थे जो 'लाखों प्राणियों' के कल्याणार्थ नियुक्त थे। इन प्रान्तों के अतिरिक्त साम्राज्य के कुछ महत्त्वपूर्ण शासन-केन्द्र थे जिनके शासक साधारण प्रान्तीय

शासकों से पद में ऊँचे थे। इस प्रकार के शासन-केन्द्र अशोक के पिता के समय में चार थे : (१) तक्षशिला, (२) उज्जयिनी, (३) तोसली (धौली), और सुवर्णगिरि। ऊपर लिखा जा चुका है कि क्रमशः सीमा प्रान्त तथा वणिक्पथ पर अवस्थित होने के कारण तक्षशिला और उज्जयिनी के केन्द्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। तोसली सुदूर पूर्व कलिंग में थी और सुवर्णगिरि यद्यपि अनिश्चित है परन्तु कुछ आश्चर्य नहीं यदि यह दक्षिणी प्रान्तों का शासन-केन्द्र रहा हो। अपनी कुमारावस्था में स्वयं अशोक उज्जयिनी का शासक रह चुका था और उसका अप्रज सुधीम तक्षशिला का। असाधारण उत्तरदायित्व और गौरव के विचार से इन पदों पर साधारणतया राजकुलीय व्यक्ति (कुमार) ही नियुक्त होते थे। कभी-कभी विश्वासपात्र सामन्त भी इस पद के उपयुक्त समझे जाते और उस पर नियुक्त किए जाते थे। यवनराजा तुषास्प इसी प्रकार का सौराष्ट्र का प्रान्तीय सामन्त-शासक था। सौराष्ट्र का प्रान्त भी इन्हीं प्रमुख शासन-केन्द्रों की ही भाँति महत्त्वपूर्ण था। वस्तुतः वह साम्राज्य का एक रन्ध्र (दुर्बल सन्धि-स्थान) था। स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य ने वहाँ अपने विश्वास पात्र पुष्यगुप्त वैश्य को नियुक्त किया था और उसी प्रान्त की शासक-नियुक्ति ने स्कन्दगुप्त को कई रातें जागृत रखा था (जूना-गढ़ का शिलालेख)। उसी आधार से पश्चात्काल में शकों और हूणों ने भारत की स्वर्णभूमि मालवा पर अधिकार किया था। इस प्रकार सौराष्ट्र को भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र होने का गौरव प्राप्त था और उसकी राजधानी गिरनार थी। इन प्रान्तीय शासकों के भी अपने अपने अमात्य (अमात्य-परिषद्) होते थे जैसा कलिंग-शिलालेख तथा सारनाथ के लघु-स्तम्भ-लेख १ से प्रमाणित है। गन्धार की जनता ने सुधीम के शासन-काल में उसको तक्षशिला-स्थित इन्हीं अमात्यों के विरुद्ध विद्रोह किया था।

अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि प्रान्तीय राजुकों के नीचे 'प्रादेशिक' होते थे जो प्रदेश के शासक थे। उनका अधिकार सम्भवतः वर्तमान कमिश्नरियों के से प्रदेशों पर था। इन शासकों के अतिरिक्त साम्राज्य

की 'सेक्रेट' में भी ऊँचे-नीचे अनेक राजकर्मचारी थे। विविध विभागों के प्रधान 'मुख' (स्तम्भ-लेख ७) अथवा 'महामात्र' कहलाते थे। उदाहरणतः अन्तःपुर के 'मुख' को स्त्र्यध्यक्ष-महामात्र, नगर के अध्यक्ष को नगर व्यवहारक-महामात्र तथा सीमा-प्रान्त के रक्षक को अन्त-महामात्र कहते थे। नागरिक-शासन के अधिकारी 'पुरुष' कहलाते थे और उनके उच्च, मध्य और निम्न वर्ण थे। निम्न-स्तरीय अधिकारियों की साधारण संज्ञा 'युक्त' थी।

३

अशोक मानवता के गुणों में जिस प्रकार महान् था, पार्थिव निर्माणों में भी वह उसी प्रकार महान् था। जैसे सुविस्तृत साम्राज्य पाकर उसने उसे त्याग और दान से समृद्ध और दया तथा सहिष्णुता से शालीन बनाया वैसे ही वास्तु-शिल्प और तक्षणा-भास्कर्य से उसने उसे विभूषित भी किया। अशोक निःसीम निर्माता था और जिस प्रकार उसके यश के आधार उसके उपदेश हैं उसी प्रकार उसके शिल्प कार्य भी हैं; वस्तुतः वे ही उन उपदेशों के आधार और हमारे निकट उन्हें पहुँचाने के साधन भी हैं—उसके अमर-अभिलेखों की पृष्ठभूमि: शिलाएँ, दरीगृहों की दीवारें, स्तम्भ।

उसने उस सुविस्तृत 'विजित' में (महाल के द्विविजित) में अनेक नगर और राजप्रासाद; स्तूप और दरी-गृह; वास्तु और भास्कर्य के अप्रतिम प्रतीक; हृद और क्षेत्र-प्रणालिकाएँ; कूप और तरुसेवित राजपथ; विश्राम-शालाएँ और आभ्रबाटिकाएँ; चिकित्सालय और औषधि-उद्यान बनवाए। उसके निर्माण-कार्य का जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सदियों की जन-श्रुति ने उसे तीन वर्ष के अल्पकाल के भीतर चौरासी सहस्र स्तूपों का निर्माता घोषित किया। अनुश्रुतियों में उसके बसाए दो नगरों का विशेष उल्लेख है। इनमें से एक तो कश्मीर की राजधानी श्रीनगर है, दूसरा नैपाल का प्राचीन नगर ललितपाटन। जान पड़ता है कि अशोक ने अपने पितामह द्वारा निर्मित

पाटलिपुत्र के राजप्रासाद में इतने परिवर्तन किए अथवा कुछ सर्वथा नए बनवाए जिनको चीनी यात्री फाह्यान ने पाँचवीं सदी ईस्वी के आरम्भ में देखा था और जिसका उसने बखान किया है। वह लिखता है :—“राजप्रासाद और भवन (हाल) नगर के बीच प्राचीन काल की ही भाँति आज भी खड़े हैं। उनका निर्माण उसके (अशोक के) द्वारा प्रयुक्त देवों ने किया था, जिन्होंने पत्थर के ऊपर पत्थर रखे, दीवारें और द्वार खड़े किए, उत्खनन और तक्षण-कार्य सम्पादित किए जो इस धरा पर मनुष्य नहीं कर सकते थे।” निःसन्देह चमत्कृत फाह्यान का यह वर्णन उस दर्शनीय प्रासाद के जादू से प्रभावित है। काल के प्रभाव ने इन प्रासादों को नष्ट कर दिया है परन्तु निःसन्देह जब कुछ अवशेष दोख जाते हैं तो दर्शक उसी प्रकार कला की चातुरी से स्तब्ध हो जाता है जैसे बाँकीपुर (पटने) में खोद कर निकाले भग्नस्तम्भों के पत्रालंकृत अवशेष देख कर विख्यात पुराविद् स्मिथ रह गया था।

इसी प्रकार अशोक के बनवाए विहारों में से भी कोई नहीं बच रहा। इमारत के रूप में यदि कोई निर्माण-कृति अपेक्षाकृत रक्षित-अवस्था में बच रही है तो वह है अशोककालीन साँची के स्तूपों की परम्परा। साँची से थोड़ी ही दूर पर उज्जैन है जहाँ युवराजावस्था में अशोक ने शासन किया था। इनके तोरण-द्वार प्रस्तर-कला के अद्भुत चमत्कार हैं यद्यपि उनका निर्माण-काल अशोक के कुछ बाद हो सकता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी ‘फ़िनिश’ और ‘टेकनीक’ सर्वथा मौर्यकालीन है।

अशोक की एक अन्य प्रकार की निर्माण-कृति बराबर की पहाड़ियों (गया जिला) के दरौगृह हैं। ठोस-खड़ी पहाड़ियों की चट्टानों को काट कर सुन्दर आवास बने हैं जिनकी दीवारें एक प्रकार की मौर्यकालीन पालिश से शीशे की भाँति चिकनी कर दी है। ये गुफाएँ आजीविक सम्प्रदायालम्बियों के निवास के अर्थ निर्मित हुई थीं।

इस सम्राट् के सबसे महत्वपूर्ण निर्माणों में उसके प्रस्तर-स्तम्भ और अभिलेख हैं। इन स्तम्भों की कला अप्रतिम है और इनका आश्चर्यजनक 'फ़िनिश' भारतीय वास्तु का गौरव। ये अभिलिखित अथवा अनभिलिखित स्तम्भ ऊँचाई में प्रायः पचास फ़ीट है और वजन प्रायः पचास टन। ये मोम-बत्ती की भाँति नीचे मोटे हैं और ऊपर पतले और उसी की भाँति सर्वथा निष्कलंक। इनके दो भाग हैं, नीचे का दण्ड और ऊपर का मस्तक। यह मस्तक ईरानी अनुकरण में बना माना जाता है। इसके तीन भाग हैं—नीचे घंटानुमा आकृति जिसे हैबेल ने अधो 'मुख कमल' कहा है, बीच का ड्रम और ऊपर की कोरी पशु-मूर्ति। ड्रम के ऊपर अनेक पशु और चक्रादि की आकृतियाँ बनी होती हैं और ऊपर सिंह, वृषभ, अश्व, तथा गज में से कोई एक है। सारनाथ के स्तम्भ पर चार सिंह बने हुए हैं। इन पशुओं की शिराएँ साफ़ निकली हुई हैं और इन स्तम्भों पर कोरे हुए पशु सर्वथा सजीव हैं। इनकी यष्टि अथवा मस्तक पर एक प्रकार की ऐसी पालिश है कि उनके धातु के बने होने का धाँसा होता है। यह पालिश सर्वथा मौर्यकालीन है जो अशोक के पश्चात् भारत से एकाएक उठ गई। सर जान मार्शल ने तो इन स्तम्भों की सफ़ाई और पशुओं की सजीवता देख कर लिखा है कि इस प्रकार की निखार और आकृति की सुषुप्तता सारी 'अथेनियन' कला में कहीं नहीं मिलती।

ये स्तम्भ एक ही प्रस्तर-खण्ड से निर्मित हैं और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उनकी ऊँचाई प्रायः ५० फ़ीट और वजन प्रायः ५० टन है। ये चुनार पत्थर के बने हैं और विशेषज्ञों का विश्वास है कि चुनार में ही कोर और 'फ़िनिश' करके ये अपने विभिन्न स्थानों को भेजे गए थे। यह भी एक पहेली है। इतने ऊँचे और वजनी एकखण्डीय स्तम्भों का चुनार से निजाम की रियासत हैदराबाद तक हजार मील से ऊपर ले जाना भी कुछ आसान न था जब जरा सा गिर पड़ने से भी क्षति की सम्भावना थी और जब उस आने जाने की सुविधाओं के अभाव में विस्तृत जंगलों, ऊँचे पहाड़ों और गहरी

नदियों का पार करना अनिवार्य था। विन्सेन्ट स्मिथ ने इस कठिनाई को स्पष्ट करने के लिए एक मनोरंजक घटना का वर्णन किया है। तुगलक वंश के फ़िरोज़शाह ने जब दिल्ली फिर से बसाई तब उसे इन स्तम्भों द्वारा सुन्दर करने की सूझी। टोपरा में जो दिल्ली से केवल बारह मील की दूरी पर है, अशोक का एक स्तम्भ खड़ा था। उसे दिल्ली लाने के लिए उसने अपने इंजिनियरों से तरीका पूछा। असाधारण निर्माता होने के कारण सारे एशिया के कुशल वस्तु-विशारद उसके दरबार में उपस्थित थे परन्तु कोई ठीक उपाय न बता सका। आखिर एक इन्तजाम से स्तम्भ दिल्ली लाया गया। उसके पास रुई का एक ढेर लगा कर पास कतार में ४२ बैलगाड़ियाँ खड़ी की गईं और ज़मीन खोद कर स्तम्भ इन पर धीरे-धीरे गिरा दिया गया। फिर इन गाड़ियों में से प्रत्येक को बैलों की बजाय २०० आदमी खींचने लगे और इस प्रकार ८४०० आदमी उस एक स्तम्भ को खींच कर बारह मील पर दिल्ली ले आए, फिर ये दक्षिण में पर्वत, वन और नदियाँ लौंघ कर कैसे पहुँचे होंगे यह कल्पनातीत है।

इसी प्रकार मौर्य-कला की निखार और 'फ़िनिश' के सम्बन्ध में भी एक समस्या खड़ी हो गई है। प्रश्न यह है कि क्या मौर्य कला भारतीय है? कला की पराकाष्ठा सदा विकास की चरम सीमा होती है। आकस्मिक अप्रत्याशित नैसर्गिक चमत्कार उसमें नहीं हुआ करते। सचेत सोद्देश्य कर्षण उसका मार्ग है, स्रोतीय प्रवाह उसका विकास-क्रम। इस विकास-क्रम की अनिवार्य मंजिलें होती हैं। भारत के सुदूर अतीत में प्रायः ३२५० ई० पू० और २७५० ई० पू० के बीच सैन्धव सभ्यता के केन्द्र मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा में मूर्तिकला खूब फूली फली। आकृतियों की शक्ति और सजीवता में सैन्धवकला प्राचीन जगत् में अपना सानो नहीं रखती और इस क्षेत्र में आज का संसार भी उस जोड़ की चीजें आसानी से नहीं प्रस्तुत कर सकता। और यदि उस काल की कला के साथ इस मौर्य कालिक कला का गृह्णित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता तो निःसन्देह यह उससे विकसित कला भारतीय मानी जाती परन्तु

दोनों में प्रायः तीन हजार वर्षों का अन्तर होने से इसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती बल्कि, इसके विरुद्ध तो, मौर्यकला का शीघ्र पूर्वगामी मथुरा का पारखम यत्न है ! इस कारण भारत में इस प्रकार की सुचिक्कण और चोटी की कला का सहसा फूट पड़ना विदेश के प्रभाव का ही परिणाम हो सकता है । इस काल से प्रायः तीन सौ वर्ष पूर्व ईरान और भारत में घना सम्पर्क स्थापित हुआ था जब इस देश के सिन्ध और पश्चिमी पंजाब ईरान का एक प्रान्त (बीसवीं सत्रपी) बन गया था । इस प्रकार की स्तम्भ-कला विशेष कर सप्त सिंहों और वृषभों की अस्सीरी और ईरानी दोनों कलाओं में मिलती है । फिर इस प्रकार का आदान सर्वथा एकाकी भी नहीं है । अशोक से पहले अभिलेखों की प्रथा भारत में कभी न थी । इसके विरुद्ध ईरान में चट्टानों और स्तम्भों आदि पर दिग्विजय-प्रशस्ति तथा घोषणाएँ खुदवाना प्राचीन काल से एक साधारण व्यवहार चला आता था । दारयवौष् (दारा, डेरियस) के अनेक अभिलेख इसके प्रमाण हैं । कुछ विस्मय की बात नहीं यदि अभिलेखों में अपने को 'आर्याणां आर्य' और 'बत्रियाणां बत्रिय' घोषित करने वाले इस ईरानी सम्राट् का कारणवश अनुकरण करने में अशोक की सरल प्रकृति ने अपनी अवमानना न समझी हो । इसके अतिरिक्त अशोक ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में प्रचलित अभिलेखों के लिए ईरान में चलने वाली दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि का आस्त्रि उपयोग किया है । फिर उसके प्रत्येक लेख के आरम्भ में 'देवानं पिय पियदसी लाजा देव आहा' भी प्रायः वही भूमिका उपस्थित करता है जो ईरानी सम्राट् का । पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबारी व्यवहारों में से कुछ ईरानी माने ही जाते हैं, विशेष कर उसका दरबार में केशाभिषेक । इस प्रकार ईरानी और भारतीय सस्कृतियों के स्वाभाविक आदान-प्रदान के फलस्वरूप मौर्यकला का विकसित होना कुछ विस्मयकारक नहीं है । कुछ भी हो थी यह कला अत्यन्त सशक्त, अप्रतिम और अद्भुत ।

अब हम अशोक के अभिलेखों पर विचार करेंगे जो संसार के अभिलेख-

साहित्य में विस्मयजनक, अपूर्व, अद्भुत और श्रेष्ठ हैं। सादी सरल जनभाषा (पाली) में अशोक के उपदेश-शब्द शताब्दियों का कालान्तर लौंघ कर जैसे आज भी सुन पड़ते हैं। उसके उपदेश, उसके आचार व्याख्यान, उसके अनु-शासन, शिलाओं पर, दरीगृहों की दीवारों पर, स्तम्भों पर खुदे हैं जिससे काल का प्रभाव उन पर कम हो और लोग उन्हें बराबर पढ़ते रहें। इनको घनी आबादियों में रखा गया था जिससे लोग उनसे लाभ उठा सकें। जिन स्थानों पर पर्वत-शिलाएँ न थीं वहाँ सुदूर चुनार से स्तम्भों की व्यवस्था की गई। सम्राट् ने अपने एक वक्त्रव्य (लघु-शिलालेख १) में स्वयं कहा है कि उसके विचार 'शिलाओं और स्तम्भों पर खुदवाने चाहिये।'

इन अभिलेखों के निम्नलिखित आठ प्रकार हैं :—

१. दो लघु-शिलालेख : इनमें से सं० दो मैसूर के चीतलदुग जिले में सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर मिला है। सं० १ ऊपर के स्थानों पर तो मिला ही है रूपनाथ (जबलपुर जिला), सहसराम (आरा जिला), बैराट (जैपुर के निकट) और निजाम की रियासत में मस्की, गविमठ, पल्कीगुण्डु तथा इराटुडी में मिला है।

२. भद्र अभिलेख ।

३. चतुर्दश शिला-लेख जो शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) और मनसेहरा (हजारा जिला); जूनागढ़ के निकट गिरनार; सोपारा (थाना जिला); काल्सी (देहरादून जिला); धौली (पुरी जिला) और जौगडा, (गंजाम जिला); और इरागुडी (हैदराबाद रियासत) में मिले हैं।

४. एकादश, द्वादस और त्रयोदश शिलालेखों के बजाय धौली और जौगडा में दो कलिंग पृथक् लेख।

५. बराबर दरीगृह के तीन अभिलेख।

६. सप्त-स्तम्भ-लेख जिनकी आज अपने प्राप्ति स्थानों के कारण निम्नलिखित संज्ञा है :—

१. टीपरा-दिल्ली; २. मेरठ-दिल्ली; ३. कौशाम्बी-इलाहाबाद; ४. राम-पुरवा; ५. लौरिया-अरराज; ६. लौरिया-नन्दनगढ़। इनमें से अन्त के तीन बिहार के चम्पारन जिले में हैं।

७. रुमिन्देई और निगलोवा के दो तराई के अभिलेख।

८. सौंची, कौशाम्बी-इलाहाबाद और सारनाथ के लघु-स्तम्भ-लेख।

इनमें से शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के शिलालेख तो दाहिने से बाईं ओर को लिखी जाने वाली खरोष्ठी-लिपि में और शेष सारे अभिलेख बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाने वाली ब्राह्मी-लिपि में लिखे हैं। प्रमाणित है कि सीमाप्रान्त अथवा पश्चिमी पंजाब के लोग उसी खरोष्ठी-लिपि में लिखते-पढ़ते थे।

लघु-शिलालेख प्रथम अशोक के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालता है और द्वितीय में 'धर्म' का संक्षिप्त विवरण है। भाबू-अभिलेख बौद्ध धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें उसने सात सैद्धान्तिक स्थलों का परिगणन किया जो उसके मत से स्मरणीय थे। चतुर्दश-शिलालेखों में अशोक के शासन-सिद्धान्त तथा आचार-उपदेश निरूपित हैं। ये शिलालेख दूरस्थ प्रान्तों (सीमाप्रान्तों) में मिले हैं। सम्भवतः सम्राट् इस मत का था कि केन्द्रीय प्रान्तों में प्रशासन के अन्य साधन प्राप्त होने के कारण उपदेशों को शिलालेखों पर खुदवाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु बाद में उसने अपने उपदेशों का एक नया संस्करण उन प्रान्तों में भी प्रचारित करने के अर्थ उन्हें स्तम्भों पर भी खुदवाया। कलिंग के दो अभिलेख चतुर्दश-शिलालेखों के पूरक हैं। इनमें इस नवविजित प्रदेश तथा इसकी सीमा पर बसने वाली वन्य

जातियों के प्रति प्रयुक्त शासन-नीति का निरूपण है। परन्तु वहाँ के अभिलेखों में अनुपयुक्त होने के कारण साधारण क्रम के एकादश, द्वादश और त्रयोदश शिलालेखों का अभाव है। दरीगृह के अभिलेख अशोक की सहिष्णुता प्रमाणित करते हैं। ये आजीविकों के आवास के अर्थ दिए गए थे। आजीविक अश्वीद, तपशील और प्रारब्धवादी थे। तराई अभिलेखों में रुम्मिन्देई का लेख, बुद्ध का जन्म-स्थान और अशोक की तीर्थयात्रा प्रमाणित करता है और इसके अक्षर पूर्णतया सुरक्षित हैं। निगलीवा के अभिलेख से सिद्ध है कि अशोक गौतम बुद्ध के अतिरिक्त अन्य पूर्वगामी बुद्धों के प्रति भी श्रद्धालु था।

सात-स्तम्भ-लेख चतुर्दश-शिलालेखों के उपसंहार हैं। अब तक अशोक प्रायः तीस वर्ष राज कर चुका था, इससे उसने अपने पुराने उपदेशों के नवीकरण तथा महत्वांकन की आवश्यकता समझी। इनमें पशुओं की रक्षा का विस्तार उल्लेख है। सातवें में धर्म के प्रसार के उद्योगों का परिणाम है। लघु-स्तम्भ-लेखों में संघ-भेदकों के दण्ड का विधान है। अशोक के इन सारे अभिलेखों का आलेखन २५७ ई० पू० और २३१ ई० पू० के बीच हुआ था।

४

अशोक के धर्म, शासन, निर्माण-कौशल, अभिलेखों आदि पर विचार कर चुकने के बाद अब उसके परिवार और उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ वक्तव्य उपादेय होगा।

अशोक की माता विमाताओं तथा भ्राताओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। स्वयं वह भी बहुपत्नीक था। उसके अभिलेखों और अनुश्रुतियों से उसकी पाँच रानियों का पता चलता है। ये निम्नलिखित थीं—वेदिस्मिनि की देवी (सिंहली इतिहासों के आधार पर) २. कारुवाकी (अभिलेखानुसार)

३. असन्धिमित्रा; ४. पद्मावती (दिव्यावदान, २७); और ५. तिष्यरक्षिता (वही) । उसके सम्भवतः चार पुत्र थे—१. देवीपुत्र महेन्द्र; २. कारुवाक्यी पुत्र तीवर; ३. पद्मावती पुत्र कुणाल; और ४. राजतरंगिणी में उल्लिखित जलीक । उसकी कन्याओं में एक तो देवीपुत्री संघमित्रा थी जो भाई महेन्द्र के साथ सद्धर्म के प्रचारार्थ सिंहल चली गई, दूसरी चारुमती थी जो नैपाल में जा बसी । अशोक के जामाता भी दो थे—१. अग्नि-ब्रह्मा (संघमित्रा का पति) और देवपाल वज्रिय (चारुमती का भर्ता) । उसके पौत्र दो थे—दशरथ और सम्प्रति (कुणाल पुत्र)—और नाती एक—संघमित्रा का पुत्र सुमन—था ।

अपने शासन के अन्त में अशोक संघ की ओर सम्भवतः अन्यधिक आकर्षित हुआ और उसने उसे प्रभूत दान दिए । अन्त में उसके दानों का परिमाण इतना बढ़ा कि राजकोष रिक्त हो गया । दिव्यावदान के एक स्कन्ध अशोकावदान में इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक कथा लिखी है । उससे विदित होता है कि कुणाल-पुत्र सम्प्रति तब युवराज था और जब अमात्य राधगुप्त संघ के प्रति अशोक के अनुत्तरदायी दानों की अट्ट धारा से लुब्ध हो गया तब उसने युवराज को प्रभावित कर संघ को दान बन्द कर दिए । राजा भी कुपित हुआ और एक बार जब आया तब सम्राट् ने पूछा—राधगुप्त, राजा कौन है ? उत्तर मिला—सम्राट् ! सम्राट् उस समय आमलक खा रहे थे । आमलक दिखा कर कहा कि मुझे तो इस आधे खाए हुए आमलक तक को किसी को देने का अधिकार नहीं है, मैं राजा क्यों कर हूँ ? अशोकावदान के प्रमाण से विदित होता है कि अशोक को अन्त में लाचार होकर अपनी गद्दी अपने पौत्र सम्प्रति को दे देनी पड़ी । २३२ ई० पू० के लगभग अशोक मरा अथवा उसने सिंहासन छोड़ा ।

उसके उत्तराधिकारियों के संबन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । महेन्द्र तो पहले ही प्रव्रजित हो गया था । अभिलेखों में तीवर को

छोड़ अशोक के और किसी पुत्र का नाम नहीं आता । उसका नाम भी केवल एक बार आया है । अनुश्रुतियों में भी उसका विशेष उल्लेख नहीं मिलता । कुछ आश्चर्य नहीं यदि वह पिता के जीवन-काल में ही मर गया हो । अशोक के अन्य पुत्रों—कुणाल और जलौक—के विषय में कुछ आनुश्रुतिक और साहित्यिक प्रमाण सुरक्षित हैं ।

कुणाल के संबन्ध में तो कहा जाता है कि उसके नेत्र कुणाल पक्षी की भाँति सुन्दर थे । अशोक ने अपनी वृद्धावस्था में तिष्यरक्षिता नाम की एक कामुकी तरुणी से विवाह किया था । कुणाल के नेत्रों से आकृष्ट होकर उसने उसका अनुराग चाहा । कुणाल के अनाकृष्ट आचरण से उत्तप्त होकर उसने सम्राट् को प्रभावित कर कुणाल के सुन्दर नेत्र निकलवा लिए । कुणाल तब तक्षशिला का शासक था । नहीं कहा जा सकता कि इस कहानी में ऐतिहासिक तथ्य कहाँ तक है । इतना अवश्य है कि दक्षिणी अनुश्रुतियों में अन्धा होने के कारण कुणाल को गद्दी न मिलने की बात लिखी है परन्तु वायु पुराण में उसके आठ वर्ष राज करने की बात लिखी है । सम्प्रति इसी कुणाल का पुत्र था ।

जलौक अशोक के शीघ्र बाद काश्मीर में स्वतन्त्र हो गया । उसकी सविस्तर कथा कल्हण की राजतरंगिणी में दी हुई है जिससे विदित होता है वह शैव था और उसने कुछ विदेशी आक्रमकों को निमन्त्रित किया और स्वयं कन्नौज तक धावे मारे ! कन्नौज तक उसका आक्रमण चाहे सही न हो परन्तु इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मौर्य साम्राज्य की चूलें अब हिल गई थीं और अब उस पर आक्रमण की बात सोची जा सकती थी । इससे गृह-द्वेष भी कुछ अंश में प्रगट होता है । निश्चय अशोक के समर्थ व्यक्तित्व के हटते ही साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्त स्वतन्त्र होने के उपक्रम करने लगे थे ।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अशोक के पश्चात् मगध की

गद्दी पर कौन बैठा। जैन अनुश्रुतियों में सम्प्रति को जैन धर्म का प्रबल उपासक और प्रचारक कहा गया है। उसे सारे भारत का स्वामी बताया गया है यद्यपि एक अनुश्रुति में उसके पश्चिमी भारत का राजा और उज्जैन में उसकी राजधानी होने की बात समर्थित है। इससे कम से कम यह तो स्पष्ट है कि सम्प्रति मगध का राजा था, यद्यपि उसका विशेष आकर्षण पश्चिम के प्रान्तों को ओर था। उसका राजा होना अशोकावदान से भी प्रमाणित है जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है।

परन्तु वायु और मत्स्य पुराणों में सम्प्रति के पूर्व दशरथ के राज करने का उल्लेख है। दशरथ अशोक का पौत्र था और उसकी ऐतिहासिकता नागार्जुनी-दरोगृह के अभिलेख से प्रमाणित है। संभवतः उसने सम्प्रति से कुछ पहले राज किया। दशरथ और सम्प्रति दोनों का शासन अल्पकालिक था। पुराणों में इनके और बृहद्रथ के बीच के अनेक राजाओं का उल्लेख है। बौद्ध और पौराणिक मौर्य-राजवंश-तालिकाओं में पर्याप्त अन्तर पड़ गया है परन्तु इतना सही है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् ही साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चली और उसके प्रान्त बिखर चले। दशरथ और सम्प्रति के अल्पकालिक शासन भी प्रायः धर्मप्रिय ही रहे। वीरसेन गंधार और काबुल में स्वतन्त्र हो गया और जलौक काश्मीर में। जलौक देश के भीतरी प्रान्तों पर भी छापे मारने लगा, उधर विदेशी शक्तियाँ भी भारत की दुर्बलता से लाभ उठाने के स्व देखने लगीं।

काश्मीर के उत्तर-पश्चिम में वज्जु-घाटी का बाकूत्री प्रदेश अशोक के जीवन-काल में ही सीरियक साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गया था और वहाँ सशक्त ग्रीक राज्य प्रतिष्ठित हो चुका था। जब तक अशोक जीवित रहा उसका प्रभाव, आक्रमकों को संयत रखे रहा परन्तु उसके मरते ही बाह्य शक्तियों का लोभ जगा। अशोक की गद्दी पर दुर्बल राजा बैठे यह तो सत्य है परन्तु यह भी गलत नहीं कि साम्राज्य की दुर्बलता का कुछ अंश तक कारण स्वयं उसकी असैनिक धार्मिक नीति भी थी। अब बाकूत्री के राजाओं ने भारत की

और अपनी दृष्टि फेरी। दिमित्रिय ने शालिशूक के समय भारत पर आक्रमण किया और पश्चिमी प्रान्त विजय करता मगध के हृदय पाटलिपुत्र तक आ धमका। उत्तर-पश्चिमी सीमा तथा पंजाब में ग्रीक राज्य खड़े हो गए। स्वयं भारत में मौर्यों की दुर्बलता लोगों को असह्य हो उठी थी। मौर्य-कुल के अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके पुरोहित-सेनापति पुष्यमित्र ने सेना के सामने ही मार कर गद्दी छीन ली और मगध में ब्राह्मण राजकुल की प्रतिष्ठा की। भारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की यह परिणति थी जिसमें सैनिक पुष्यमित्र और दार्शनिक पतंजलि दोनों का योग था।

४

‘भारत का राजा’ डेमेट्रियस

१

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य विभक्त हो गया था और विभाजन में सबसे बड़ा भाग उसके सेनापति सेल्यूकस को मिला था। वैसे तो सेल्यूकस सीरिया का राजा हुआ परन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षा पश्चिमी एशिया के उस भूखण्ड तक ही सीमित न रह सकी। शीघ्र प्रसर के लिए उसमें और ऐन्टिगोनस में संघर्ष छिड़ गया जो ऐन्टिगोनस की मृत्यु तक चलता रहा। परन्तु उसकी हत्या के पश्चात् सेल्यूकस सीरिया से बैक्ट्रिया (बल्ख, बाल्खी, बह्लीक) तक के प्रशस्त साम्राज्य का स्वामी हो गया। महत्त्वाकांक्षा अनन्तप्राप्ति होती है। यदि महात्त्वाकांक्षी ने दूसरों को न प्रसा तो उसकी महत्त्वाकांक्षा स्वयं उसी को प्रस लेती है। सेल्यूकस महत्त्वाकांक्षी था—औरों से उसका संघर्ष अनिवार्य था। पहले तो वह ऐन्टिगोनस से टकराया परन्तु उसका नाश कर उसका राज्य हड़प जाने पर भी सेल्यूकस की तृष्णा न मिटी और उसने दूसरी ओर अपना रुख फेरा—भारत की ओर जिसके सीमाप्रान्त और पंजाब सिकन्दर की विजय के फलस्वरूप ग्रीक साम्राज्य के अन्तराल में समा चुके थे और निःसन्देह सेल्यूकस अपने को सिकन्दर का उत्तराधिकारी समझता था। और वह ऐन्टिगोनस से छुट्टी पा पंजाब की ओर बढ़ा पर चन्द्रगुप्त मौर्य की टक्कर से उसे मुँह की खानी पड़ी। उसके और चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा हिन्दूकुश की दीवार हुई।

एन्टियोकस द्वितीय थियस (महान्) सेल्यूकस का पौत्र था जैसे अशोक चन्द्रगुप्त मौर्य का था और दोनों, जैसा अशोक के अभिलेख से सिद्ध है, मित्र भी थे । जिस प्रकार अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए उसी प्रकार एन्टियोकस द्वितीय के बाद सीरियक साम्राज्य भी सर्वथा संगठित न रह सका । इस काल तृतीय शती ई० पू० के मध्य दो ऐसी घटनाएँ मध्य एशिया में घटीं जिनका भारत की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा । सीरिया के पार्थिया और बैक्ट्रिया दो प्रान्त पूर्व में थे । इनमें पार्थिया खुरासान और कार्स्पियन तट का दक्षिण पूर्ववर्ती सूखा प्रदेश था और बैक्ट्रिया हिन्दकुश तथा वक्षान के बीच का उर्वर जनसंकुल देश जिसके खेतों में केसर फूलती थी ।

२४८ ई० पू० के लगभग पार्थिया में अर्सेकीज नामक एक लोकप्रिय सामरिक ने विद्रोह किया । वास्तव में सीरिया के इस प्रदेश ने भारत की ही भाँति ग्रीक संस्कृति को विजित हो जाने पर भी कभी नहीं अपनाया था और अब केन्द्रीय शक्ति की शृङ्खला शिथिल होते ही उसने विदेशी जुआ फेंक देने का उपक्रम किया । इस कार्य में उसे अनभिजात कुलीय अर्सेकीज नाम का नेता भी मिल गया यद्यपि स्वतन्त्र और सफल हो जाने पर अर्सेकीज स्वयं जनसत्ताक प्रवृत्तियों से सर्वथा दूर चला गया । फिर भी जिस राजकुल की उसने पार्थिया में नींव डाली वह प्रायः पाँच सदियों तक जीवित रहा और शक तथा यूहन्नी संक्रमणों से दीर्घकाल तक लोहा लेता रहा । उस पार्थिव राजकुल का भारत से भी कालान्तर में सम्बन्ध हुआ और पार्थिव अथवा पहलव राजकुल ने भारत में पहली शती ई० पू० और पहली शती ईस्वी में राज किया था उसका ईरान के इस पार्थिव-राजकुल से स्पष्ट सम्पर्क था ।

इसी काल बैक्ट्रिया भी सीरियक साम्राज्य-चक्र से सहस्र निकल गया । इस प्रान्त के विद्रोह का नेता अभिजात-कुलीय ग्रीक डियोडोटस था । साम्राज्य

स्वाभाविक ही केन्द्रीय शक्ति पर निर्भर करते हैं। परन्तु उसके दुर्बल होते ही उसके प्रान्त बिखरने लगते हैं और जो प्रान्त केन्द्र से जितना ही दूर होता है उसे स्वतन्त्र होने में उतनी ही सुविधा और सरलता होती है। बहुधा तो उसके शासक ही स्वतन्त्र होकर वहाँ नए राजकुल की प्रतिष्ठा करते हैं। बैक्ट्रिया सीरियक साम्राज्य का पूर्वतम प्रान्त था, पामीरों से लगा प्रायः चीन, और काश्मीर की सीमा पर। और इस काल उसका शासक भी डियोडोटस नामक ओजस्वी वीर था। पार्थिया के विद्रोह ने उसे बल दिया और शीघ्र वह भी प्रायः उसी काल स्वतन्त्र हो गया। परन्तु इससे बैक्ट्रिया की सांस्कृतिक स्थिति पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ा और वह पूर्ववत् ग्रीक संस्कृति का पूर्वीय केन्द्र बना रहा। यह तो स्पष्टतया ज्ञात नहीं कि इस डियोडोटस प्रथम की स्वतन्त्रता की मात्रा क्या थी परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका पुत्र डियोडोटस द्वितीय सीरिया के आधिपत्य से संवत्सा स्वतन्त्र हो गया। उसने अपने समसामयिक पार्थिव शासक से भी सन्धि कर अपनी शक्ति और स्वतन्त्रता दृढ़ कर ली।

नवजात राष्ट्रों को पड़ोसियों से सन्धि की जितनी आवश्यकता होती है उतनी और किसी वस्तु की नहीं। पड़ोस के सद्भाव और आन्तरिक शान्ति से उसे शक्ति मिलती है। डियोडोटस ने इसे भले प्रकार समझा और उसने पार्थिया से मैत्रां स्थापित कर ली। दोनों एक ही केन्द्र शक्ति में एक साथ स्वतन्त्र हुए थे, दोनों को इस सन्धि की आवश्यकता थी। और यद्यपि पिता पुत्र डियोडोटसों का शासन अल्पकालिक रहा इसमें सन्देह नहीं कि बैक्ट्रिया कुछ काल तक अन्तर्युद्ध और बाह्य आक्रमण से बना रहा। फिर भी डियोडोटस द्वितीय की मृत्यु हुई, विदेशी यूथिडेमस के हाथों। यूथिडेमस सम्भवतः मैग्नेशिया का स्वच्छन्द सामरिक था जिसने डियोडोटस को मार उसका राज्य स्वायत्त कर लिया। इस आन्तरिक राज्य-विप्लव का राज्य की बाह्य नीति पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और बैक्ट्रिया का नया राजकुल भी डियोडोटस के कुल की

भौति स्वतन्त्र बना रहा परन्तु जिस राजकुल की यूथिडेमस ने बैक्ट्रिया में नींव डाली उसने और उसके शीघ्र बाद प्रतिष्ठित होने वाले यूक्रेटाईडिज के राजकुल ने भी भारत की राजनीति पर विशेष प्रभाव डाला। प्रायः दो सदियों तक बैक्ट्रिया के आधार से पंजाब, सिन्ध और सीमाप्रान्त के राजनीति-सूत्र का संचालन होता रहा और जिन इन्डो-ग्रीक राजकुलों ने भारत के केन्द्र पाटलिपुत्र तक आक्रमण किए और पश्चिमोत्तर भारत पर शासन किया वे दोनों बैक्ट्रिया के ही थे। इनमें से पहले राजकुल का डेमेट्रियस तो अपनी भारतीय विजयों के कारण ‘भारत का राजा’ (रेक्स इन्डोरम) भी कहा जाता है।

२

डेमेट्रियस इसी यूथिडेमस का पुत्र था। इसका सम्भवतः २४२ ई० पू० के लगभग जन्म हुआ था क्योंकि ऐन्टियोकस तृतीय के आक्रमण के समय वह युवा कहा गया है और निःसन्देह तीस वर्ष से अधिक आयु का नहीं रहा होगा। इसका एक अर्थ यह भी है कि बैक्ट्रिया के विद्रोह के लगभग उत्पन्न होकर उसने अपने पिता द्वारा बैक्ट्रिया की विजय में योग दिया होगा।

यूथिडेमस को बैक्ट्रिया का राज्य तो आसानी से मिल गया परन्तु उसका उसे सम्हाल रखना कठिन हो गया। सीरिया ने फिर अपने विद्रोही प्रान्तों पर अधिकार करने के मसूबे बाँधे और उससे बैक्ट्रिया का दीर्घकालिक संघर्ष छिड़ गया। २४६ ई० पू० में ही ऐन्टियोकस द्वितीय थियस मर चुका था और उसके सशक्त हाथ के हटते ही साम्राज्य में उथल-पुथल मच गई थी। ऐन्टियोकस तृतीय अब गद्दी पर था और उसने शक्ति संगठित कर बैक्ट्रिया पर चढ़ाई की। कुछ दिनों तो आक्रमण-प्रत्याक्रमण होते रहे परन्तु अन्त में निश्चित निर्यात कर लेने के अर्थ ऐन्टियोकस बैक्ट्रिया पहुँचा और उसके नगरों पर उसने २१२ ई० पू० में घेरे डाले। परन्तु उसके सारे प्रयत्न

यूथिडेमस तथा उसके पुत्र डेमेट्रियस ने निष्फल कर दिए और अन्त में हार कर ऐन्टियोकस को सन्धि करनी पड़ी। यह सन्धि तेलियस नामक एक व्यक्ति के बीच-बाव से सम्पन्न हुई। सीरियक सम्राट् ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और अपने सद्भाव के प्रमाण में उसने अपनी पुत्री डेमेट्रियस को व्याह दी। युद्ध-काल में उस नवयुवक के पराक्रम से और सन्धि के समय उसकी नीति कुशलता से ऐन्टियोकस बड़ा प्रभावित हुआ था। सीरियक सम्राट् के समुन्नत कुल से विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर बैक्ट्रिया और डेमेट्रियस दोनों का गौरव बढ़ा होगा।

ऐन्टियोकस बैक्ट्रिया में हट गया परन्तु वह सीरिया नहीं लौटा। लगे हाथ उसने भारत पर भी एक धावा किया। बैक्ट्रिया में उसे जो मुँह की खानी पड़ी थी उसकी भेंट मिटाने के लिए वह हिन्दूकुश लॉथ काबुल की घाटी में उतर पड़ा और बढ़ता हुआ गन्धार तक चला गया। अशोक की मृत्यु के बाद ही उसके साम्राज्य के प्रान्त तितर बितर हो गए थे। उसका पुत्र जलाउक काश्मीर में स्वतन्त्र होकर कन्नौज तक धावे मारने लगा था और इसी प्रकार पाराना के अनुसार, वीरमेन गन्धार तथा काबुल का स्वतन्त्र राजा बन बैठा था। इस काल सुभाषमेन सम्भवतः इसी वीरमेन का गन्धार में उत्तराधिकारी था। भारतीय राजा इतने निष्क्रिय हो गए थे कि उनका डट कर विदेशी आक्रमणों का सामना करना असम्भव था। अब भारत की सीमा का रक्षक चन्द्रगुप्त मौर्य न था जो सेल्यूकस की गति अवरोध करता। वहाँ का नृपति इस काल सुभाषमेन था और उसने काबुल की घाटी में ऐन्टियोकस के पदापण करते ही उसको आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु ऐन्टियोकस को भारत विजय न करनी थी, यद्यपि यह कार्य सम्भवतः सुकर था। परन्तु सीरियक साम्राज्य की दशा बहुत सन्तोषजनक न थी और पार्थिया और विशेषकर बैक्ट्रिया के विरुद्ध उसकी पराजय ने उसकी शक्ति को समसामयिकों की दृष्टि में सन्देह में डाल दिया था। चरम अपने राज्य में कुछ कलह शुरू हो गई थी और स्वदेश लौटना

अनिवार्य था। ऐन्टियोकस २०७ ई० पू० के लगभग सीरिया लौट आया।

परन्तु उसके भारत-आक्रमण से दो परिणाम निकले। एक तो यह कि इससे यह प्रमाणित हो गया कि भारत की विजय कितनी आसान है। दूसरा वह कि बैक्ट्रिया के राजकुल में इसने महात्वाकांक्षी की भावना जगा दी। डेमेट्रियस ने समझ लिया कि भारतीय राज्य-शक्ति कितनी पोली हो गई है और उसकी विजय यदि उससे पराभूत ऐन्टियोकस कर सकता है तो उसका विजेता वह स्वयं क्यों नहीं कर सकेगा। और उसने अपने पिता के शासन-काल में ही भारत विजय के स्वप्न देखने शुरू किए। उसके नेत्रों के सामने भी हैरैक्लिज, डियोनिसस, सेमिरैमिस और सिकन्दर एक एक कर उठने लगे और उसने भारत पर आक्रमण करने का हृदय निश्चय कर लिया। ऐन्टियोकस का मुसीबतें उसे फँसा रखने को पर्याप्त थीं और हार कर लौटने के बाद बैक्ट्रिया को उसकी ओर से अब कोई डर न था। बैक्ट्रिया के राजकुल ने अब उधर से छुटी पाकर भारत की ओर अपना रुख फेरा।

बैक्ट्रिया में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित कर यूथिडेमस ने भी हिन्दूकुश लाँघ अफ़ग़ानिस्तान के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। परन्तु वह अपनी विजय का सुख अधिक न भोग सका और शीघ्र उसका तेजस्वी पुत्र और उत्तराधिकारी डेमेट्रियस बलख की गद्दी पर बैठा। यूथिडेमस की मृत्यु १६० ई० पू० के आस-पास बताई जाती है परन्तु कई कारणों से वस्तुतः उसे काफी पूर्व रखना होगा यदि और पहले नहीं तो कम से कम २०० ई० पू० के लगभग जब भारत में सम्भवतः शालिशूक मौर्य मगध की गद्दी पर था।

पिता की गद्दी पर बैठते ही डेमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण के लिए सेना संगठित करनी आरम्भ की। भारत की राजनीतिक दशा भी अत्यन्त

शोचनीय थी। मौर्यकुल के बौद्ध और जैन राजाओं ने शक्ति का संचय कम किया था धर्म का अधिक और धर्म के इस पुण्यार्जन में सौजन्य और स्नेह का प्रयोग कम तलवार का अधिक हुआ था। शालिश्क का शासन काफ़ी कठोर था और जैन धर्म का कट्टर अनुयायी होने के कारण उसने उसका प्रचार भी तलवार के जोर में ही करना चाहा। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी भारत की भूमि उसने रक्त से लाल कर दी। जैन बनाने का एकमात्र साधन उसके पास तलवार थी और उसने उसका पूरा उपयोग किया। प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी और राजा से असन्तुष्ट हो त्राता के आसरा में आकाश के अभिमुख हुई।

त्राता आया। वह डेमेट्रियस था जिसे प्रायः समसामयिक 'युगपुराण' धर्ममीत (धर्ममित्र) कहता है। तत्कालीन खाखेल का हाथीगुम्फा वाला लेख डेमेट्रियस को 'दिमित' कहता है। जिससे प्रमाणित है कि उस काल का उस ग्रीकनाम का भारतीय रूपान्तर 'दिमित' था 'धर्ममीत' नहीं। फिर क्या कारण था कि युगपुराण ने उसे 'दिमित' न कहकर 'धर्ममीत' कहा ?

युगपुराण में इस ग्रीक आक्रमण का वर्णन शालिश्क मौर्य के वृत्तान्त के बाद ही आया है जिससे उसके समय पर प्रकाश पड़ सकता है। इससे अधिक सम्भव यह है कि यह आक्रमण शालिश्क मौर्य के शासन-काल में ही अथवा उसके शीघ्र पश्चात् हुआ हो। इसी कारण डेमेट्रियस को प्राकृतिक रूप से 'दिमित' न कहकर विपन्न प्रजा ने संभवतः 'धर्ममीत' अथवा धर्म का रक्षक अर्थात् त्राता कहा। निश्चय डेमेट्रियस प्रजा का समानधर्मी न था परन्तु बरबस जैन बनाने में विघ्नस्वरूप हो जाने के कारण प्राकृत धर्म का रक्षक वह कहा जा सकता था। और उसका, स्ट्रैबो के वक्तव्य के अनुसार पहले सौराष्ट्र तथा सिन्ध जोतना भी इस तर्क को पुष्ट करता है।

इस आक्रमण के प्रति भारतीय साहित्य में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

मार्गो-संहिता के युगपुराण का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि के ‘महाभाष्य’ और खारवेल के हाथीगुम्फा-लेख में भी इस आक्रमण का किसी न किसी रूप में उल्लेख हुआ है। हाथीगुम्फा लेख में तो डेमेट्रियस का नाम प्रायः स्पष्ट रूप से ‘योनराज दि (रि) त’ लिखा हुआ है। युगपुराण में इसे पंचाल का विजेता कहा गया है। और महाभाष्यकार ने उसे साकेत और माध्यमिका (चितौर के समीप नगरी) का बरनेवाला कहा है (अरुणद् यवनः साकेतम, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्)। स्मिथ ने इसे डेमेट्रियस का आक्रमण न मान मिनेन्डर का माना परन्तु यह विचार प्रमाणतः दोषपूर्ण है। टार्न का विचार है कि आक्रमण यह वस्तुतः डेमेट्रियस का था परन्तु मिनेन्डर भी उसमें उसका सेनापति और जामाता होने के कारण शामिल था। इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती यद्यपि यह मानना संभवतः और अधिक सही होगा कि आक्रमण दो हुए—पहला डेमेट्रियस और मिनेन्डर द्वारा सम्मिलित और दूसरा मिनेन्डर द्वार अकेला। स्ट्रैबो का प्रायः यही मत है। उसने स्पष्टतः दो आक्रमणों का उल्लेख किया है और साथ ही इसका भी कि दूसरे ने भारत में पहले से अधिक देश जीते थे। इस बात की घुष्टि पतञ्जलि और युगपुराण के वक्तव्यों के उचित विश्लेषण से आसानी से हो जाती है।

जान पड़ता है कि डेमेट्रियस ने अपने सेनापति और जामाता मिनेन्डर के साथ २०० ई० पू०* के लगभग हिन्दूकुश लौंघ भारत पर आक्रमण किया। गान्धार और सीमाप्रान्त की विजय कर डेमेट्रियस ने संभवतः अपनी सेना के

*तिथि उपलब्ध सामग्री के आधार पर निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती। कुछ लोगों ने इस आक्रमण का समय १८३ ई० पू० के लगभग माना है। २०० ई० पू० युगपुराण के शालिशूक-प्रसंग के निष्कर्ष से यहाँ दिया गया है। शालिशूक के शासन का अन्त स्मिथ ने प्रायः २०६ (?) ई० पू० के लगभग माना है।

दो भाग किए। एक को उसने मिनेन्डर को देकर उसे पूर्व की ओर से मथुरा, पंचाल, साकेत (अबोध्या) आदि होता हुआ पाटलिपुत्र बढ़ने को भेजा। सेना का दूसरा भाग स्वयं लेकर सिन्ध-सौराष्ट्र जीतता सिन्धु के डेल्टे में बसे पत्तन (पत्तलीनी) आदि होता मध्यमिका (चित्तौर के निकट नगरी) के पश्चिमी मार्ग से चल कर पाटलिपुत्र पहुँचा। इस प्रकार दोरुखी होने के कारण दोनों की सम्मिलित गति को टार्न ने 'पिन्सर मूवमेन्ट' अर्थात् सडैसो (चिमटा) की विधि माना है। इस प्रकार सारे उत्तर भारत पूर्व और पश्चिम से रौंदते यवन (ग्रीक) मथुरा, पंचाल, साकेत और मध्यमिका पर अधिकार करते मागध शक्ति के केन्द्र और मध्य देश के हृदय पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे। कोई विदेशी आक्रमक इससे पूर्व भारत के अन्तरंग में इतना गहरा न पैठ सका था।

इससे आगे का वृत्तान्त युगपुराण में दिया है। वह सन्क्षेप में इस प्रसंग में इस प्रकार है—“दुष्ट विक्रान्त यवन (ग्रीक) तब साकेत, मथुरा पञ्चाल आक्रान्त करते हुये कुसुमध्वज (कुसुमपुर—पाटलिपुत्र) पहुँच जाएँगे। सारे जिले आकुल हो उठेंगे इसमें संशय नहीं।.....धर्मभीत के वृद्ध जनता का भक्षण करेंगे। यवन आज्ञाएँ घोषित करेंगे और (स्थानीय) राजा नष्ट हो जाएँगे। युद्धदुर्मद यवन मध्य देश में (बहुत काल तक) नहीं ठहरेंगे। उनके अपने देश में परम दारुण और घोर युद्ध होगा...जिसमें यवनों का नाश होगा।” (युग पु० पक्ति, २२, २३, २५, ४०, ४१, ४२, ४४, ४५) निःसन्देह जनता की जो आशा थी वह पूरी न हो सकी। डेमेट्रियस वस्तुतः 'धर्मभीत' न हो सका। देश जीतते ही उसने भी मध्य देश में मारकाट मचा दी। मौर्य साम्राज्य के प्रान्त और विषय (जिले) तितर-बितर हो गये। वर्ण-धर्म-नष्ट हो गये। परन्तु यवन मध्यदेश (मगध) में अधिक काल तक नहीं ठहर सके और उन्हें शीघ्र पाटलिपुत्र से लौटना पड़ा।

लौटने का प्रमाण युगपुराण में तो स्पष्टतः है ही, खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में भी है और अस्पष्ट रूप से पतंजलि के महाभाष्य में भी। खारवेल की

प्रशस्ति में लिखा है कि उस कलिंग नृपति महामेघवाहन खारवेल के मगध की ओर बढ़ते ही ‘योनराज दिमित’ भय से भाग गया। इसमें सन्देह नहीं कि यवनराज डेमेट्रियस इसी समय शीघ्रता से उत्तर-पश्चिम की ओर चल पड़ा था परन्तु वह खारवेल के भय से नहीं वरन् यूक्रेटाइडिज से लोहा लेने के लिये जैसा ग्रीक लेखकों ने लिखा है और टार्न ने अपनी पुस्तक* में दर्शाया है। डेमेट्रियस को दूर गया देख असन्तुष्ट ग्रीक प्रजा को उभाड़कर यूक्रेटाइडिज ने बैक्ट्रिया की गद्दी पर अधिकार कर लिया। जब यह संवाद डेमेट्रियस को मिला तब अपने अधिकार की रक्षा के लिए वह शीघ्रता से देश की ओर लौटा। परन्तु यूक्रेटाइडिज से अपना राज्य वापस लेने में वह समर्थ न हो सका और मध्य देश में भी फिर से लौटना कठिन था।

उत्तर-पश्चिमी भारत में कुछ का। तक तो उसका यूक्रेटाइडिज के साथ पहले तो युद्ध होता रहा परन्तु जब यह स्पष्ट हो गया कि यूक्रेटाइडिज को हराना असम्भव है तब डेमेट्रियस ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर ही राज करने का निश्चय हुआ। इधर यूक्रेटाइडिज ने भी मौका पाकर—सम्भवतः तभी जब डेमेट्रियस मध्य देश में था—‘भारत जीता और हजार नगरों का स्वामी हो गया’ (जस्टिन)। निःसन्देह इस वक्तव्य में आग्राह्य अतिरंजन है। हों सम्भव है डेमेट्रियस के निधन के बाद कभी १६५-६० ई० पू० के लगभग उसने भारत के कुछ नगर जीते हों। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब में भी डेमेट्रियस और यूक्रेटाइडिज के दोनों ग्रीक राजकुल राज करने लगे थे। सिन्ध, निकट प्रदेश, पूर्वी पंजाब पर युथिडेमिया अथवा शाकल (स्यालकोट) को राजधानी बनाकर डेमेट्रियस राज करने लगा और बैक्ट्रिया काबुल, गन्धार तथा पश्चिमी पंजाब पर यूक्रेटाइडिज। डेमेट्रियस की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य का सम्भवतः फिर बटवारा हुआ। कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि

मिनैन्डर शीघ्र ही बाद पूर्वी पञ्जाब का राजा हुआ और उसने शाकल को अपनी राजधानी बनाया ।

अब प्रश्न यह है कि यह आक्रमण किसके समय हुआ ? साधारणतः विद्वानों का मत है कि यह हमला पुष्यमित्र शुङ्ग के समय हुआ था । इस पर विस्तृत विचार तो अन्यत्र किया जाएगा, यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि वस्तुतः यह आक्रमण पुष्यमित्र के समय से पहले हुआ । जिस कारण इस मागध राजा को पुष्यमित्र मानते हैं वह खारवेल के लेख में बहसति मित्र (बृहस्पति मित्र = पुष्यमित्र) का उल्लेख है । परन्तु चूँकि पुष्यमित्र के नाम के सिक्के मिल गए हैं इससे दोनों को एक ही मानना अनुचित है । यह बहसतिमित्र यदि मागध का है तो वह शालिशूक मौर्य और बृहद्रथ के बीच के तीन राजाओं में से कोई भी हो सकता है । शालिशूक मौर्य, जिसके शासन के बाद युगपुराण में डेमेट्रियस के आक्रमण का वृत्तान्त आया है, बृहद्रथ और उसके इन्ता पुष्यमित्र शुङ्ग के बीच तीन और राजाओं के जो शासन-काल हैं उनके कारण पुष्यमित्र डेमेट्रियस और खारवेल का समकालीन राजा के रूप में नहीं हो सकता । डेमेट्रियस और खारवेल समकालीन हैं यह हाथी-गुम्फा के लेख से प्रमाणित है । हों उनका वह अल्पायु समकालीन अवश्य हो सकता है जैसे मिनैन्डर डेमेट्रियस का था । तब पुष्यमित्र शुङ्ग और मिनैन्डर परस्पर समकालीन होंगे ।

डेमेट्रियस को अनुवृत्तों में 'रेक्स इन्डोरम्' अर्थात् 'भारतीयों का राजा' कहा गया है जिससे उसका भारत से घना सम्बन्ध प्रगट है । उसने अपने पिता के नाम पर यूथिडेमिया नाम का एक नगर बसाया । सौवीरों (सिन्ध) में दत्ता मित्री नाम के डेमेट्रियस के बसाए एक और नगर का 'महाभाष्य' में उल्लेख हुआ है ।* डेमेट्रियस पहला ग्रीक राजा था जिसने ग्रीक और भारतीय भाषा (खरोठी लिपि) वाले दोभाषिये सिक्के चलाए ।

* वही, पृ० १४२ और नोट ।

डेमेट्रियस ने भारत में उस राजकुल की स्थापना की जिसने अपने प्रायः ढेड़ सौ वर्ष के शासन में भारतीय विचारों को पर्याप्त प्रभावित किया। सिक्कों के ढालने में, ज्योतिष, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों में भारतीय और ग्रीक संस्कृतियों का सम्पर्क हुआ और दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। सिक्कों और ज्योतिष के क्षेत्र में भारत ने ग्रीस से स्पष्टतया काफ़ी सीखा और मूर्तिकला में तो गन्धास्-शैली का जन्म इस सम्पर्क का ही परिणाम था। अनेक ग्रीकों ने भारतीय नाम धारण किए, भारतीय धर्मों में दीक्षा ली और धीरे-धीरे भारतीयों में ही घुल-मिल गए। इस सम्पर्क के फलस्वरूप जो अनेक स्वतन्त्र ग्रीक नगर बस गए थे, अथवा हिन्दू नगरों में ग्रीक मुहल्ले बस गए थे उनसे दोनों संस्कृतियों का पारस्परिक प्रभाव अनिवार्य था।

५

पुण्यमित्र शुद्ध

१

पश्चात्कालीन मौर्यों की दुर्बलता ने देश को बाहरी लुटेरों और राजनीतिक साहसिकों की दया पर छोड़ दिया था। अशोक के शासन काल से ही भारत की राजनीति धर्म से बोझिल हो गयी थी। धर्म जब साम्प्रदायिक रूप धारण कर शासन पर हावी हो जाता है तब निश्चय श्रेय और जन कल्याण की भावना धर्म के बावजूद भी लुप्त हो जाती है। शासन की श्रेय प्रदान पद्धति में साम्प्रदायिक कट्टरता के लिए वस्तुतः स्थान नहीं, यद्यपि इतिहास को ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान है जिन्होंने साम्प्रदायिक होकर भी शासन का उचित और सशक्त प्रबन्धन किया। अशोक तो राजनीति और धर्म में उचित एकता स्थापित कर जन कल्याण की भावना को चरितार्थ कर सका और इसका मुख्य कारण मानवता के प्रति उसका अमित स्नेह और जीव कल्याण की उत्कट भावना थी। परन्तु उसके उत्तराधिकारी दुर्बल तो थे ही शासन को गौण बना उन्होंने सम्प्रदाय के प्रचार को ही अपना विशेष धर्म समझा। शालिशुक मौर्य के समय में तो यह साम्प्रदायिकता इतनी बढ़ी कि देश, विशेष कर पश्चिमी भारत लहू लुहान हो गया। डेमेट्रियस ने आक्रमण कर मगध के हृदय पर जो आघात किया उसकी कहानी हम पढ़ चुके हैं।

देश की यह स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती गयी। विदेशी ग्रीक आक्रमण ने मौर्य साम्राज्य के प्रान्तों को तितर-बितर तो कर ही दिया था, सामाजिक व्यवस्था को भी उसने जोर से झकझोर दिया था। प्रजा जितनी असन्तुष्ट थी उतनी शायद पहले कभी न थी। महापद्मनन्द का शासन घृणित और प्रजा का अप्रिय कहा गया है। संभवतः ऐसा था भी; परन्तु राजदंड उस सम्राट् ने निश्चय मुट्ठी कस कर धारण किया था, और शासन की सुव्यवस्था का पहला आधार जन सम्पत्ति की रक्षा निःसन्देह व्यवस्थित थी। हमें ज्ञात है कि उस मगध राज की शक्ति और मेना से आतंकित होकर किस प्रकार ग्रीक पौज ने व्यास के तट पर हथियार डाल दिये थे और आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था और विश्व-विजेता को बाध्य होकर लौटना पड़ा था। अब प्रजा का असन्तोष, जन सम्पत्ति की अरक्षा बाहरी शत्रुओं का भय और मेना को वेतन का अभाव आदि ने मिल कर देश में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि उसकी सभाल बिना किसी असाधारण व्यक्तित्व के सम्भव न थी। और इस प्रकार के व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। वह व्यक्तित्व था पुष्यमित्र शुङ्ग का।

पुष्यमित्र शुङ्ग अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का सेनापति और पुरोहित था, जिसने मौर्य राजा को खुले मैदान में सभा के सामने बाण से मार डाला। पुराणों का कहना है कि सेनानी पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मार कर मगध का सिंहासन स्वायत्त कर लिया*। इस हत्या का उल्लेख हर्ष चरित में भी हुआ है, जिसमें लिखा है कि बृहद्रथ प्रतिज्ञा दुर्बल था, अपने राज्यासुराहण के समय प्रजा रक्षण सम्बन्धी शपथ का निर्वाह वह न कर सका था और इससे क्षुब्ध होकर सेना निरीक्षण करते समय उसके सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने उसका वध कर दिया।

* पुष्यमित्रस्तु सेनानीः समुद्धृत्य बृहद्रथम्...।

† प्रतिज्ञा (प्रजा) दुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशादक्षेताशेषसैन्यः सेनमन्त्री-स्मार्योर्भीर्यम् बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ॥—हर्षचरित ।

अब प्रश्न यह है कि पुष्यमित्र कौन था ? उसने अपने स्वामी सम्राट् का वध क्यों किया ? और इस प्रकार की हत्या क्या सर्वथा अप्रत्याशित और आकस्मिक थी अथवा परिस्थिति की परिणति और षड्यन्त्र का परिणाम ?

जितनी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है कि पुष्यमित्र शुङ्ग ब्राह्मण था । अष्टाध्यायी के रचयिता प्रसिद्ध व्याकरण पाणिनि शुङ्गों को भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण बताते हैं, और अश्वलायन श्रौत सूत्र में शुङ्गों को आचार्य कहा गया है* । तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने उसे स्पष्ट पुरोहित कुलीय ब्राह्मण कहा है, और एक स्थान पर तो 'ब्राह्मण राजा †' तक की सजा दी है । इससे प्रमाणित है कि पुष्यमित्र शुङ्ग भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण था, उसका कुल मौर्य सम्राटों का पुरोहित कुल था । और वह अन्तिम मौर्य सम्राट् का सेनापति भी था ।

पुष्यमित्र ने यह हत्या क्यों की, और उसका यह आचरण अप्रत्याशित और आकस्मिक थी अथवा षड्यन्त्र की परिणति—यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है । इसमें सन्देह नहीं कि देश की परिस्थितियों का जो परिगणन उमर हुआ है उनमें किसी स्वच्छन्द वीर कर्मा, महत्वाकांक्षी का पुष्यमित्रवत् आचरण करना सर्वथा अस्वाभाविक सम्भवतः न हो । परन्तु उसके वास्तविक हल के लिए हमें इतिहास के पू्व कालिक क्रम पर एक दृष्टि डालनी होगी । आखिर समाज की परिस्थितियाँ अपने आप नहीं उपस्थित हो आतीं उनका क्रमिक परिणामतः विकास होता है और इस विकास में कियाशील मनुष्य अपना सक्रिय सचेत और सोद्देश योग देता है । जब इस प्रकार सक्रिय

* १२, १३, ५; भरद्वाजः शुङ्गाः कृताः शैशिरयः ।

† शीफनर का अनुवाद, अध्याय १६

सन्नेत्र और सोद्देश' ऐतिहासिक प्रवाह का हम सिंहावलोकन करते हैं तब हमें भारत के अतीत में दो शक्तियों का सांघातिक संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। इनमें से एक पक्ष तो पुरोहित-ब्राह्मण का है दूसरा राजा क्षत्रिय का। इस संघर्ष की परम्परा में वशिष्ठ-विश्वामित्र हैं, परशुराम कार्तवीर्यार्जुन हैं, तुकन्विषेय-जनमेजय हैं, श्वेतकुत-जनक हैं, दत्तवालाकि—अजातशत्रु हैं, उद्दालक आरुणि-अश्वपति कैकेय हैं, बुद्ध-ब्राह्मण हैं, और अब पुष्यमित्र बृहद्रथ हैं। इस संघर्ष परम्परा में कभी पुरोहित सफल होते हैं, कभी राजन्य, और आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण का यह क्रम आवृत्त कभी अनावृत्त रूप से चलता रहता है। अन्त में जब बौद्ध और जैन धर्मों के ब्राह्मण विरोधी नीति का बोझ दुर्बल जर्जर मौर्य शासन पर पड़कर उसे तोड़ देता है, जब उसके परिणाम-स्वरूप बाहरी शक्तियाँ भारत को पराभूत कर उसकी राजशक्ति छिन्न भिन्न कर देती हैं, जब सामाजिक व्यवस्था सर्वत्र नष्ट हो जाती है; तब अवसर पाकर समर्थ पुरोहित 'प्रतिज्ञा दुर्बल राजा पर आघात करता है और उसका राजदण्ड छीन कर स्वयं धारण करता है।

इस प्रकार यह विप्लव वास्तव में अप्रत्याशित और आकस्मिक नहीं, केवल समकालीन परिस्थितियों का परिणाम नहीं बरन् प्राचीन संघर्ष परम्परा और समसामयिक षड्यन्त्र की परिणति है। इस काल से कुछ पीढ़ियों पहले ब्राह्मण विरोधी बौद्धधर्म राजधर्म भी हो गया था और राजदण्ड की छाया में उसने ब्राह्मण धर्म पर अनन्त आघात किये थे। अशोक ने जिस आज्ञा से ब्राह्मणों के पशु वलि रक्षित यज्ञों का साम्राज्य से वहिष्कार किया था उसने ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को दुखी तथा क्षुब्ध कर दिया था। और इस आज्ञा की सघनता पश्चात्कालीन युगों में बढ़ती ही गयी। ब्राह्मण धर्मियों की सामाजिक व्यवस्था पर डेमेट्रियस के यवन आक्रमण ने विकट अट्टहास किया और उसे छिन्न-भिन्न कर दिया तो मौर्यों का साम्राज्य भी उस चोट से खड़ा न रह सका था। इस आक्रमण के अन्त में मौर्य राजनीति और ब्राह्मण व्यवस्था दोनों मूर्च्छित पड़े थे। ऐसी अवस्था में राजनीति और समाज दोनों में अपेक्षाकृत

समाज पहले सत्ता लाभ करता है क्योंकि जहाँ राजसत्ता नवशक्ति को उदय के अभाव में क्षीण होती जाती है वहाँ समाज निरन्तर नवजनित आशा, निर्माण सतर्कता, आवश्यकता,—बहुलता क्षोभ, आक्रोश, स्नेह और ईर्ष्या से जनित नव बल धारण करता जाता है। उसके आधार से उठकर नवीन जीवन धारण करता है और अपनी चोट से जर्जर राज शक्ति को सर्वथा विपन्न कर स्वयं उसका स्थानापन्न होता है। पुष्यमित्र शुङ्ग उसी सामाजिक आशा, राजशक्ति के विरोध, क्षोभ, आक्रोश, स्नेह, और ईर्ष्या का मूर्तिमान समन्वय था जिसने ब्राह्मण षड्यन्त्र के परिणाम में उस आधार से उठकर अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध कर मगध की राजशक्ति स्वायत्त कर ली। यह घटना कितनी जनप्रिय रही होगी यह इससे ही सिद्ध है कि चाहे इस षड्यन्त्र का पोषण प्रच्छन्न रूप से हुआ हो जो स्वाभाविक ही है उसको परिणति और अन्त खुले रूप से हुआ, सेना की दृष्टि के सम्मुख। सेना और जनता दोनों ने उसे स्वीकार किया। सम्भव है महापद्मनन्द की ही भाँति पुष्यमित्र भी 'सवच्चक्रान्तक' हो गया हो, सम्भव है बौद्धों के विरुद्ध घरेर आचरण किया हो, संभव है, ब्राह्मण धर्म के पक्ष में उसने अनन्त विधान किये हों, संभव है उसने अपने प्रकट आदेश से यज्ञ, संस्कृत, ब्राह्मण-शास्त्र आदि का पुनरुज्जीवन सम्पन्न किया हो, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय बात जो उसने की वह थी शक्ति पूर्वक व्यवस्था और शासन का पुनः स्थापन। विद्रोह, विप्लव, और क्रान्ति से उद्वेलित बाह्य लुटेरों द्वारा, लुटो सशक्त जनता पहले अपनी सुरक्षा चाहती है जो पुष्यमित्र ने प्रस्तुत कर दी और इस एक मात्र आचरण ने ही उसके अन्य अनेक निष्कर्षण कर्म जनता को सख्त हो सके।

पुष्यमित्र शुङ्ग ने मौर्य राजा की हत्या कर संभवतः १८५ ई० पू० के लग-भग ब्राह्मण साम्राज्य की नींव डाली। उसके गुरु ऋत्विज और संभवतः ब्राह्मण षड्यन्त्र के केन्द्र महर्षि पतञ्जलि का पाणिनि पर अपने महाभाष्य में राज्यों के परिगणन में ब्राह्मण राज्य को सर्वोत्तम कहना स्वाभाविक है।

राजदण्ड धारण करते ही पुष्यमित्र ने पहले प्रजा की सुरक्षा की व्यवस्था की, अपनी शक्ति को संभाव्य बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध दृढ़ किया, और फिर ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण के कार्यों में दत्तचित्त हुआ। वह इसके पूर्व मौर्य सम्राट् का सेनापति रह चुका था जिससे सिद्ध है कि उसकी आयु काफी हो चुकी थी। सेनापति पद तक पहुँचने में उसकी आयु कम से कम ४० वर्ष की तो हो ही गयी होगी। शीघ्र बाद ही हम उसके प्रान्तीय राजप्रतिनिधि और पुत्र अग्निमित्र को (कालीदास द्वारा मालविकाग्निमित्र में वर्णित) विदुषा में अनेक रानियों के साथ शासन करते पाते हैं। इससे भी पुष्यमित्र के जीवन की उत्तरावस्था का बोध होता है।

पुष्यमित्र के शासन का इतिहास अधिकतर रक्तंजित है। उसके चरित में युद्ध संघर्ष आक्रमण प्रत्याक्रमण का बाहुल्य है। उदात्त, सशक्त, कर्मनिष्ठ, पराक्रमी, इस पुष्यमित्र का समुन्नत सम्राट् विरुद्ध छोटे से केवल सेनापति की साधारण उपाधि धारण करना जहाँ एक ओर उसके सतत् सक्रिय जीवन को प्रमाणित करता है वहाँ दूसरी ओर उसके प्रति उससे उसकी सेना का घना स्नेह भी प्रकट होता है।

इस असाधारण ब्राह्मणराज के कृत्य-बहुल कर्मठ जीवन में कुछ घटनायें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से सफल क्रान्ति और मगध के सिंहासन के स्वायत्तिकरण का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। सेनापति होने के पहले के उसके कृत्यों पर सामग्री के अभाव में प्रकाश डालना असम्भव है। इतना अवश्य है कि अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए जिस मार्ग का अवलम्बन उसे करना था, उसका स्पष्ट मूर्त रूप बहुत पहले ही उसकी दृष्टि के सामने खड़ा हो चुका होगा। राजा हो जाने के बाद चार विशेष प्रसंग ऐसे हैं जिनका वर्णन आवश्यक है। उनमें से एक है उसकी विदर्भ विजय। दूसरा ग्रीक गिनेन्डर द्वारा आक्रमण, तीसरा अश्वमेध का अनुष्ठान, और चौथा, बौद्ध विरोधी कार्य तथा ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा।

१. विदर्भ युद्ध—महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र से पुण्यमित्र के राज्य की अनेक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। उनमें से एक घटना विदर्भ की विजय है। उससे ज्ञात होता है कि विदर्भ का राजा यज्ञसेन संभवतः मगध की क्रान्ति और बृहद्रथ-वध के समय की डौंवाडोल परिस्थिति में स्वतन्त्र हो गया था। जब पुण्यमित्र ने अपनी स्थिति मगध के सिंहासन पर दृढ़ कर ली तब उसने दक्षिण की ओर अपनी दृष्टि फेरी। विदिशा के आसपास की भूमि संभवतः शुङ्गों की पैत्रिक थी। इसके पूर्व मौर्य शासन विधान में अवन्ति (पश्यत् मालवा) में उज्जैन साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों के नियन्त्रण का केन्द्र रह चुकी थी। उसके पास ही विदिशा (ग्वालियर राज्य में वर्तमान भेलसा) में सेनापति पुण्यमित्र का अपने पुत्र अग्निमित्र का अपने राज्य का नया प्रतिनिधि शासक को केन्द्रस्थ करना उचित ही था। विदर्भ की स्वतन्त्रता तो पुण्यमित्र के लिए चिन्ता का विषय था ही। उसके राजा यज्ञसेन का उन्मूलित मौर्य राज्य के मन्त्री का सम्बन्धी होना भी कुछ कम खटक की बात न थी। मौर्य-मन्त्री ने संभवतः मगध के विप्लव के समय पाटलिपुत्र से भाग कर विदर्भ के राजा अपने सम्बन्धी यज्ञसेन के यहाँ शरण ली थी और शायद उसने ही उसे प्रोत्साहित कर मगध साम्राज्य से पृथक् कर दिया था। पुण्यमित्र ने अग्निमित्र को विदर्भ को फिर से साम्राज्य का आधीनस्थ राज्य बनाने का आदेश किया। अग्निमित्र ने नाति और शक्ति के साथ इस आदेश का पालन किया। मौर्य सचिव को उसने बन्दी कर लिया और यज्ञसेन के चनेरे भाई माधवसेन को मिला कर उसने विदर्भ राज को आत्म-समर्पण करने पर मजबूर किया। अन्त में विदर्भ का राज्य दोनों भाइयों में विभक्त होकर द्वैराज्य हुआ उसके ऊपर शुङ्ग साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित किया।

२. यवन आक्रमण—यवन आक्रमण के सम्बन्ध में डेमेट्रियस के

हमले के प्रसंग में कुछ लिखा जा चुका है। यवन आक्रमण दो हुए थे। यह वहाँ स्ट्रेबो और युग पुराण के आधार पर दर्शाया जा चुका है। इनमें से एक तो शालिशूक के शासन के बाद डेमेट्रियस और उसके सेनापति तथा जामाता मिनेन्डर का था। दूसरा पुण्यमित्र शुङ्ग के समय केवल मिनेन्डर का। महाभाष्य-कार पतञ्जलि के उदाहरण का जो संकेत ऊपर दिया जा चुका है उससे स्पष्ट है कि साकेत, पंचाल, मथुरा, मध्यामिका आदि की विजय पहले यवन आक्रमण का परिणाम थी। परन्तु जहाँ पतञ्जलि ने साकेत और मध्यमिका के यवनों द्वारा घेरे जाने का उदाहरण अनद्यतनभूत को स्पष्ट करने के सम्बन्ध में दिया है वहाँ अन्यत्र उसने यवनों का लौट जाने का भी संकेत किया है। अनद्यतनभूत क्रिया का वह रूप है जिसमें घटना मत काल की तो अवश्य है परन्तु है वह सुनिकट अतीत की जो यद्यपि घट चुकी है परन्तु लेखक के नवीन काल की है और उसकी स्मृति में ताजी है। स्पष्ट है कि पतञ्जलि ने प्रायः २० वर्ष पूर्व डेमेट्रियस का यवन आक्रमण स्वयं देखा था और उसकी स्मृति जनता की स्मृति में इतनी दारुण और स्पष्ट थी कि उसका उदाहरण आसानी से समझा जाने योग्य था। यवनों के प्रति पतञ्जलि द्वारा दूसरा उल्लेख उस महाभाष्य में पाणिनि के सूत्र 'शूद्राणामनिर्व वसितानाम्' पर हुआ है जिसमें निर्वासित म्लेच्छों का जिक्र है और उस सम्बन्ध में पतञ्जलि ने जो आर्यावर्त की सीमायें दी हैं उससे बाहर यवनों के निष्कासन की बात प्रगट होती है। यह दूसरा उल्लेख निश्चय तब हुआ है जब युक्रेटाइडिज की बैक्ट्रिया की सफल कान्ति के बाद डेमेट्रियस को पाटलिपुत्र से शीघ्र उत्तर-पश्चिम की ओर लौटना पड़ा था अथवा इसका सम्बन्ध पुण्यमित्र-मिनेन्डर के संघर्ष के बाद शुङ्ग साम्राज्य की सीमा शाकिल (स्यालकोट) और सिन्धु तक बढ़ जाने से भी हो सकता है; जब यवनों को सिन्धु के पार शरण लेनी पड़ी थी। पतञ्जलि के इस उल्लेख के अतिरिक्त दो और विशिष्ट साहित्यिक उल्लेख हैं जिनसे यवन पराजय की बात स्पष्ट होती है। इनमें से एक तो मालविकाग्निमित्र में है दूसरा ग्रीक लेखक प्लूटार्च के वर्णन में।

मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र शुङ्ग ने अश्वमेध किया और अश्व की रक्षा के लिए अपने पौत्र वसुमित्र को नियुक्त किया। वसुमित्र सौ राजकुमारों से परावृत्त हो और बड़ी सेना लेकर अश्व के पीछे चला। फिर सिन्धु के तट पर उसका ग्रीकों के साथ भयानक युद्ध हुआ जिसमें उसने उन पर विजय पायी और अश्व की रक्षा की। इस प्रकार सफलतापूर्वक अश्व के लौट आने पर राजसूयदीक्षित सेनापति पुष्यमित्र अश्वमेध के अनुष्ठान में शामिल होने के लिये अपने पुत्र अग्निमित्र को अपनी पत्नियों के साथ आमन्त्रित करता है। यह सिन्धु विन्सेन्ट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड की काली सिन्धु मानी है जो निराधार है। यह सिन्धु प्रमाणतः निश्चय पंजाब का प्रख्यात सिन्धु नदी है। इस यवन आक्रमण और परिणामतः आक्रमक की पराजय की बात प्लूटार्च ने भी लिखी है। स्ट्रेबो ने, जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है, स्पष्टतः लिखा है कि डेमेट्रियस और मिनेन्डर ने एरोयाना और भारत जीता और अपनी विजयों में डेमेट्रियस से भी अधिक सफल मिनेन्डर हुआ। प्लूटार्च लिखता है कि “मिनेन्डर गंगा की घाटी में कहीं लड़ता हुआ पूर्व में युद्धक्षेत्र में मरा। स्पष्टतः यह युद्ध साकेत अथवा प्रयाग के पास कहीं हुआ होगा जिसमें मिनेन्डर को मुँह की खानी पड़ी होगी। जान यह पड़ता है कि मिनेन्डर सेना लेकर मगध की ओर बढ़ा और उसकी पुष्यमित्र से मुठभेड़ हुई। पतञ्जलि और पुष्यमित्र दोनों को यह हमला भूलाना था और पतञ्जलि ने तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस हमले का उल्लेख भी किया है। स्वयं पुष्यमित्र अल्पायु होता हुआ भी सम्भवतः मौय्य सेना में निम्नवर्गीय कोई अफसर था जब डेमेट्रियस ने पाटलिपुत्र में रक्त का तांडव किया। पुष्यमित्र अशक्त होने के कारण सम्भवतः तब रक्त का घंट पी गया परन्तु अब जब वह मगध की गद्दी पर वर्तमान था और ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति तथा व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा कर रहा था इस क्षण यवन मिनेन्डर का आक्रमण उसे स्वाभाविक ही सह्य न हो सका।

यह आक्रमण क्यों हुआ यह उससे छिपा न था और इसी कारण उसके

प्रतिशोध तथा प्रत्याक्रमण भी भीषण हुए। मौर्यों का राजकुल बौद्ध और जैन होने के कारण ब्राह्मण धर्मियों को अप्रिय हो चुका था। पिछले दिनों में उस राजकुल का अनाचार बढ़ जाने से ब्राह्मण धर्मियों को विशेष चिन्ता उठानी पड़ी थी। उसके विरुद्ध जो प्रतिहिंसा की भावना जगी तो उस राजकुल का अन्त हो गया। उसका युक्ति-संगत और आवश्यक परिणाम बौद्ध धर्म के विरुद्ध देश के कुछ भागों में प्रतिशोध की भावना जगी। उस प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का केन्द्र वृहद्रथ का हत्याकार्य होने के कारण स्वयं पुष्यमित्र शुङ्ग था। बौद्ध वर्ग तथा उससे सहानुभूति रखने वाले क्षत्रिय वर्ग को पुष्यमित्र विशेष अप्रिय हो उठा होगा। जान पड़ता है कि उसके विरुद्ध देश में शक्ति की कमी पाकर बौद्ध विहारों में षड्यन्त्र होने लगे जिसका एक परिणाम मिनेन्डर का बौद्ध धर्म में प्रवेश था। मिनेन्डर, डेमेट्रियस का पाटलिपुत्र के आक्रमण में सार्धव्य कर चुका था और अब डेमेट्रियस की मृत्यु के बाद उसके विजित पूर्वी प्रान्तों का शासक था। शासक ही नहीं अब उसने स्वतन्त्र नृपति का पद प्राप्त कर लिया था, और पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी युक्तप्रान्त पर वह अपनी राजधानी शाकल (स्यालकोट) से राज करने लगा था। उस मिनेन्डर को भी बौद्धों ने अपने धर्म में दीक्षित किया और उसे अपने अर्थ का साधन बनाया। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द-पम्हो' से उसके बौद्ध होने की कथा स्पष्ट है। बौद्धों का यह आचरण पुष्यमित्र शुङ्ग के विरुद्ध था, मगध के राजकुल के विरुद्ध था, ब्राह्मण धर्म और जाति के विरुद्ध था और स्वदेश की स्वतन्त्रता के विरुद्ध था; परन्तु वे इसमें न हिचके और पुष्यमित्र के नाश के विचार से वे मिनेन्डर को मगध के विरुद्ध चढ़ा लाये। मगध की शक्ति अपने दायरे में प्रायः बढ़ तो हो चुकी थी परन्तु उसकी राज्य सीमायें विशेष विस्तृत नहीं। वृहद्रथ ने जिस राज्य पर शासन किया था उसकी सीमाओं का संकोच अशोक के बाद ही होने लगा था और निरन्तर होता गया था। और अन्तिम मौर्य सम्राट् के समय तक तो उसका विस्तार बहुत ही कम था। डेमेट्रियस के हमले से पंजाब तथा पश्चिमी युक्त प्रान्त में जो ग्रीक राज्य स्थापित हुआ

था उसने मध्य देश में भी अपनी सीमा बढ़ा दी थी परन्तु इतना सही है कि पुष्यमित्र साकेत (अयोध्या) का स्वामी था और सम्भवतः गंगा-यमुना के द्वाब का कुछ भाग भी उसके अधिकार में था, जैसा कि अयोध्या से मिले पुष्यमित्र के अभिलेख से सिद्ध है ।

मिनेन्डर पुष्यमित्र शुङ्ग के विरुद्ध मगध पर आक्रमण करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा । गंगा की घाटी में जैसा प्लूटार्च के लिखने से विदित होता है कहीं मगध और ग्रीक सेना का युद्ध हुआ । इस युद्ध के विषय में हमारा कोई ज्ञान नहीं है कि प्लूटार्च लिखता है कि मिनेन्डर गंगा की घाटी में लड़ता हुआ मारा गया । निःसन्देह यह युद्ध पुष्यमित्र के विरुद्ध ही हुआ होगा जो उस समय मगध का अधिपति था और पंजाब के पूर्व में मगध ही एक राजा था जिसके विरुद्ध मिनेन्डर युद्धयात्रा कर सकता था फिर माल-विकारिनिमित्र से स्पष्ट है कि ग्रीकों और पुष्यमित्र से युद्ध हुआ था । मिनेन्डर के मगध की ओर बढ़ने के दो कारण थे । एक तो सद्धर्म की रक्षा और उसके शत्रु को दण्ड देने की इच्छा और दूसरा अपनी साम्राज्य का विस्तार । मिनेन्डर केवल डेमेट्रियस के साथ-साथ अपने को मगध का विजेता मानता था वरन् उस ग्रीक राजा का उत्तराधिकारी भी जो निःसन्देह वही था । डेमेट्रियस का मृत्यु के पश्चात् जब वह उसके पूर्वी प्रान्तों का स्वामी हुआ तो निःसन्देह उसमें उन मध्यदेशीय तथा मागध प्रान्तों पर फिर से अधिकार करने की इच्छा प्रबल हो उठी जिन्हें डेमेट्रियस ने कभी जीता था । मिनेन्डर का डेमेट्रियस के प्रति वही सम्बन्ध था जो सिल्यूकस का सिकन्दर के प्रति रहा था । और सिकन्दर के जीते प्रान्तों को पुनरायत्त करने के अर्थ प्रयत्नशील हो जिस प्रकार सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त मौर्य से मुँह की खानो पड़ी थी उसी प्रकार डेमेट्रियस के जीते प्रान्तों को स्वायत्त करने की इच्छा से बढ़ने वाले मिनेन्डर को पुष्यमित्र शुङ्ग से मुँह की खानो पड़ी । सिल्यूकस चन्द्रगुप्त से सन्धि कर हिन्दू कुश तक के अपने चार प्रान्त उसे दे लौट गया था, मिनेन्डर को अपने प्राण तक देने पड़े और पुष्यमित्र शुङ्ग ने उसके राज्य पर भी कब्जा कर लिया ।

‘दिव्यावदान’ में लिखा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग ने मिनेन्डर की राजधानी शाकल में पहुँच कर वहाँ घोषणा की कि “जो कोई मुझे श्रमण का कटा हुआ मस्तक देगा उसको मैं १०० दीनारें दूँगा।” स्पष्ट है कि इस यवन आक्रमण का प्रभाव पुष्यमित्र शुङ्ग के राज्य प्रभूत के विस्तार और स्वदेश में उसकी शक्ति की दृढ़ स्थापना का कारण हुआ। परन्तु उसके भीतर बौद्धों के आचरण ने प्रतिहिंसा की आग भी भड़का दी। मिनेन्डर के आक्रमण ने मगध के राज्य का ब्राह्मण धर्म को और नये राज कुल को कितने खतरे में डाल दिया था यह पुष्यमित्र के सामने स्पष्ट हो चुका था और उसने बौद्धों को उनके षड्यन्त्र का पूरा दंड देना चाहा। इसी दंड कार्य को सम्पन्न करने के लिए जैसा दिव्यावदान का वक्तव्य है उसने पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के सारे बौद्ध विहार जला डाले और शाकल में वह भीषण घोषणा की जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। और यह घोषणा शाकल में हो जो न केवल ठीक राज्य और आक्रमण की शक्ति का केन्द्र था प्रत्युत जो षड्यन्त्रकारी और भागे हुए बौद्ध धर्म का भी अन्तिम केन्द्र बन चुका था। दिव्यावदान की व्यथा को स्मिथ आदि कुछ विद्वानों ने अतिरंजित कह कर भारत की सहिष्णुता की दुहाई दी है और इस प्रकार पुष्यमित्र के इतिहास की निन्दा से बचाया, परन्तु इससे वास्तव में ऐतिहासिक तथ्य का हनन हो गया है। धर्म की कल्पित रक्षा के लिए अन्य देशों के इतिहासों की भाँति ही भारतीय इतिहास में भी असहिष्णुता का सर्वथा अभाव न था। अनेक बार सन्तों को साम्प्रदायिकता का शिकार होना पड़ा था। पश्चात्कालीन इतिहास ने तो शशांक ने बौद्धों के विरुद्ध प्रतिहिंसा को मूर्त कर दिया था और इसी प्रकार के साम्प्रदायिक क्रोध से बचने के लिए शंकराचार्य तथा रामानुज को भी अपने स्वदेश से भाग कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी थी। पुष्यमित्र शुङ्ग को अहिंसक कहना और उस के चरित से सम्बद्ध इतिवृत्त को अतिरंजित कहना सत्य की उपेक्षा करनी है। हाँ उसके आचरण को राजनीतिक उद्देश्यों पर निःसन्देह न्याय माना जा सकता है। विदेशी आक्रमण और उसके कारण बौद्धों के प्रति उसका क्रोध

स्वाभाविक था और परिणामतः उसका प्रतिशोध भी भीषण हुआ। मिनेन्डर के विरुद्ध भी, बौद्ध विहारों और भवनों के विरुद्ध भी। शाकल पर अधिकार हो जाने के बाद जान पड़ता है पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया और, जैसा मालविकाग्निमित्र से प्रमाणित है, उसके पौत्र वसुमित्र ने सिन्धु तट पर ग्रीकों को परास्त कर शुङ्ग साम्राज्य की सीमा उस महानद तक बढ़ा दी।

३. अश्वमेध का अनुष्ठान—पुष्यमित्र शुङ्ग ने अश्वमेध का अनुष्ठान किया और इससे उस यज्ञ की लुप्त ब्राह्मण परम्परा का पुनरुद्धार किया। उसके अश्वमेध के अनुष्ठान का प्रमाण महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य, महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र और अयोध्या के पुष्यमित्र के एक अभिलेख से मिलता है। महाभाष्य में वर्तमान को स्पष्ट करने के लिए पतञ्जलि ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। “इह पुष्यमित्रं याजयामः” (यहाँ हम पुष्यमित्र का यज्ञ कराते हैं)। इस उल्लेख से कई बातें प्रमाणित होती हैं। एक तो यह कि वह पुष्यमित्र का समकालीन था, दूसरे यह कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया, तीसरे यह कि उस यज्ञ में पतञ्जलि स्वयं ऋत्विज् बना और चौथा यह कि उसने महाभाष्य पाटलिपुत्र में पुष्यमित्र की रक्षा में लिखा था। अयोध्या के लेख से जान पड़ता है कि पुष्यमित्र ने एक ही नहीं बरन् दो दो अश्वमेध किये।* उसमें उसे “द्विरश्वमेधयाजिन्” की संज्ञा दी गयी है। अब प्रश्न यह उठता है कि उसने ये दो अश्वमेध क्यों और कब किये। अश्वमेध का अनुष्ठान राज्य के विस्तार और दिग्विजय के अर्थ होता है। और इसके अनुष्ठान का एक अन्य अवसर विकट शत्रु की पराजय भी हुआ करता है। अश्वमेध में राजा दीक्षित होकर यज्ञशाला में प्रवेश करता है और अश्व की पूजा करके उसे निर्गल कर स्वच्छन्द इतस्ततः घूमने के लिए सोमा पर छोड़ दिया जाता है और उसकी रक्षा के लिए उसके पीछे एक

*कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य...। Ep. Ind.

सबल सेना चलती है। जिन राज्यों से होकर अश्व अनापत्ति निकल जाता है उनको अश्वमेध कर्त्ता का विजित मानते हैं परन्तु जहाँ का राजा अपने को सबल जान कर उसे बाँध लेता है वहाँ युद्ध छिड़ जाता है और इसी युद्ध पर अश्वस्वामी की महत्त्वाकांक्षा निर्भर करती है। अश्व यदि इस तरह बाँधा जाकर लौट नहीं पाता और उसकी रक्षा नहीं हो पाती तो उसके स्वामी का पराभव माना जाता है और उसकी महत्त्वाकांक्षा का उपहास होता है। अश्व के सकुशल वर्ष चर्यन्त प्रर्यटन कर लौट आने पर उसका स्वामी यज्ञ करता और प्रतिष्ठा पाता है। यह तो हुई अश्वमेध की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति और अब विचार इस प्रश्न पर करना है कि पुण्यमित्र ने यज्ञ कब किये और इनका परिणाम क्या हुआ? इसका उत्तर अधिकतर हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से प्राप्त होता है।

पहला यज्ञ तो सम्भवतः पुण्यमित्र ने बृहद्रथ हत्या के शीघ्र बाद ही किया होगा। राजा की हत्या में सेना की अनुमति थी और उसका पुण्यमित्र के साथ सर्वथा एका था। इतनी बड़ी उथल-पुथल के बाद प्रजा में इस भावना को भरने के लिए कि यह क्रान्ति क्षणिक न थी और जिसने उसका सम्पादन किया था उसके हाथ में राजदण्ड और शक्ति धारण करने की प्रभूत क्षमता थी यह प्रदर्शित करने के लिए पहला यज्ञ हुआ होगा। क्रान्ति के पहले ग्रीक आक्रमण द्वारा तितर-बितर किये गये प्रान्तों (आकुलाः विषयाः सर्वे—युगधुराण) को एकत्र करना और उन पर नियन्त्रण करने वाले शासन की प्रतिष्ठा करना आवश्यक था। इस पहले अश्वमेध ने मगध के निकटस्थ प्रान्तों को एक सूत्र में बाँध दिया। दक्षिण की ओर नर्मदा के पास कुछ विद्रोह की आशंका हो उठी थी और विदर्भ के स्वतन्त्र हो जाने का प्रमाण वर्तमान ही था। इसी यज्ञ के परिणाम-स्वरूप उधर भी विदिशा में दक्षिण-पश्चिमी प्रान्त की सँभाल के लिए शासन केन्द्र स्थापित हुआ। दूसरा अश्वमेध प्रमाणतः जान पड़ता है कि ग्रीक विजय के बाद सम्पन्न हुआ। मिनेन्डर को परास्त कर चुकने के बाद क्रान्ति के परिणाम तथा ब्राह्मण शासन के नये पौधे की रक्षा

के लिए यह आवश्यक था कि ग्रीक अथवा अन्य कोई विदेशी खतरे की दूरी के अन्दर न रह सके। मिनेन्डर ने दूसरी बार मगध के विरुद्ध युद्ध-यात्रा करके नये राज्य को जो सकट में डाल दिया था उसका निराकरण प्रत्याक्रमण और बल-प्रदर्शन से ही हो सकता था। इससे पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध सम्पन्न कर उसका प्रदर्शन किया। ग्रीकों से देश को सभ्यता बचा रखने के लिए यह आवश्यक था कि वे देश से बाहर निकाल दिये जायें। मालविकाग्निमित्र में लिखा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग का पौत्र वसुमित्र १०० राजपुत्रों से परावृत होकर अश्व का रक्षा के लिए उसके पीछे-पीछे चला। सिन्धु नद के दक्षिण तट पर ग्रीकों के साथ घोर युद्ध हुआ जिसमें वसुमित्र की विजय हुई और अश्व लौटा लाया गया। इसके बाद पुष्यमित्र ने शुङ्ग का अनुष्ठान किया। इससे स्पष्ट है कि पंजाब के सिन्धु नद तक इस ब्राह्मण साम्राज्य की सीमा पहुँच गयी। सिन्धुनद बुन्देलखण्ड की काली सिन्धु न होकर पंजाब का ही है, यह अनेक प्रमाणाँ से सिद्ध है—विशेषकर इससे कि दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र ने मिनेन्डर का राजधानी शाकत (सियालकोट) पर तो कब्जा कर ही लिया था, और अश्वमेध का घोड़ा सीमा से बाहर छोड़ा जाता है और शाकल के बाद छोड़ा हुआ घोड़ा यदि निरगल बढ़ता तो वह केवल सीमा सिन्धु को ही पहुँच सकता था। मध्य भारत का काली सिन्धु को नहीं। इसके अतिरिक्त यह सम्भव न था कि पुष्यमित्र सरीखा शक्तिमान विप्लवी और दूरदर्शी नृपति बुन्देलखण्ड जैसे निकटस्थ प्रान्त में ग्रीकों को टिकने दे सकता। फिर मालविकाग्निमित्र में अश्वमेध तथा वसुमित्र द्वारा ग्रीकों की पराजय का सन्देश पाटलिपुत्र से अग्निमित्र को विदिशा भेजा गया, ऐसा लिखा है। परन्तु यदि मध्य भारत की काली सिन्धु के तट पर यह युद्ध हुआ होता तो उसकी खबर पहले विदिशास्थ पिता अग्निमित्र को होती पीछे पाटलिपुत्रस्थ पितामह पुष्यमित्र को विशेषकर जब अश्वरक्षण के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में नियुक्त पुत्र वसुमित्र के सम्बन्ध में उसकी माता धारिणी अत्यन्त चिन्तित हो उठी थी—(अति धीरे खलु पुत्रव्यः सेनां पतिना नियुक्तः) यह सम्भव न था

कि ग्रीकों के साथ "महान संभर्द" के बावजूद भी वह पाटलिपुत्र से संवाद के आसरे बैठी रहती। निश्चय युद्ध पश्चिमी पंजाब के सिन्धु तट पर हुआ, और वहाँ से विजय का संवाद स्वाभाविक ही पाटलिपुत्र होता हुआ विदिशा पहुँचा।

इस प्रकार यह अश्वमेध मिनेन्डर की विजय और वध के पश्चात् हुआ और इसके परिणाम से ग्रीकों का भारत से निष्कासन हुआ। यह यज्ञ निःसन्देह दूसरा था और सम्भवतः तब अनुष्ठित हुआ जब पुष्यमित्र वृद्ध हो चला था और कम से कम ६० वर्ष का हो चुका था। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि उसका पौत्र आयु और शील में इस योग्य हो चुका था कि वह अश्व की रक्षा कर सके और साम्राज्य से बाहर सुदूर पश्चिम में विक्रान्त यवनों से सफल लोहा ले सके। अनुचित न होगा यदि हम वसुमित्र की आयु कम से कम २० वर्ष की मानें। उस दशा में उसके पिता का प्रायः ४० वर्ष की आयु में अनेक रानियों के साथ विदिशा के राज प्रासाद में दरबार करना सार्थक हो सकता है जैसा मालविकाग्निमित्र प्रदर्शित है। यदि अग्निमित्र का जन्म पुष्यमित्र शुङ्ग के २० वर्ष में हुआ तब भी पुष्यमित्र को ६० वर्ष का होना चाहिए। फिर हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि पुष्यमित्र वृद्धत्व की हत्या के समय तक कम से कम ४० वर्ष का हो चुका होगा जिससे वह सेनापति के गौरवपूर्ण पद तक पहुँच सके। डा० जायसवाल का यह मत कि दूसरा अश्वमेध कलिंगराज खारवेल द्वारा मगध के पराभव के पश्चात् किया प्रायः नहीं क्योंकि यह भले प्रकार दर्शाया जा सकता है कि खारवेल और पुष्यमित्र समकालीन न थे और यदि वे समकालीन थे भी तो इस अवस्था में न थे कि युद्ध कर सकें। अर्थात् पुष्यमित्र शुङ्ग अभी बालक था और मगध की क्रान्ति सम्पादित न कर सका था जब खारवेल ने आक्रमण कर सम्भवतः मौर्य कुल के उसी नरेश को सन्त्रस्त किया जिसे डेमेट्रियस ने भी हराया।

४. बौद्ध विरोधी कार्य तथा ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा—ऊपर के

वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि पुष्यमित्र शुङ्ग का बौद्धों के प्रति आचरण किस प्रकार का था। मौर्य कुल क्षत्रिय कुल था और बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बी। उसका पुष्यमित्र ने नाश किया था और उसके स्थान पर ब्राह्मण राज्य तथा धर्म की प्रतिष्ठा की थी। उसके विरुद्ध बौद्धों के षड्यन्त्र हुए और उसने परिणामतः प्रतिशोधपूर्वक उनका दमन किया। इसके अतिरिक्त यदि वह ब्राह्मण धर्म साहित्य और संस्कृति की प्रतिष्ठा न करता तो उसके सफल षड्यन्त्र और क्रान्ति का कोई अर्थ न होता। पतञ्जलि की सहायता से पुष्यमित्र द्वारा क्रान्ति ब्राह्मण संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ही हुई थी। पुष्यमित्र ने उस धर्म की प्रतिष्ठा की। उसकी विधिक्रियाओं का फिर से अनुष्ठान किया, उसके लुप्त अश्वमेध का फिर से आयोजन किया, संस्कृत भाषा को पाली के स्थान पर राजपद प्रदान किया और वर्ण व्यवस्था की फिर से स्थापना के लिए मनुस्मृति का प्रणयन कराया—उसमें ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता कहा गया और शूद्र को नितान्त नगराय। इसी ब्राह्मण राज्य को पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के सूत्र ६, २, १३०, पर टीका लिखते हुए आदर्श राज्य घोषित किया। मनुस्मृति ने पुष्यमित्र के सक्रिय जीवन तथा उसके द्वारा सम्पादित क्रान्ति का समर्थन करते हुए लिखा कि “सेनापत्य, राज्य, दंड नेतृत्व (न्याय कर्म ? दंड—सेना—नायकत्व) तथा सर्वलोकाधिपत्य (साम्राज्य का शासन) वेदशास्त्र के ज्ञाता (ब्राह्मण) का कर्तव्य होना चाहिए।”*

परन्तु पुष्यमित्र सर्वथा असहिष्णु न था। एक बार बौद्ध विरोध का दमन हो जाने पर और ब्राह्मण धर्म के पुनरुज्जीवित हो जाने के पश्चात् उसने शान्ति का शासन आरम्भ किया। देश में सर्वथा सहिष्णुता का वातावरण फैला। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्रायः उसी के समय में

* सेनापत्यं च राज्यं च दण्ड नेतृत्व मेव च।

सर्व लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वहति ॥ मनुस्मृति, १२, १००।

मारहुत (नागोत रियासत) के स्तूप और रेलिंग निर्मित हुए जिससे उसकी सहिष्णुता का प्रमाण मिलता है ।

पुष्यमित्र का साम्राज्य, यदि तारानाथ और दिव्यावदान के प्रमाण माने जायें, उत्तर पश्चिम में पंजाब में जलन्धर और शाकल (सियालकोट) तथा दक्षिण में, जैसा मालविकाग्निमित्र से सिद्ध है, नर्मदा तक विस्तृत था । दक्षिणी प्रान्तों की राजधानी विदिशा थी जो विदर्भ के द्वेराज्य पर नियन्त्रण रखती थी । इस प्रकार यह ब्राह्मण साम्राज्य उत्तर में सिन्धुनद से दक्षिण में विदर्भ (बरार) तक फैला हुआ था । पूर्व और पश्चिम की इसकी सीमाएँ बताना कठिन है । पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी परन्तु उसके अतिरिक्त उसका एक और केन्द्र अयोध्या थी । सम्भवतः यह केन्द्र, जहाँ से पुष्यमित्र का एक अभिलेख मिला है, ग्रीकों के स्वतरे के सम्भाल के लिए स्थापित हुआ था । वहाँ था प्रतिनिधि शासक (कोशलाधिप) धन (देव अथवा भूति ?) था जिसके सिक्के मिले हैं । अभिलेख में उसे 'पुष्यमिस्य षष्ठेन' अर्थात् 'पुष्यमित्र के छठे पुत्र द्वारा' लिखा है जान पड़ता है कि पुष्यमित्र ने अपने पुत्रों में साम्राज्य का शासन बाँट दिया था और उसको आठों पुत्रों ने एक साथ राज्य किया । वायुपुराण का वक्तव्य है :—पुष्यमित्र सुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः*

३६ वर्ष राज्य कर चुकने के बाद प्रायः ८० वर्ष की आयु में १४८ ई० पू० के लगभग पुष्यमित्र मरा । उसके जीवन का पूर्वार्ध रक्त रंजित है, उत्तरार्ध शान्ति और सुखा का युग । एक जीवन में पुष्यमित्र शुङ्ग जितना सम्पन्न कर सका वह किसी भी व्यक्ति के लिए आदर्श हो सकता है । सफल क्रान्ति कर एक प्रतिष्ठित राजकुल का नाश तथा उसके स्थान पर अन्य कुल की प्रतिष्ठा स्वयं एक असाधारण और महान् कार्य है । परन्तु इससे बढ़ कर जो उसने संस्कृतियों के संघर्ष के परिणाम में अपने धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण

* पुष्यमिस्तु सेनानीकारपिष्यत् वैराज्यं ।

को प्रतिष्ठा की वह निश्चय साम्राज्य की स्थापना से कहीं बढ़ कर थी। उसने एक नवीन ब्राह्मण-व्यवस्था का संगठन किया जिससे ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार हुआ और ब्राह्मण को प्रतिष्ठा मिली। ब्राह्मण साम्राज्य की बहिर्दृष्ट-शैशुनाग-नन्द मौर्य पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठा भारतीय इतिहास में पहला उदाहरण था। मनुस्मृति की व्यवस्था में ब्राह्मण पृथ्वी का देवता माना गया और शुद्ध निम्न-तम उपेक्षित, शोषित प्राणी। पुष्यमित्र द्वारा स्थापित साम्राज्य मिट गया। उसकी स्मृति भी भारतीयों के स्मृति पटल से लुप्त हो गयी। परन्तु मनुस्मृति में व्यवस्थित उसका समाज विधान आज भी अनेकार्थ में भारत और हिन्दू व्यवहार (कानून) की शिलाभित्य है। इसके अतिरिक्त ग्रीक आक्रमण को असफल करने तथा उनको मध्य देश से बाहर निकालने का भी श्रेय पुष्यमित्र शुङ्ग को ही है। जिस शक्ति की उसने प्रतिष्ठा की उसका प्रभाव और आतंक साभा प्रान्तीय ग्रीक राज्यों पर पश्चात् काल तक बना रहा और वे उसके उत्तराधिकारियों के प्रति मैत्री का भाव बनाये रखने का प्रयत्न करते रहे। पुष्यमित्र ने जो इतना किया उसका एक बड़ा श्रेय उसकी सेना को था जिसकी उसके प्रति स्वामिभक्ति असाधारण थी और जिसके प्रति स्वयं अपने स्नेह औदार्य के प्रदर्शन के अर्थ उसने आमृत्यु अपना विरुद्ध 'सेनापति' रखा। क्रान्ति का संपादन, देश के शत्रुओं का दमन, ब्राह्मण धर्म की पुनः प्रतिष्ठा, दो दो अश्वमेधों का अनुष्ठान, ग्रीकों का पराभव और उनका निष्कासन, पतञ्जलि-मनुस्मृतिकार-असामान्य कला-वर्तों की संरक्षा, तथा विस्तृत साम्राज्य का निर्माण—इनमें से प्रत्येक इतने महत्त्व का था कि किसी भी व्यक्ति के लिए सम्राट् अथवा इस प्रकार का कोई अन्य विरुद्ध धारण करना साधारण बात होती। प्राचीन और उत्तर काल में इसमें कहीं साधारण कृत्यों के परिणाम में राजाओं ने सम्राट् परक विरुद्ध धारण किये। परन्तु पुष्यमित्र के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है कि उसने इतने महत्त्व के कृत्य करके भी अपने को सेनापति कहकर प्रकट करना ही उसने गौरव समझा। यह सेना के प्रति उसके अटूट प्रेम तथा उसके साथ उसके सतत् सम्बन्ध को

प्रदर्शित करता है। अभिलेखों में सर्वत्र उसने अपने को सेनापति ही लिखवाया और उसकी यह उपाधि एक मात्र और इतनी महत्वपूर्ण थी कि प्रायः ५०० वर्ष बाद होने वाले महाकवि कालिदास ने भी अपने मालविकाग्निमित्र में उसके उल्लेख करते हुए इसी सेनापति संज्ञा का प्रयोग किया। भारत के साम्राज्य निर्माताओं में पुण्यमित्र शुङ्ग का नाम अमिट रहेगा। विशेषकर इसलिए कि उसने पहली बार एक ब्राह्मण साम्राज्य की कल्पना और प्रतिष्ठा की।

३

परिशिष्ट

पुण्यमित्र के साम्राज्य का विस्तार

पुण्यमित्र शुङ्ग के चरित्र के प्रसंग में उसके साम्राज्य के विस्तार पर जहाँ-तहाँ आवश्यक उल्लेखनीय लिखा जा चुका है। परन्तु अनेक स्थल उसके चरित्र के रह गये हैं जिनका सम्बन्ध उसके साम्राज्य विस्तार के साथ है और जिनका वहाँ उल्लेख करना सर्वथा युक्ति संगत न होता, इससे यहाँ उनका एक साथ उल्लेख करना उचित होगा।

इस परिशिष्ट का उद्देश्य वस्तुतः पुण्यमित्र शुङ्ग के साम्राज्य की विविध सीमायें निश्चित करना नहीं है। मालविकाग्निमित्र के एक स्थल के अर्थ के सम्बन्ध में जो विद्वानों का अनैक्य हो गया है उसी पर प्रकाश डालना इस परिशिष्ट का उद्देश्य है। कालिदास के नाटक में अंक ५ में विदिशा के शासक अग्निमित्र को लिखे उसके पिता सम्राट् पुण्यमित्र के एक पत्र में सिन्धु नामक नदी का उल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है कि सिन्धु के दक्षिण तट पर (सिन्धोदक्षिणरोधसि) सम्राट् के पौत्र और उसके अश्वमेध के अश्व के रज्जु वसुमित्र की यवनों (ग्रीकों) से मुठभेड़ हुई जिसमें उसने उन्हें परास्त

कर अपने पितामह के अश्व और परिणामतः गौरव की रक्षा की। इस परिशिष्ट का उद्देश्य इसी सिन्धु नदी की पहचान करनी और पुष्यमित्र के साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा निर्धारित करनी है। विवाद का विषय कठिनाइयों से भरा हुआ है और अनेक आवश्यक तथा पेचीदी समस्याओं को प्रस्तुत करता है। डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने इस सम्बन्ध में अपने “अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया” (प्राचीन भारत का इतिहास) * एक पूरा अध्याय लिखा है जिसमें मिनेन्डर के मध्य देशीय आक्रमण तथा सिन्धु नद सम्बन्धी विचार प्रकटित हैं। उस अध्याय में प्रकटित मत कितने निरर्थक हो गये हैं, यह नीचे के मत प्रदर्शन से स्पष्ट हो जायगा।

कर्निघम का अनुसरण करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि पश्चिमी विदेशियों ने शुङ्ग सम्राट् की चुनौती “उस सिन्धु नदी के तट पर स्वीकार की जो अब बुन्देलखंड और राजपूताना की रियासतों के बीच की सीमा बनाती है।” स्मिथ का और भी वक्तव्य है कि “ये लड़ाके मिनेन्डर की सेना के एक टुकड़ा थे जिन्होंने राजपूताना में मध्यमिका पर घेरा डाला था।” परन्तु स्मिथ का मत कितना असंगत है यह नीचे के प्रमाणों से स्पष्ट हो जायगा। पहले हम उस विद्वान् के वक्तव्य की ही आलोचना करेंगे और इस अर्थ कुछ पूर्वगामी बातों पर विचार करना भी आवश्यक होगा।

१. स्मिथ ने डेमेट्रियस के आक्रमण को मिनेन्डर का आक्रमण माना है और इस प्रकार पुष्यमित्र को खारवेल तथा मिनेन्डर दोनों का समकालीन बना दिया है— पुष्यमित्र और खारवेल की समसामयिकता अत्यन्त असन्दिग्ध

* चतुर्थ सं०, पृ० २०६ और आगे।

† वही, पृ० २११।

‡ वही।

— वही, प० २०६, २१०, २२७—२२६।

आधार पर स्थापित है—अर्थात् महावेग वाह्य खारवेल के हाथी गुम्फा—
 अभिलेख के बहसीतमित्र और पुण्यमित्र की एकता पर। परन्तु अब चूँकि
 पुण्यमित्र के स्वतन्त्र सिक्कों की अभिप्राप्ति हो गयी है, इन दोनों नामों की
 एकता (पुण्य-वृहस्पति) की अस्वाभाविक एकता का अवलम्बन कर सिद्धान्त
 निरूपण करना नितान्त असंगत है। स्वयं जायसवाल ने, जिन्होंने इस कष्ट
 कल्पना को जन्म दिया था, स्वयं इसे केवल कामचलाऊ आधार माना था।
 अब पुण्यमित्र के सिक्कों की उपलब्धि से इस आधार की निःसारता
 सिद्ध हो गयी है। अब यदि हम हाथी गुम्फा—अभिलेख के विवादग्रस्त
 स्थल को जायसवाल के साथ 'दिमित' पढ़ें, जो सर्वथा सम्भव है, तो
 भारत का ग्रीक आक्रमक (योनराज) डेमेट्रियस प्रमाणित होता है मिनेन्डर
 नहीं। एक और महत्त्व की बात है जिससे पुण्यमित्र तथा खारवेल की
 समसामयिकता अत्यन्त असंभाव्य हो जाती है। पहली शती ई० पू०*
 लिखे (अर्थात् पुण्यमित्र के समय से प्रायः ५० वर्षों के भीतर) युग पुराण
 (ज्योतिष ग्रन्थ गार्गी-सहिता का एक भाग) में ग्रीक आक्रमण का वृत्तान्त
 अशोक के चतुर्थ उत्तराधिकारी शालिश्क मौर्य† के शासन काल के तुरन्त ही
 बाद हुआ है। विष्णु पुराण के अनुसार शालिश्क के पश्चात् सोमशर्मन्
 मौर्य (दशवर्मन् अथवा वायुपुराण का देववर्मन्), शतधन्वन् मौर्य (शत
 धनुस्—वायुपुराण), और वृहद्रथ मौर्य (वायुपुराण का वृहदश्व अथवा
 वृजदश्व) नामक कम से कम ३ राजाओं ने राज किया। और इस अन्तिम
 मौर्य सम्राट् का वध कर पुण्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। अब यदि यह
 आक्रमण शालिश्क मौर्य के शासन काल के अन्त में अथवा उसके पश्चात्

* J. B. O. R. S. १४, १६२८, पृ० ३६६।

† अली हिस्ट्री आफ इंडिया, चतुर्थ सं०, पृ० २०७।

‡ वही, पृ० ४०१-४०२, पंक्ति १६, और आगे।

हुआ तब शुङ्ग सम्राट् निश्चय पाटलिपुत्र पर ग्रीक अधिकार की इस घटना से कम से कम तीन राज्यकाल दूर है। स्वयं स्मिथ को गणना के अनुसार पुष्यमित्र शालिशूक मौर्य से प्रायः और कम से कम २१ वर्ष* (अर्थात् सोमशर्मन् के राज्यारोहण २०६ ई० पू०—पुष्यमित्र का राज्यारोहण १८५ ई० पू०) दूर है। इस प्रकार यह आक्रमण पुष्यमित्र के शासन काल में किसी प्रकार नहीं आ सका होगा (युगपुराण के इस महत्वपूर्ण स्थल और प्रमाण पर विद्वानों की दृष्टि सम्यक नहीं पड़ी। स्वयं खारवेल का पुष्यमित्र पर आक्रमण निराधार है और सम्भवतः यह शालिशूक मौर्य के शासन काल के आसपास ही हुआ। जिस निष्कर्ष को स्मिथ ने भी सम्भवतः सन्देहपूर्वक स्वीकार किया है।)। युग पुराण का वक्तव्य है कि शालिशूक मौर्य स्वयं नितान्त अशान्ति थी और उसने सौराष्ट्र की जनता का दमन किया तथा उन्हें अपने धर्म में बलपूर्वक दीक्षित किया। परिस्थिति कुछ ऐसी बिगड़ गई थी कि उस वाह्य आक्रमण की सम्भावना स्वाभाविक थी और इस कारण कुछ आशंका नहीं यदि तत्सामयिक इतिहास युग ग्रीक आक्रमक डेमेट्रियस को 'धर्म-भीति' की सजा प्रदान करता है। इस प्रकार यह आक्रमण पुष्यमित्र के राज्यारोहण से काफी पहले हुआ। इसके अतिरिक्त मगध पर खारवेल के दो आक्रमणों का उल्लेख हाथी गुम्फा के अभिलेख में मिलता है। पहली बार के आक्रमण में मगध राज नतमस्तक हुआ और सम्भवतः ही ग्रीक आक्रमण हुआ। दूसरी बार खारवेल के आक्रमण के समय, जैसा कि हाथी गुम्फा के अभिलेख से ध्वनित है 'योनराज दिमित' मथुरा भाग गया और खारवेल का

* वही, पृ० २०७।

† वही।

5 जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, ३ (१६२८, पृ० ४०१, पंक्ति १६)।

मगध पर अधिकार हो गया* । युग पुराण** का वक्तव्य है कि खारवेल के इस दूसरे आक्रमण के पूर्व ही “(मगध के) राजा नष्ट हो गये और यवनों ने (मध्यदेश में) अपनी आज्ञायें चलानी शुरू कीं ।” उसी प्रमाण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि ग्रीक खारवेल के भय से नहीं वरन् अपने गृहयुद्ध के परिणाम-स्वरूप स्वदेश की ओर सत्वर चल पड़े थे । युकेटाइडीज के विद्रोह ने जाटिन के “रेक्स इन्डोरम्” (भारत का राजा†) डेमेट्रियस को उत्तर की ओर शायद बढ़ने को बाध्य किया था । फिर भी ग्रीकों का सत्वर लौटना कलिंग राज की प्रशस्ति में एक आँकड़ा बन गया । ग्रीकों में इस आर्यवर्त से लौटने का उल्लेख सम्भवतः पतञ्जलि ने भी अपने भाष्य में पाणिनि के सूत्र “शूद्राणामनिर्वसितानाम्”†† की व्याख्या में किया है । अब यदि यह सब शालिशूक मौर्य के राज्यकाल अथवा उसकी मृत्यु के शीघ्र ही बाद हुआ तब प्रायः ३ राज्य कालों के पश्चात् ही पुण्यमित्र का मगध के राज्य पर अधिकार कर सकना सम्भव था । उस दशा में वह खारवेल अथवा डेमेट्रियस का समकालीन अथवा उनके द्वारा पराजित मगध का राजा नहीं हो सकता, हों सम्भव है, कि वह उनको कनिष्ठ का समसामयिक रहा हो और मौर्य सेना में साधारण नायक की हैसियत से अपने सुदूर की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के अर्थ षड्यन्त्र सूत्र का वितन्वन कर रहा हो ।

मुझे हार्न द्वारा प्रस्तुत उसके ग्रन्थ “ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया” में प्रस्तुत मत को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं कि मिनेन्डर डेमेट्रियस का

* वही, पृ० ४०३, पंक्ति ४० ।

** यवना ज्ञापयिष्यन्ति नश्येरन् न पार्थिवः—वही, पंक्ति ४१ ।

† ४१, ६, ४—‘देमेत्री रेजिस इन्डोरम्’—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ० १५४ ।

†† देखिए, महाभाष्य—इस सूत्र पर .आर्यावर्त के सीमा-प्रसंग पर भाष्य ।

सेनापति था और सम्भवतः उसका जामाता भी* । यदि यह वक्तव्य सही है तो मिनेन्डर एक और तरुण पुष्यमित्र, का भी समकालीन रहा होगा । मिनेन्डर ने मगध साम्राज्य पर डेमेट्रियस के आक्रमण में संधक्य किया होगा । और हार्न का मत कि सम्भवतः मिनेन्डर ने पूर्व से और डेमेट्रियस तथा एपोलोडोटस ने पश्चिम से हमला कर दोनों पक्ष पाटलिपुत्र में 'चिमते के सिरों की भौंति'** मिले होंगे, सही हो सकता है । यह सार्थक है कि पतञ्जलि इस करण की ओर संकेत करते हुए अपने एक उदाहरण में साकेत और मध्यमिका के घेरो का एक साथ उल्लेख करते हैं† । यदि एक ही आक्रमक द्वारा आयोजित दो स्वतन्त्र सैन्यस्कन्धों द्वारा यदि यह युद्ध यात्रा सम्पन्न न हुई होती तो एक साथ ही परस्पर अत्यन्त दूरस्थ साकेत (अवध में) और मध्यमिका (चित्तौर के निकट नगरी) पर घेरा डालना सम्भव न हो सका होता । पतञ्जलि और गार्गी संहिता†† दोनों ने एक ही ग्रीक आक्रमण का उल्लेख किया है यह इस प्रमाण से स्पष्ट है कि साकेत पर ग्रीकों का अधिकार दोनों में समान रूप से उल्लिखित है । युग पुराण के विश्लेषण से विदित होता है कि मगध पर आक्रमण एक ही नहीं हुआ कई हुए और स्वयं ग्रीकों के हाँ कम से कम दो हुए । स्मिथ उनको केवल एक मानते हैं और उसे पुष्यमित्र के शासन कालऽ में और वह भी मिनेन्डर द्वारा । परन्तु वस्तुतः पहला आक्रमण जैसा कि हाथी गुम्फा के अभिलेखऽऽ और

* ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इन्डिया, पृ० १४०, २२५, २२६ ।

** वही, पृ० १४० और आगे ।

† अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।

†† जे० बी० ओ० आर० एस०, १४, ३ (१६२८), पृ० ४०२, पंक्ति

युग पुराण से* सिद्ध है डेमेट्रियस का था जिसमें मिनेन्डर ने उसके सेना-पति की हैसियत से पूर्व के मार्ग से हिस्सा लिया**। कुछ काल के लिए ग्रीक पाटलिपुत्र में सर्वेसर्वा हो गये। स्थानीय राजा विनष्ट हो गये और ग्रीक शासन वहाँ प्रतिष्ठित हुआ†। साम्राज्य के प्रान्त बिखर गये†† और सर्वत्र अराजकता मच गयी। परन्तु ग्रीक मध्य देश में बहुत काल तक नहीं ठहर सके‡ और डेमेट्रियस को यूकेडाइडिज के विद्रोह के दमन के अर्थ शीघ्र उत्तर की ओर भागना पड़ा। आवश्यकतावश सम्भवतः उसे मिनेन्डर को अपने पूर्वी विजित प्रान्तों का शासक बनाना पड़ा जिसने कालान्तर में शाकल को अपनी राजधानी बना वहाँ एक नये राजकुल की नींव डाली। युग पुराण के इस स्थल पर, यदि हम प्रो० थुन§§ द्वारा प्रस्तुत पाठ में शाकल पढ़ें तो, एक नयी घटना का पता चलता है। शाकल के ग्रीक स्कन्धावारों में सात वीरों का प्रादुर्भाव होता है जिनमें परस्पर युद्ध होता है और ग्रीक वीर उस विपत्ति में नष्ट हो जाते हैं तब पूर्व की ओर सम्भवतः मिनेन्डर के नेतृत्व में फिर से आक्रमण होता है। तलवारें म्यान से निकल पड़ती हैं। साकेल के पास कहीं गंगा की घाटी में कहीं लोहे से लोहा बजता है और पूर्व पश्चिम की सुठभेड़ होती है। बवंडर सा खड़ा हो जाता है और पिटी हुई विदेशी सेनाओं में भगदड़ मच

* जे० बी० ओ० आर० एस०, १४, ३, (१६२८), पृ० ४०३, पं० ४०।

** ग्री० बै० इ०, पृ० १४० और आगे।

† जे० बी० ओ० आर० एस०, वही, पं० ४१।

†† आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः। वही, पृ० ४०२, पं० २५।

§ मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः॥ वही, पृ० ४०३, पं० ४२।

§§ जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, १, पृ० २०, पं० २२।

जाती है। और यदि हम प्लूटार्च के इस वक्तव्य पर निश्चय करें कि मिनेन्डर पूर्व में गंगा की घाटी में लड़ता हुआ मारा गया* तो भला पुष्यमित्र के सिवा यह समर्थ और भीषण शत्रु और कौन हो सकता है। अब इन दोनों ग्रीक आक्रमणों के बीच की अवधि काल के अनुपात से काफ़ी रही होगी। इस अवधि के भीतर तीन मौर्य शासन काल व्यतीत हो गये होंगे। पुष्यमित्र द्वारा अन्तिम मौर्य सम्राट् का वध और मगध पर अधिकार सम्पन्न हो गया होगा, प्रथम अश्वमेध का अनुष्ठान हो चुका होगा और एक दीर्घ कालिक ब्राह्मण शासन की व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी होगी। तत्पश्चात् मिनेन्डर के नेतृत्व में डिमेट्रियस के विजित प्रान्तों पर अधिकार के निमित्त पूर्व की ओर प्रस्थान हुआ होगा। आखिर मिनेन्डर प्रथम आक्रमण में डिमेट्रियस का सहायक तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके प्रान्तों का स्वामी बन चुका था; परन्तु ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र ने उसके मनसूवों पर पानी फेर दिया। यह पुष्यमित्र पतञ्जलि का आदर्श ब्राह्मण राजा था। और अब जब कि पश्चिम का तूफान बह गया था, शाकल का सिंहासन रक्त पड़ा था और तक्षशिला तथा सिन्धु पर प्रभुत्व सन्दिग्ध हो गया था। भारतीय प्रत्याक्रमक पुष्यमित्र ने शत्रु को सर्वथा मिटा देने और सिन्धुवर्ती देश पर अपने आधिपत्य को निश्चित करने के अर्थ संकल्प किया। दूसरा अश्वमेध इसी उद्देश्य की पूर्ति में हुआ। पुष्यमित्र के पराकर्मा पौत्र और उसके निरर्गल अश्व के अजेय रक्षक वसुमित्र ने अश्व के अनुसरण में आर्यावर्त के विस्तृत पश्चिमी क्षेत्र का रौंद डाला और शाकल की अराजक राजधानी तथा तक्षशिला से होता सिन्धु नद के तट तक जा पहुँचा, जहाँ उसने एकत्रित ग्रीकों को धूल चटा दी। इस प्रकार उसने अपने पितामह के भारत के सम्राट् होने का सही दावा स्थापित किया। यही सिन्धु नद हमारे मालविकाग्निमित्र का सिन्धु है। टार्न ने सिकन्दर और डेमेट्रियस†

* ग्री० बै० इ०, पृ० २२८, (मोर०, ८२१, डी०) ।

† वही, पृ० १३१ ।

के भारत विजय के अभिप्रायों में एक प्रकार की समता का दर्शन किया है परन्तु वह समता वहीं तक सीमित नहीं है और दूसरे पक्ष में भी उसकी सार्थकता प्रदर्शित की जा सकती है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार डेमेट्रियस का आदर्श सिकन्दर था ठीक उसी प्रकार सम्भवतः पुण्यमित्र का आदर्श भी चन्द्रगुप्त मौर्य था। परन्तु जैसे सिकन्दर की महत्त्वाकांक्षा पूरी न हो सकी वैसे ही डेमेट्रियस का मनोरथ भी विफल हो गया। मिनेन्डर को अपने स्वामी डेमेट्रियस के जीते हुए प्रान्तों को फिर से हस्तगत करने के लिए उसी प्रकार प्रयत्न करना पड़ा जिस प्रकार सिल्यूकस को अपने स्वामी सिकन्दर के जीते प्रान्तों के अर्थ करना पड़ा था। परन्तु जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित होकर सिल्यूकस के प्रयत्न व्यर्थ हो गये ठीक उसी प्रकार पुण्यमित्र से परास्त होकर मिनेन्डर भी विनष्ट हो गया। और भारतीय सम्राट् ने भी पराजित ग्रीकों के प्रति अपनी माँग में कमी न की। क्या चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस के साथ सन्धि में ग्रीक राजकुमारी प्राप्त न की थी? फिर समान परिस्थिति में पुण्यमित्र ही क्यों चूके? इसी कारण युग पुराण लिखता है कि किस प्रकार उसने, सम्भवतः अपने पौत्र के लिए (वह स्वयं अब ६० से ऊपर हो चुका था) एक ग्रीक महारूपशालिनी राजकुमारी माँगी। यह प्रमाण उस अशोका-वदान* के वक्तव्य से भी समर्थित है जिसका रचयिता सम्भवतः पुण्यमित्र का अल्पायु समसामयिक था**। सम्भवतः पिता द्वारा आरम्भ किये युद्ध को अग्निमित्र ने जारी रखा† और अन्त में उसके उद्देश्य को पूर्ण करने में समर्थ हुआ††।

२. मिनेन्डर की पराजय और मृत्यु के पश्चात् मध्य देश यवनों से रिक्त

* अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया, पृ० २२६।

** ग्री० बै० इ०, पृ० १७७।

† जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, १, (१६३०), पृ० ३६।

†† वही।

हो गया होगा और वह भूभाग ब्राह्मण-धर्म विरोधी बौद्ध राजा* के चंगुल से स्वतन्त्र हो गया होगा। यवनों के लिए केवल सुदूर पश्चिमी पञ्जाब पर अधिकार रख सकना सम्भव हो सका होगा और पुष्यमित्र शुङ्ग की स्थिति के सम्राट् के लिए, जिसने दो दो अश्वमेध किए थे, किसी प्रकार यह सम्भव न था कि वह मिनेन्डर सरीखे प्रबल शत्रु की सेना को इतना पास छोड़ दे कि उसका सहायता राष्ट्र संकट में पड़ जाय, (और जिसकी एक टुकड़ी से वसुमित्र की मुठभेड़ हो भी गई थी)।

३. इस सम्बन्ध में एक और प्रमाण पर भी विचार किया जा सकता है। 'अशोकावदान' में लिखा है कि पुष्यमित्र बौद्धों का शत्रु था और उसने जलन्धर तक सारे बौद्ध विहार जला डाले†। इस कथा की सत्यता में सन्देह किया गया है और इसे अतिरंजित कहा जाता है‡। परन्तु इस कथा की घटना पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं, और इसका सर्वथा कपोलकल्पित मानना सत्य तथा इतिहास की परम्परा को चुनौती देना है। कुछ सामग्री अभी तक अज्ञात पड़ी है जिससे इस प्रसंग पर प्रकाश पड़ सकता है। इस पर नीचे विचार करना उचित होगा।

मौर्यकुल के राजा चन्द्रगुप्त से लेकर पीछे तक के जैन अथवा बौद्ध थे और जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। इसी कारण ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध उनके आचरण और तज्जनित इस धर्म के अनुयायियों की कठिनाइयों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब जब ब्राह्मण-धर्म के अभ्युदय के लक्षण दिखाई दिए तब तब बौद्ध संघ ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्रों की प्रवृत्ति दिखाई। पुष्यमित्र बौद्धों का शत्रु था और उसने जैन-बौद्ध-मौर्य-क्षत्रिय-कुलीय बृहद्रथ का दिन के प्रकाश में वध कर मगध की गद्दी छीन ली थी। यह

* मिनेन्डर का बौद्ध होना मिलिन्द-पण्हो से सिद्ध है।

† अ० हि० ३०, चतुर्थ सं०, पृ० २१३।

‡ वही।

सफल क्रान्ति उस ब्राह्मण षड्यन्त्र की परिणति थी जिसका घटयिता स्वयं पुण्यमित्र और केन्द्र सम्भवतः महर्षि पतंजलि थे। वह स्वयं तो ब्राह्मण था ही, ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धारक भी था। उसने दीर्घकाल से लुप्त अश्वमेध तथा अन्य अनुष्ठानों और वैदिक विधि-क्रियाओं का अनुष्ठान था और वह स्वाभाविक ही महावीर तथा बुद्ध के अनुयायियों के क्रोध तथा घृणा का लक्ष्य बन गया होगा। बौद्धों में षड्यन्त्र की भावना चलवती हो उठी थी और कुछ आश्चर्य नहीं जो उन्होंने दीर्घकालिक-पश्चात्तामी बौद्ध-राज्य की पृष्ठ-भूमि से पुण्यमित्र और ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध युद्ध किया हो। उनके समर्थकों तथा अनुयायियों की संख्या भी देश में कुछ कम न थी।

यहाँ इस प्रसंग को क्षण भर छोड़ तनिक स्मिथ के मत पर विचार करें। यदि हम उसके तर्क पर विश्वास करें तो उस ब्राह्मण सम्राट् पर दो आक्रमण हुए—एक बौद्ध मिनेन्डर द्वारा, दूसरा जैन खारवेल द्वारा। ब्राह्मण-धर्म के द्वेषियों द्वारा किए गए दोनों आक्रमण आकस्मिक नहीं कहे जा सकते। यदि यह सर्वथा राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की बात थी तो किसी कोने से किसी समान धर्मा द्वारा भी आक्रमण हो सकता था। इन आक्रमणों के कारण पर विचार करना आवश्यक होगा। क्या यह सम्भव नहीं कि इस ब्राह्मण-धर्मो-जीवक और पशुवध-प्रेमी के विरुद्ध बौद्धों और जैनों दोनों ने परस्पर एका कर लिया हो और उनके सम्मिलित षड्यन्त्र का परिणाम खारवेल का आक्रमण रहा हो? यद्यपि इसके अतिरिक्त भी यह कारण हो सकता था कि मगध-राज का दूर पूर्ववर्ती नन्द कलिंग को जीत कर वहाँ से तीर्थंकर की मूर्ति जो उठा लाया था उसे वापिस ला कर अपने गौरव और मान की रक्षा की जाय। पहला आक्रमण उत्कोच (रिशवत) के मूल्य द्वारा लौटा दिया गया परन्तु दूसरे के फलस्वरूप पुण्यमित्र को बाध्य होकर मथुरा भागना पड़ा। परन्तु निःसन्देह ब्राह्मणराज शक्तिमान् तथा नीतिकुशल निकला और शीघ्र उसने अपने राज्य पर अधिकार कर लिया। परन्तु हमें अपने तर्क की पुष्टि के अर्थ स्मिथ के तर्क का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। यह स्पष्टतया माना जा

सकता है कि षड्यन्त्रकारी निरन्तर सयत्न थे और उन्होंने शीघ्र ग्रीक मिनेन्डर को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर अपना कार्य साधने की चेष्टा की। निःसन्देह उनका यह आचरण डेमेट्रियस के लौटने तथा मिनेन्डर के शाकल (स्यालकोट) में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् हुआ। मिनेन्डर नवदीक्षित धर्म-बन्धु के उत्साह और राज्य-प्रसार की अभिलाषा से सेना लेकर निकला और पूर्व की ओर बढ़ता चला गया। परन्तु जिस कर ने बृहद्रथ को मार कर राज्य पर अधिकार किया था उसमें उस पर अधिकार कायम रखने की भी शक्ति थी और उसने आक्रमण को विफल कर आक्रमक को मार डाला तथा उसके राज्य पर कब्जा भी कर लिया। पुष्यमित्र ने इस आक्रमण का कारण (अर्थात् बौद्ध षड्यन्त्र) स्पष्टतः समझ लिया होगा और उससे उसका क्रोध इतना असह्य हो गया होगा कि उसने अपना विजय के बाद मिनेन्डर के अनुयायियों का पीछा किया होगा और मार्ग में अपने धर्म, देश तथा राज्य के शत्रु बौद्ध भिक्षुओं का वध करता तथा उनके षड्यन्त्र के केन्द्र उनके विहारों को भस्म करता चला गया होगा। यह आचरण नहीं है कि अशोकावदान की कथा में उसके जलन्धर तक के विहारों के जलाने और शाकल में एक एक श्रमण-मस्तक का सौ-सौ दीनार मूल्य देने का उल्लेख है।* हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि शाकल में बौद्धों का बाहुल्य था और उस नगर का पुष्यमित्र के अधिकार में होना कहा गया है।† इस कथा में हमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं जान पड़ती और यह कहना कि चूँकि ब्राह्मण-धर्मावलम्बी राजा असहिष्णु नहीं होते थे, पुष्यमित्र इतना निर्दय नहीं हो सकता सर्वथा असंगत है और इतिहास का तिरस्कार करना है। आखिर शशांक का उदाहरण हमारे सम्मुख है। इस

* पुष्यमित्रों यावत् संधारामान् भिक्षूश्च प्रघातयत् प्रस्थितः । स यावच्छ्वा कलमनुप्राप्तः । तेनाभिहितम् । यो मे श्रवणशिरो दास्यति तस्याहं दीनार शतं दास्यामि ।—दिव्यावदन के अशोकावदान से ।

† ग्री० वै० ६०, पृ० १७७ ।

कहानी का तथ्य सन्देह का विषय नहीं हो सकता विशेषकर इस कारण कि यह उस व्यक्ति से संपर्क रखती है जो जीवन भर सैनिक और योद्धा बना रहा और परिणाम-स्वरूप उसने अपने सर्वथा पराक्रमेण अर्जित विरुद्ध समाट् के स्थान पर 'सेनापति' का विरुद्ध धारण किया, वस्तुतः उस व्यक्ति से जो युद्धों से उल्लसित होता था, रत्नरंजित पशु-यज्ञों में रति रखता था। फिर यह भी स्मरण रखने की बात है कि ग्रीकों द्वारा साकेत और मध्यमिका का घेरा तथा पाटलिपुत्र पर अधिकार उसे भूले न होंगे और उनकी याद से उसमें प्रतिशोध की भावना जग उठी होगी—राष्ट्र के शत्रु ग्रीकों के प्रति भी, देशद्रोही बौद्धों के प्रति भी।

४. मालविकाग्निमित्र* में वर्णित अश्वमेध निःसन्देह दूसरा था जो पुण्यमित्र के शासन के प्रायः अन्त में अनुष्ठित हुआ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि राजसूय के अश्व का रक्षक उसका पौत्र वसुमित्र था जिसे प्रमाणित इतना बड़ा होना चाहिये जो अश्वरक्षण का सा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य का भार ग्रहण कर सके और विदेशों में जाकर ग्रीकों को परास्त कर सके। इस नाटक में अग्निमित्र का प्रौढ़ायु में मालविका से प्रेम करना तथा अनेक नारियों का पति तथा अनेक सन्ततियों का पिता होना प्रदर्शित है। इन बातों से सिद्ध है कि यह दूसरा अश्वमेध था और पुण्यमित्र अब तक वृद्ध हो चुका था। उसके जैसे नीति कुशल, कर्मठ और दूरदर्शी राजा से यह स्वाभाविक ही आशा की जा सकती है कि इस आयु तक पहुँचने के पूर्व ही उसने अपने साम्राज्य का विधिवत् संगठन कर लिया होगा और उसमें शान्ति तथा समृद्धि की व्यवस्था कर ली होगी। इस वक्तव्य में वस्तुतः कोई शक्ति नहीं कि वसुमित्र ने जिस यवन-सेना को सिन्धु तट पर परास्त किया वह बड़ी सेना का शेष भाग था और यह सिन्धु नदी बुन्देलखण्ड की लुद्र नदी काली सिन्ध है। फिर यह प्रमाणित करना शेष ही रह जाता है कि काली

सिन्ध पुष्यमित्र के साम्राज्य से होकर नहीं बहती थी। इसके विरुद्ध यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस नदी की घाटी पिता के साम्राज्य और पुत्र के शासन में पड़ती थी। यह कैसे सम्भव है कि काली सिन्ध जो अग्निमित्र की राजधानी विदिशा के इतना निकट बहती थी पुष्यमित्र के साम्राज्य के बाहर थी? अतः चूँकि शाकल* की निकटवर्ती भूमि, अवन्ती (मालवा) और विदर्भ का द्वैराज्य† शुङ्ग सम्राट् के चरणों में थे और चूँकि काली सिन्ध का प्रायः सारा प्रवाह इस राज्य के अन्तर्गत पड़ता था, यह नहीं माना जा सकता कि पुष्यमित्र के शासन के प्रायः अन्त में एक ग्रीक सेना काली सिन्ध के तट पर डेरा डाल कर उसकी समृद्धि को संकट में डाल सकती।

५. स्मिथ के उल्लेखानुसार, पुष्यमित्र खारवेल से परास्त होकर मथुरा भाग गया था। वह मथुरा निश्चय उसके राज्य से बाहर नहीं रही होगी, सम्भवतः उसके राज्य के सर्वथा पश्चिमी सीमा पर भी नहीं क्योंकि हमें उसके शत्रु बौद्धों और उनके मित्र तथा समानधर्मी और महत्वाकांक्षी उस मिनेन्डर का भी ध्यान रखना होगा जिसके राज्य की सीमा उसकी सीमा से लगी थी। फिर भी हम अपना सिद्धान्त स्मिथ के तर्क के दुर्बल आधार पर नहीं रखेंगे विशेषकर जब ऊपर उद्धृत अशोकावदान का प्रमाण हमारे पास है। इसका वक्तव्य है कि शाकल शुङ्गों के अधिकार में था। इस प्रकार मथुरा भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत ही थी। अब यदि शाकल साम्राज्य के अन्तर्गत था तब यह स्वाभाविक और तर्कसिद्ध है कि हम सिन्धु की पहचान इस नगर के पश्चिम की किसी नदी के साथ करें, काली सिन्ध तो शाकल से बहुत पूर्व रह जाएगी। और शाकल के पश्चिम इस नाम की एक ही नदी है—पश्चिमी पञ्जाब का सिन्धु नदी।

* अशोकावदान में यह पुष्यमित्र के अधिकार में बताया गया है।
देखिए, ग्री, बै० इ०, पृ० १७७।

† मालविकाग्निमित्र, ५, १३।

६. अश्वमेध की सार्थकता अश्वपति द्वारा अनभिजित भूमि जीतने में ही है। उसका राजसूय अश्व घर में ही नहीं बाँधा जा सकता और चूँकि काली सिन्ध सेनापति के साम्राज्य से होकर बहती थी, अश्व उससे दूर पार, शाकल के भी पश्चिम, निरर्गल घूमा होगा और उसके रक्षक की ग्रीकों से मुठभेड़ पञ्जाब के सिन्धु नद के तट पर ही हुई होगी।

७. अन्त में मालविकाग्निमित्र* से विदित है कि वसुमित्र की माता धारिणी और पिता अग्निमित्र पुत्र की विजय पर असंयत हर्ष प्रकाश करते हैं। इससे उनकी उसके सम्बन्ध में अत्यधिक चिन्ता प्रगट होती है जिसकी पुष्टि उसकी माता के उद्गार—अति घारे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः†—से भी होती है। हमें यह भी ज्ञात है कि वसुमित्र की विजय का सन्देश धारिणी और अग्निमित्र को पुण्यमित्र के पत्र‡ से मिलता है। यह निश्चय विस्मय की बात होती यदि युद्ध अग्निमित्र के राज्य से होकर बहने वाली काली सिन्ध के तट पर हुआ हाता और उस दशा में उनको सन्देश भी सबसे पहले मिलता। इस तर्क में जान नहीं है कि अग्निमित्र अन्तःपुर के प्रेम-षड्यन्त्रों में फँसा रहने के कारण राजनीति से उदासीन रहा करता था क्योंकि विदर्भ-विजय का उदाहरण हमारे सामने है जिसके सम्पादन में उसने असाधारण तत्परता, सत्वरता और नीतिकुशलता का परिचय दिया था। सन्देश सेनापति के यहाँ से इस कारण आया कि वह युद्धस्थल के अपेक्षाकृत निकट था—अर्थात् सीमाप्रान्तीय सिन्ध के निकट—और जिससे वाहक ने वसुमित्र के यहाँ से सदेश वहन किया था, उसने राह में पाटलिपुत्र में क्रयाम किया था।

* पृ० १०२-१०४।

† वही, पृ० १०१।

‡ वही, पृ० १०२।

ऊपर प्रस्तुत सामग्री से पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि मालविका-ग्निमित्र का सिन्धु मध्यभारत की काली सिन्ध न होकर पञ्जाब का प्रख्यात-नामा सिन्धु नद है और एक समय उसके तट तक, मथुरा और शाकल के पीछे, उत्तर-पश्चिम में पुष्यमित्र की साम्राज्य-सीमा जा पहुँची थी ।

६

कनिष्क

१

१६५ ई० पू० के लगभग हूणों ने उत्तर-पश्चिमी चीन के कान्सू प्रान्त के अपने पड़ोसी यूह्चियों को उनके मूलस्थान से निकाल बाहर किया। यूह्ची पश्चिम की ओर चले। ईली नदी की घाटी में उनका अन्य जातियों से संघर्ष हुआ और वे विजयी हुए। इस घाटी में उनके दो दल हो गए। एक तो तिब्बत की सीमा पर बस गया, दूसरा दल सोर दरिया की घाटी में बसे शकों से जा टकराया। परन्तु स्वयं यूह्ची वहीं अधिक काल तक ठहर न सके और उनको हार कर वहाँ से हटना पड़ा। अब वे वल्लुनद की घाटी की ओर बढ़े और १४० ई० पू० के शीघ्र ही बाद बैक्ट्रिया (बल्ख, वह्लीक) को उन्होंने जीत लिया। कुछ दिनों उस घाटी में रह चुकने और उसकी उर्वर भूमि के साधनों का उपयोग कर उन्होंने अपनी खानाबदोश आदतें छोड़ दीं।

यूह्ची पाँच भागों में बँटे थे। कुजूल कडफ्राइसिस उनमें से एक का सरदार था। उसने अपनी जाति में महानता के लक्षण देखे और उन पाँचों को मिला कर एक कर दिया। यूह्ची अब वीर कृत्यों के लिए कजूल कडफ्राइसिस के नेतृत्व में अपनी घाटी से निकले। शीघ्र कुजूल ने काबुल की घाटी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया क्योंकि यद्यपि काबुल में कुछ

और काल तक ग्रीक शासन बना रहा, ग्रीक सिक्कों पर कुजूल का नाम भी हरमीयस के नाम के साथ ही खुदने लगा। सम्भव है दोनों में पहलव शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए एका हुआ हो। चाहे जो हो यह निःसन्देह सही है कि धीरे-धीरे काबुल की घाटी से ग्रीक शासन उठ गया और कुजूल वहाँ का स्वतन्त्र और अकेला स्वामी बन बैठा। परन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षा काबुल तक ही सीमित न रह सकी।

कुजूल ने पार्थिया राज्य पर भी आक्रमण किया जिससे सिद्ध है कि वह इस अवस्था में था कि विजयों के अर्थ प्रयास कर सके। पार्थिया के साथ उसके सन्धप का क्या फल हुआ यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका प्रयास उधर विशेष सफल न हो सका। तब उसने पूर्व और दक्षिण की ओर रुख किया। शीघ्र उसने किपिन (सम्भवतः गन्धार) पर अधिकार कर लिया और दक्षिणी अफगानिस्तान को भी जीत लिया। तरुत-ए-बाही के लेख के अनुसार यहूव राजा गुदफर (गोन्डाफर्नेज) ४५ ई० में मरा था। कुजूल की विजय उसकी मृत्यु के पश्चात् ही हुई होगी। चीनी साहित्य में कुजूल का अस्सी वर्ष तक जीवित रहना लिखा है। वह संभवतः प्रथम शती ई० के तृतीय चरण में मरा।

कुजूल के पश्चात् उसका पुत्र वीमकडफ्राइसिस बैक्ट्रिया, काबुल और गन्धार का राजा हुआ। चीनी इतिहासकारों ने उसे भारत जीतने का श्रेय दिया है। सम्भव है इस उल्लेख में सभी तथ्य न हों परन्तु उसके बिछदों से जान पड़ता है कि उसका भारत से घना सम्बन्ध स्थापित हो गया था। उसके सिक्कों के बाहुल्य तथा प्रचलन-विस्तार से भी विदित होता है कि उसके शासन की सीमाएँ सिन्धु के पार पूर्वी पञ्जाब तक जा पहुँची थीं और कुछ आश्चर्य नहीं कि उसने युक्त प्रान्त के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया हो। भारतीय प्रान्तों का शासन उसका प्रतिनिधि करता था जिसके 'अज्ञात नामा' सिक्के उत्तर-भारत में बहुलता से मिलते हैं। भारत से उसके सम्बन्ध

का एक परिणाम यह भी हुआ कि यूह्ची हिन्दू धर्म के प्रभाव में आने लगे । वीम के सिक्कों पर उसका एक विरुद 'माहेश्वर' खुदा है और उन पर शिव और नन्दी की आकृतियाँ बनी हैं ।

२

प्रख्यातनामा कनिष्क इसी यूह्ची जाति का था । इसकी एक शाखा का नाम कुषाण था जो कुजूल कडफाईसिस के अध्यवसाय से यूह्चियों विशेष प्रसिद्ध हुआ । भारत को विजय का श्रेय विशेषतः इसी कुषाण शाखा को था । वीम के बाद कनिष्क कुषाणों का राजा हुआ और उसने अपनी विजयों तथा बौद्ध धर्म की सेवा तथा प्रचार के कारण प्रभूत ख्याति प्राप्त की ।

परन्तु कनिष्क की शासन-तिथि अत्यन्त सन्दिग्ध है । भारतीय इतिहास का सम्भवतः कोई प्रसंग नहीं जिसकी तिथि के सम्बन्ध में इतनी छानबीन हुई हो, जिस पर इतना लिखा गया हो और जिस पर विद्वान् इतने असम्मत् हों । इतने महान् नृपति के सम्बन्ध में इतनी थोड़ी ऐतिहासिक सामग्री का ज्ञान निश्चय विस्मयकारक है । उसकी तिथि की आंशिक गणना में तो अनुल्लंघनीय कठिनाइयाँ हैं ही, कुषाणों का उत्तराधिकार क्रम भी सर्वथा निश्चित नहीं है और उसमें भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं । फ्लीट, केन्नेडी, और ओटो फ्रांक का मत तो है कि कुजूल और वीमकडफाईसिस ने कनिष्क के पश्चात् राज किया और वे उसके उत्तराधिकारी थे । परन्तु पाए हुए सिक्कों की पारस्परिक सन्निकटता से यह सिद्ध हो गया है कि तीनों काल-क्रम में सन्निकट तो थे ही, उत्तराधिकारी-क्रम में भी उसका पूर्वोत्तर-सम्बन्ध इस प्रकार था—(१) कुजूल कडफाईसिस, (२) वीमकडफाईसिस, और (३) कनिष्क । यह क्रम प्रायः निश्चित हो गया है । बनारस, गोरखपुर, काबुल—सर्वत्र वीमकडफाईसिस और कनिष्क के सिक्के एक साथ मिले हैं और उनमें लक्षणों की भी एकता स्पष्ट है । दोनों के सिक्के प्रायः समान तौल, परिमाण और 'फिनिश' के हैं । तत्त्वशिला की खुदाई के स्तर-अध्ययन

से भी वीम और कनिष्क की कालिक सन्निकटता सिद्ध है। इससे विद्वानों का निष्कर्ष है कि दोनों न केवल समय के विचार से परस्पर निकट थे प्रत्युत कनिष्क को वीम कडफ्राइसिस का उत्तराधिकार भी मिला। एक बार यह निश्चित हो जाने पर कनिष्क और कुजूल के क्रम में कोई दिक्कत नहीं पड़ती क्योंकि कुजूल और वीम में परस्पर पिता-पुत्र का संबंध है। इस प्रकार यह उत्तराधिकार क्रम—कुजूल-वीम-कनिष्क—निश्चित हो जाने पर कनिष्क का शासन काल निश्चित करना उचित होगा। संभवतः वीम की मृत्यु और कनिष्क के राज्यारोहण की तिथियों में कुछ अन्तर था। क्यों और कितना, यह नहीं कहा जा सकता।

कनिष्क के राज्यारोहण के संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं और उन्होंने उसकी अनेक तिथियाँ दी हैं। फ्लीट उसे विक्रम संवत् का प्रवर्तक और ५८ ई० पू० में हुआ मानते हैं और डा० रमेशचन्द्र मजूमदार उसे प्रायः ३०० वर्ष बाद २४८ ई० में रखते हैं। सर रामकृष्णगोपाल भगडारकर ने तो उसका राज्यारोहण और बाद २७८ ई० में माना है। परन्तु वस्तुतः दो ही तिथियों की संभावना हो सकती है। उनमें से एक ७८ ई० है दूसरी १२५ ई०। उनमें भी ७८ ई० अधिक संभावित जान पड़ती है। विद्वानों में यह अनुश्रुति जोर पकड़ती जा रही है कि एक राजाओं द्वारा निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण जिग संवत् का नाम उत्तर काल में 'शक संवत्' पड़ गया उसे ७८ ई० में कनिष्क ने ही चलाया था। चूँकि उसके उत्तराधिकारियों ने उसके गणना-क्रम को ही जारी रखा, इसमें सन्देह नहीं कि उसने किसी संवत् का प्रचलन किया था। और उत्तर भारत में प्रचलित किसी ऐसे संवत् का हमें ज्ञान नहीं जो १२५ ई० में चलाया गया हो जिस तिथि को एक पक्ष कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि मानता है।* फिर यदि कुजूल प्रथम शती ईस्वी के

*कनिष्क के तिथि संबंधी विचारों के लिए देखिए, जे० आर० ए० एस०, १६१३, १६१४; इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, खण्ड ५, (१६२३), पृ० ४६-८०.

तृतीय चरण के मध्य के लगभग मरा तो कनिष्क इस तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकता क्योंकि कुजूल अस्सीवर्षीय था और एतदर्थ उसका पुत्र वीम कड-फ्राइसिस अधिक काल तक शासन न कर सका होगा। इससे कनिष्क का राज्यारोहण ७८ ई० में मानना अपेक्षाकृत सही होगा।

कनिष्क कुषाण कुल का सबसे महान् राजा था। उसके अध्ययन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) उसके पार्थिव प्रयास, और (२) धार्मिक आचरण। इनमें से प्रत्येक पर कुछ विस्तार से विचार करना श्रेयस्कर होगा। ऐतिहासिक सामग्री स्वल्प है; परन्तु उससे कनिष्क के व्यक्तित्व, दिग्विजय, धर्माचरण आदि पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

विजय—कनिष्क असामान्य योद्धा था और यद्यपि अपनी विजयों के विस्तार अथवा चमत्कार में वह चन्द्रगुप्त मौर्य या समुद्रगुप्त की ऊँचाई तक नहीं उठ पाता, इसमें सन्देह नहीं कि उसकी विजय भी विस्तृत थी। कुषाण-राज्य के उत्कर्ष की वह चोटी पर था और उसके उत्तरोत्तर अभ्युदय का उसने निरन्तर यत्न किया। वह मिन्नैन्डर के पश्चात् पहला विदेशी राजा था जिसने भारत में जम कर और भारतीय बनकर राज किया और उसने भारतीय इतिहास पर मिन्नैन्डर से कहीं गहरी छाप छोड़ी है। भारत के प्राचीन विदेशी राजाओं में कनिष्क सबसे महान् था और उसके समय में अराजकता निरोहित हुई और शान्ति का वातावरण फैला। परन्तु स्वयं कनिष्क लड़ाका था और उसका जीवन अधिकतर युद्धों में ही बीता।

बैक्ट्रिया, काबुल और पंजाब उसके पूर्वजों ने जीता था उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी की विजय की। चीनी और तिब्बती साहित्य में उसके भारत में पूर्वाभिमुख धारों का भी उल्लेख है। उनसे विदित होता है कि उसने साकेत और मगध पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र से बौद्ध दार्शनिक, कवि और नाटककार अश्वघोष को बलपूर्वक अपने साथ ले गया। उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी; परन्तु वह काश्मीर के प्रति काफ़ी अनुरक्त था। पुरुष-पुर उसके राज्य के प्रायः मध्य में पड़ती थी, जहाँ से उसे अपने पश्चिमी

भूभागों के शासन में सुविधा होती थी। पार्थियन राजा ने उस पर एक बार चढ़ाई कर कुजूल के आक्रमण का बदला फेरना चाहा; परन्तु उसका वही परिणाम हुआ जो कभी कुजूल के हमले का पार्थियों पर हुआ था। कनिष्क ने उसे निष्फल कर दिया। उस आक्रमण से छुट्टी पाकर कुषाण नरेश ने उत्तर-पूर्व की ओर अपना रुख फेरा।

वस्तुतः कनिष्क की सबसे महत्वपूर्ण मुठभेड़ चीनियों के विरुद्ध हुई जिसके परिणाम में उसे काशगर, खोटान और यारकन्द के प्रान्त प्राप्त हुए। २३ ई० में प्रथम हान-सम्राट् कुल के अन्त में मध्य एशिया पर चीन का प्रभाव सर्वथा घट चला था। उस राजकुल के अवसान और मध्य एशिया के अन्यकुलों के उत्कर्ष से ऐसा होना स्वाभाविक ही था। परन्तु इस तिथि के पश्चात् चीनियों ने फिर प्रसर की नीति अपनाई और विजय के उपक्रम किये। इस सम्बन्ध में उनका सेनापति पान्-चाऊ अत्यन्त महत्वाकांक्षी और सशक्त सिद्ध हुआ। उसका पश्चिमामिमुख विजय प्रस्थान कुषाण राज्य के लिए विपद की बात थी। परन्तु कनिष्क उससे भयभीत न हुआ, उल्टे उसने चीन के सम्राट् से बराबरी का दावा किया। उसने स्वयं तो 'देवपुत्र' का विरुद्ध धारण किया और पान्-चाऊ के पास एक चीनी राजकुमारी को माँग के लिए अपना दूत भेज। पान्-चाऊ ने स्वाभाविक ही इसे अपनी और अपने सम्राट् की अवमानता समझी और उसने कनिष्क के दूत को बन्दी कर लिया। इस पर क्रुद्ध होकर कनिष्क ने एक विशाल सेना के साथ पामीर पार किया और पान्-चाऊ के ऊपर आक्रमण कर दिया। परन्तु उसे उल्टे लेने के देने पड़ गए। वह बुरी तरह हारा और उसे चीनी सम्राट् को कर देने की प्रतिज्ञा कर सन्धि करनी पड़ी।

परन्तु पराजित होकर कनिष्क चुन न बैठ सका। कुछ वर्ष बाद वह फिर पामीरों के पार चला। पान्-चाऊ अब तक मर चुका था और उसके पुत्र पान्-यांग ने कनिष्क का सामना किया। इस बार विजयलक्ष्मी कुषाण राज के पक्ष में रही और उसने चीन एक करद राज्य को उसे कर देने पर

मजबूर किया। इस सन्धि के बीच उसे उस राज्य से बन्धक के रूप में कुछ राजकुमार अथवा विशिष्ट व्यक्ति भी प्राप्त हुए। यह भी कहा जाता है कि इनमें चीन के हान सम्राट् का एक पुत्र भी था; परन्तु यह कल्पना नितान्त निराधार है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बन्धक में कनिष्क को कुछ विशिष्ट व्यक्ति मिले क्योंकि उनका प्रायः विस्तृत वर्णन हुएन-चर्चांग ने किया है। इनके आराम और सुविधा के अर्थ कनिष्क ने अनेक प्रबन्ध किए और ऋतुओं की सुविधा के अनुसार उसने उन्हें कपिशा (काफिरिस्तान) के शोलो-के नामक बौद्ध विहार, गन्धार, तथा पूर्वी पंजाब के चीनभुक्ति आदि अनेक स्थानों में रखा। कहते हैं कि कनिष्क के इन्हीं संभ्रान्त अतिथियों ने भारत में पहले-पहल आबू और नाशपाती के पौधे लगाए।

साम्राज्य-विस्तार—ऊपर की विजयों से प्रमाणित है कि कनिष्क ने पर्याप्त विस्तृत साम्राज्य का शासन किया होगा। भारत के बाहर अफगानिस्तान, बैक्ट्रिया आदि पर उसका पैतृक शासन ही रह चुका था, और अब स्वयं इन देशों का अधिपति था। इनके अतिरिक्त उसने चीनियों और उनके करद राज्यों से काशगर, खोटान (खुत्तन), तथा यारकन्द के विस्तृत प्रदेश भी जीत लिए थे। यह तो हुआ उसके भारतेतर प्रान्तों का परिगणन। परन्तु भारत के भीतर उसके राज्य की सीमाएँ निश्चिन करनी कठिन हैं। पुरुषपुर तो उसका राजधानी ही थी, रावलपिंडी के समीप माणिक्याल, बहावलपुर रियासत के सुई-विहार, उन्ड के निकट जेदा, मथूरा, कोशाम्बी, आवस्ती, सारनाथ में उसके अभिलेख मिले हैं जिनसे इन स्थानों पर कनिष्क का अधिकार प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त सारे उत्तरी भारत में—विहार और बंगाल तक में—उसके सिक्के मिले हैं। चीनी और तिब्बनी साहित्य में उल्लिखित उसके साकेत तथा मगध पर आक्रमण का हवाला ऊपर दिया जा चुका है, जिससे स्पष्ट है कि सभवतः उसका प्रभाव बिहार के पश्चिमी भागों पर भी था। सिन्ध, पंजाब, काश्मीर और युक्त प्रान्त उसके अधिकार में थे यह निर्विवाद है और इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पश्चिम

और उत्तर में उसकी सीमा के अन्तर्गत अफगानिस्तान, काश्मीर काशगर, खुत्तन और यारकन्द थे और पूर्व में पश्चिमी बिहार तथा दक्षिण में सम्भवतः मथुरा की दक्षिणवर्ती भूमि। यदि उसके साम्राज्य का विस्तार पूर्व और दक्षिण में कुछ और अधिक रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

कनिष्क के शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। पुरुषपुर (पेशावर) उसकी राजधानी थी जो अफगानिस्तान से भारत की ओर जाने वाले राजमार्ग पर अवस्थित थी। इस साम्राज्य का शासन सम्भवतः प्रान्तों में वितरित था। उसके शासन-काल के तृतीय वर्ष (८१ ई०) के सारनाथ के अभिलेख से उसके विधान पर प्रकाश पड़ता है। उसमें खरपल्लान नामक महाक्षत्रय का उल्लेख है जो सम्भवतः मथुरा में नियुक्त था। इसी प्रकार वनष्पर नामक क्षत्रह उसके पूर्वोप्रांतों का काशी के केन्द्र से शासन करता था। इसी प्रकार अन्य प्रान्त भी क्षत्रपों और महाक्षत्रपों के शासनाधिकार में रहे होंगे।

कनिष्क ने कुछ नगरों का भी निर्माण किया था। तक्षशिला के निकट सीर-सुख के भग्नावशेष उसके बसाए एक नगर के हैं। इसी प्रकार राजतरगिणी से विदित होता है कि उसने काश्मीर में भी कनिष्कपुर (कानिस्पोर) नाम का एक नगर बसाया था।

कनिष्क की राजसभा—भी विद्वानों और दार्शनिकों का केन्द्र हो गई थी। पार्श्व और वसुमित्र उस काल के असाधारण बौद्ध दार्शनिक थे। पार्श्व कनिष्क का गुरु था और उसी की सलाह से उसने बौद्ध संगीति बुलाई थी जिसका समावर्तित्व वसुमित्र ने किया था। प्रसिद्ध बौद्ध भिन्तु, दार्शनिक और कवि अश्वघोष पहले पाटलिपुत्र में रहता था जिसे कनिष्क बलपूर्वक पकड़ लाया था। परन्तु उसका वह बड़ा आदर करता था। अश्वघोष ने सम्भवतः अपने अनेक ग्रंथ कनिष्क की संरक्षा में ही रचे। वसुमित्र की अनुपस्थिति में उसने बौद्ध संगीति का अनेक बार कार्य-संचालन भी किया था। इसी प्रकार

नागार्जुन, चरक, मातृचेट आदि भी उसके सभासद बताए जाते हैं। नागार्जुन महायान संप्रदाय का प्रवर्तक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक था और चरक का नाम भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में विशेष उल्लेखनीय है। मातृचेट कवि था। कनिष्क की राजसभा में भी विक्रमादित्य की राजसभा की ही भाँति विद्वानों का जमघट था।

३

उसके पूर्वगामियों के धार्मिक विश्वास तथा स्वयं उसके सिक्कों की अनेक देवाकृतियों के आधार पर कनिष्क को कुछ लोगों ने बौद्ध मानने में आपत्ति की है; परन्तु वस्तुतः उसके बौद्ध होने में सन्देह का कोई स्थान नहीं। अनुश्रुतियों, स्तूप-निर्माण, संगीति-अधिवेशन, बौद्ध दार्शनिकों की सराजा आदि अनेक प्रमाणों से उसका बौद्ध होना सिद्ध है। अनुश्रुतियों का कहना है कि बौद्ध भी अशोक की ही भाँति पहले अत्यन्त निर्दय तथा नृशंस था; परन्तु बौद्ध धर्म में दीक्षित होते ही उसकी प्रवृत्ति बदल गई। निःसन्देह यह साम्प्रदायिक दावा है और इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु यद्यपि कनिष्क अशोक की भाँति बौद्धधर्म का सेवक न था और अन्त तक वह युद्धों में लगा रहा, इसमें सन्देह नहीं कि वह बुद्ध का उपासक था और बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उसने कुछ यत्न किए।

उसके सिक्कों की कहानी असाधारण है। उसके ऊपर उत्खचित अनन्त देवसमाज है जिसके आधार पर कनिष्क के व्यक्तिगत धर्म के सम्बन्ध में कोई मत नहीं स्थिर किया जा सकता। अधिक से अधिक बस इतना कहा जा सकता है कि कम से कम कुछ अंशों में वह सार्वधर्मिक था अथवा उसके साम्राज्य की प्रजा विविधधर्मा थी। इसमें सन्देह नहीं कि ईरानियों, चीनियों, अरबों, बौद्धों तथा हिन्दुओं को किसी न किसी अनुपात में उसके शासन में स्थान था और संभवतः इसी कारण उसने अपने सिक्कों पर इनके विविध धर्मों के देवताओं की आकृतियों खुदवाईं। इन पर हेराक्लिस, सेरापिस, हेलि

योस (सूर्य) और सेलेनी (चंद्रमा) मिइरो (ईरानी सूर्य) अथो (अग्नि) ननाइया, शिव आदि की आकृतियाँ खुशी हैं। कुछ असामान्य सिक्कों पर बुद्ध की भी वैठी आकृति है। इस प्रकार इन सिक्कों की धार्मिक सीमाएँ बहुमुखी हैं। उन पर ग्रीक, मिथ्री, ज़रतुश्ती, हिन्दू तथा बौद्ध देवताओं का सम्मिलित प्रदर्शन है जिससे प्रमाणित होता है कि यद्यपि कनिष्क स्वयं बौद्ध था; परन्तु प्रजा के विभिन्न धार्मिक विश्वासों के प्रति वह सहिष्णु था और उनका आदर करना था। उसके सिक्कों के देवताओं की विविधता प्रजा के विश्वासों के प्रति उसके इसी आदर का प्रमाण है।

बौद्ध-संगीति—ऊपर बौद्ध-संगीति का उल्लेख किया जा चुका है। बौद्ध धर्म के इतिहास में यह संगीति और परिणामतः कनिष्क का शासन-काल बड़े महत्त्व का है। बौद्ध इतिवृत्त और चीनी लेखकों की परम्परा से कनिष्क का इस संगीति को बुलाना प्रमाणित है। विदित होता है कि कनिष्क ने विविध मार्गाय धार्मिक निरूपणों से व्याकुल होकर इस संगीति का आवाहन किया जिससे धर्म के सिद्धान्त निर्विवाद स्पष्ट किए जा सकें। अपने गुरु पार्श्वक अथवा पार्श्व की अनुमति लेकर उसने सर्वास्तिवादी शाखा के ५०० भिक्षुओं (महासघ) को काश्मीर के कुण्डलवनविहार में आमन्त्रित किया। उसका अधिवेशन गन्धार अथवा जलन्धर में भी हुआ बताया जाता है, परन्तु हुएन-त्सांग का कुण्डलवनविहार सम्बन्धी उल्लेख ही इस सत्यन्ध में सम्मत जान पड़ता है। इस संगीति का प्रधान प्रसिद्ध दार्शनिक वसुमित्र था और उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष उसका कार्य-संचालन करता था। कई महीनों की निरन्तर बैठक के बाद बौद्ध सिद्धान्तों पर अनेक भाष्य प्रस्तुत हुए जिनमें 'विभाषा शास्त्र' विशेष उल्लेखनीय है। इनको तांबे की चद्दरों पर खुदवा कर एक स्तूप में सुरक्षित कर दिया गया। किसी स्तूप से अभी इनका अभिप्राप्ति न हो सकी। यह संगीति बौद्ध धर्म के इतिहास में चौथी थी। पहली तथागत के निर्वाण के शीघ्र बाद राजगृह में हुई थी, दूसरी लिच्छविप्रदेश के भिक्षुओं के सयमन के निमित्त बलभी में

गुलाई गई थी और तीसरी पाटलिपुत्र में अशोक की संरक्षा में हुई थी। इस संगीति का एक परिणाम संभवतः महायान सम्प्रदाय का उदय था।

महायान का उदय—इस काल महायान का अभ्युदय बौद्ध धर्म में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात थी। प्राचीन धर्म नितान्त शुष्क था जिसमें बुद्ध केवल मनुष्य और असामान्य गुरु माने जाते थे; परन्तु अब बौद्ध उपासकों की प्रवृत्ति उससे भिन्न हो चली थी। हिन्दू धर्म में वैष्णव सम्प्रदाय का महत्त्व बढ़ चला था और विष्णु अथवा अन्य देवताओं की भक्ति अब साधारण रूप धारण का चुकी थी। जनता को व्यक्तिगत देवता की आवश्यकता थी जिससे वह अपने दुःख में बल प्राप्त कर सके और जिसके प्रति वह पूर्णतया आत्मसमर्पण कर सके। अनेक मूर्त देवताओं के समुदाय से हिन्दू धर्म ने तो अपनी यह कमी पूरी कर ली; परन्तु बौद्ध धर्म में इनके लिए कोई विधान न था और उनका संप्रदाय शुष्क का शुष्क बना रहा। परन्तु भक्ति संप्रदाय के जनपरक सिद्धान्तों ने बौद्धों विशेषकर गृहस्थ उपासकों पर भी अपना प्रभाव डाला और उसकी परिणति महायान संप्रदाय के उदर में हुई। इसका पहला रूप कनिष्क के सिक्कों पर व्यक्त हुआ। उसके सिक्कों पर अलंकृत बुद्ध की आकृति बौद्ध धर्म के इतिहास में तत्काल का पहला आकारांकन था।

इस काल बुद्ध की मूर्ति बनी और उसके चतुर्दिक अनेक 'बोधिसत्वों' की परम्परा खड़ी हुई। प्राचीन धर्म जिसमें बुद्ध मनुष्य मात्र थे हीन समझा गया जिसमें मनुष्य केवल अपने निर्वाण के अर्थ प्रयत्न करता था। अब बुद्ध को देवता माना गया। मोक्ष की कल्पना अब उसके प्रति भक्ति से सिद्ध मानी गई और प्राणिमात्र के निर्माण और कल्याण की भावना से अनुप्राणित इस नवीन धर्म को उचित ही 'महायान' की सज्ञा मिली। बोधिसत्व के प्रेम तथा बुद्ध की भक्ति से सशक्त यह नया यान निश्चय पहले की हीन परम्परा की अपेक्षा महान् था। अब बौद्ध धर्म भी सार्वजनिक रूप धारण कर चला था और इस नए धर्म के विस्तार से उसकी जनप्रियता निःसन्देह सिद्ध अर्थ

हो गई। बौद्धों में भी अब भक्ति का प्रसार हुआ। इस धर्म का प्रतिष्ठात नागार्जुन संभवतः इसी काल हुआ था और कानिष्क का सुभासद था; परन्तु विद्वानों का मत है कि कुछ आश्चर्य नहीं यदि इसका आरम्भ इस काल से पर्याप्त पूर्व किसी न किसी रूप में हो चुका हो। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध की पहली प्रतिमा का निर्माण इसी युग में हुआ। इस संप्रदाय का कालान्तर में उदय होना वैसे भी अनिवार्य था। सस्कृतियों का भारतीय भूमि पर संघर्ष हो चुका था, द्वा रहा था और इसके परिणाम में पट्ट पवित्रैयक्तिक उपासना का सरल और साकार देवपरक हो जाना स्वाभाविक ही था।

गन्धार शैली—जिस प्रकार धर्म में उसी प्रकार मूर्ति-कला में भी कनिष्क का शासन-काल अत्यन्त महत्त्व का है। भारतीय मूर्ति-कला में जिस पद्धति को गन्धार-शैली कहते हैं उसका उदय इसी काल हुआ। पहले हीन-यान के शासन में बुद्ध की मूर्ति नहीं बना करती थी। उसका निदर्शन केवल लाक्षणिक होता था। बुद्ध की उग्रस्थिति का बोध कराने के लिए उनके पद, धर्म-चक्रप्रवर्तन, उष्णीष, बोधि वृक्ष, भिक्षापत्र, आदि अंकित कर दिए जाते थे। परन्तु इतने से ही अब उपासकों को सन्तोष न हो सकता था। इस अर्थ बुद्ध की मूर्ति भी इसी काल बनी। उसका पहला अंकन ग्रीक वस्त्र पहने बुद्ध की बंटी मूर्ति के रूप कानिष्क के सिक्कों पर हुआ है। उसके पहले भारत के सिक्कों अथवा मूर्ति प्रसार कहीं नहीं मिलती। इसको महायान के सहयोग से भी प्रचुर प्रोत्साहन मिला। इस काल से उत्तरोत्तर बुद्ध की मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं।

इस शैली का गन्धार-शैली इस कारण कहते हैं कि इसका उदय गन्धार में हुआ जिसका केन्द्र पुरुषपुर (पेशावर) था। पहले इस भूभाग पर ग्रीकों का शासन रह चुका था और वहाँ ग्रीक कलावन्तों को आश्रय भी मिल चुका था। इस शैली की विशेषता भारतीय अभिप्रायों का ग्रीक 'टेकनीक' द्वारा लक्षण था। इसमें ग्रीक प्रकार के वस्त्र-वेश का समावेश होता था इसी कारण इस शैली की प्रारंभिक मूर्तियाँ अधिकतर ग्रीकों के देवता अपोलो

आदि की भाँति हो गई'। इसी कारण इसका दूसरा नाम 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' अथवा 'इन्डो-हेलेनिक' भी कहते हैं। इस शैली की मूर्तियाँ सीमा-प्रान्त (गन्धार) अफगानिस्तान तथा पश्चिमी पंजाब में मिली हैं जो प्रदेश कभी ग्रीक शासन में रह चुके थे। गन्धार-शैली ने भारतीय मूर्ति-कला को काफी प्रभावित किया है। मथुरा और अमरावती इसके प्रभाव के दो केन्द्र हो गए थे। धीरे-धीरे ग्रीक-शैली सर्वथा भारतीय कर ली गई और बुद्ध को एक विशेष आकार-प्रकार देकर उसे मानयित कर लिया गया। गुप्त काल तक यह भारतीयकरण सर्वथा पूर्ण हो गया।

अशोक की भाँति कनिष्क को भी प्रभूत निर्माता होने का ध्येय दिया जाता है। उसने भी अनेक स्तूप बनवाए। पुरुषपुर में एक विहार बनवाकर उसने वहाँ एक विशाल काष्ठस्तूप खड़ा किया और उसके अन्तराल में बुद्ध का भग्नावशेष रखा। कुछ साल हुए वहाँ से अस्थियों से भरी एक संदूकची प्राप्त हुई थी। इस पर खुदे लेख से ज्ञात होता है कि इस स्तूप का निर्माता अगिशल नामक एक ग्रीक इन्जिनियर था। स्वयं कनिष्क की एक पुरुषाकार मस्तकहीन मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है जो उस जिले के माट नामक गाँव में मिली थी।

संभवतः कनिष्क की उसी के सैनिकों ने, जो उसके निरन्तर युद्धों से थक गये थे, हत्या कर दी। उसने २३ वर्ष राज किया* परन्तु यदि आरा-अभिलेख का कनिष्क भी वही है तो उसने प्रायः ४१ वर्ष शासन किया। कनिष्क के उत्तराधिकारी दुबले हुए और कुछ दिनों में भार-शिवनागों ने उनके कमजोर हाथों से शक्ति छीन ली।

*इ० ऐ०, ३२, (१६०३), पृ० ३८८; अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया, चतुर्थ सं० पृ० २८५-८६।

७

समुद्रगुप्त

१

कुषाणों के साम्राज्य का अन्त करनेवाले पद्मावती का भार शिवनाग थे । नागों के हाथ से उत्तर भारत का राजदण्ड गुप्तों के हाथ में आया । गुप्त कौन थे, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में वे क्षत्रिय माने गए हैं और वर्तमान हिन्दू संस्कृति के अनेकांश में निर्माता वे ही थे । २७५ ई० के लगभग उनका आरम्भ माना जाता है । गुप्त अथवा आंगुप्त इस राजकुल का प्रतिष्ठाता था और घटात्कनगुप्त उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी । दोनों ने मगध के एक छोटे भाग पर राज किया ।

गुप्त राजकुल के गौरव का प्रतिष्ठा वास्तव में चन्द्रगुप्त ने की जो समुद्रगुप्त का पिता था । उसके पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पृथक् करने के लिए उसे चन्द्रगुप्त प्रथम कहते हैं । जान पड़ता है इसने कुछ देश जीते और अपने राज्य की सीमाएँ मगध से बाहर बढ़ाई । पुराणों से पता चलता है कि उसका शासन मगध से बाहर प्रयाग, साकेत (अवध का एक भाग) और गंगा के तटवर्ती देश पर स्थापित हो चुका था; पर उसीने पहले पहल 'महाराजाधिराज' का विरुद्ध भी धारण किया । उसके पितामह और पिता का विरुद्ध 'महाराज' मात्र था ।

परन्तु उसका गौरव इतना राज्य-विस्तार से नहीं बढ़ा जितना उसके लिच्छवियों के साथ विवाह संबंध से। लिच्छवि प्राचीन काल में अत्यन्त सबल गण-राज्य के स्वामी थे। कालान्तर में उनका हास हो गया था। राजनीतिक सत्ता उनकी निश्चय विलुप्त हो गई थी; परन्तु निःसन्देह सामाजिक स्थिति उनकी चौथी शती के आरम्भ में भी ऐसी थी कि उनके सम्बन्धी को गौरव प्रदान कर सके। चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवि कुल में विवाह पारस का स्पर्श सिद्ध हुआ और उसने इस साधारण राजकुल को उत्कर्ष के मार्ग पर आरुढ़ कर उसके भाग्य को फेर दिया। इस भाग्योदय के परिणाम-स्वरूप गुप्त उत्तर भारत की राजनीति में अग्रणी माने जाने लगे। और गुप्तों ने भी इस विवाह सम्बन्ध से अपना प्रभूत गौरव माना और लिच्छवियों के प्रति अनी गहरी कृतज्ञता का प्रकाश किया। चन्द्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्कों पर चन्द्रगुप्त और उसकी रानी कुमारदेवी की आकृतियाँ खुदी हैं। चन्द्रगुप्त अपनी रानी को वलय अथवा मुद्रिका प्रदान कर रहा है जो उस विवाह का स्मारक है। उस मुद्रा पर कुमारदेवी का नाम खुदा ही है, साथ ही उस पर 'लिच्छवयः' पाठ भी अंकित है जिससे सिद्ध है कि गुप्त राजकुल ने इस विवाह-सम्बन्ध को कितना महत्त्व दिया था। न केवल इस सिक्के पर वरन् इस कुल के अभिलेखों में भी समुद्रगुप्त का दृष्ट विरुद्ध 'लिच्छविदौहित्रः' हो गया।

चन्द्रगुप्त निश्चय प्रबल नृपति था। उसी ने प्रसिद्ध संवत् चलाया जो उसके राज्यारोहण के वर्ष ३२० ई० से गिना जाता है और जिसका पहला वर्ष २६ फ़रवरी ३२० ई० से १५ मार्च ३२१ ई० तक चलता है। समुद्रगुप्त इसी समर्थ पिता का पुत्र था।

२

समुद्रगुप्त संभवतः ३३५ ई० के लगभग गुप्त सिंहासन पर बैठा। समुद्रगुप्त का स्थान भारत के विजेता राजाओं की पहली पंक्ति में है। बहुत कम राजा व्यक्तिगत गुणों में उसकी समता कर सकते थे। अपने इन्हीं गुणों के

कारण वह पिता द्वारा 'विस्तृत पृथ्वी के पालनार्थ' नियुक्त हुआ था। उसके राजोचित गुणों से प्रभावित होकर अपना राजसभा में सभासदों और अन्य पुत्रों के समक्ष उसे हृदय से लगा कर 'आर्य' कह कर उसका संबोधन किया। परिणामतः सभ्यों ने प्रसन्नता और शान्ति की साँस ली और राजपुत्रों के मुख मलिन हो गए !

और चूँकि समुद्रगुप्त अपने भाइयों में से अपने राजोचित गुणों के कारण चुना गया था, यह भी सम्भव है कि वह अपने पिता का ज्येष्ठतम पुत्र रहा हो। इसी कारण कुछ विद्वानों ने उन सिक्कों को अधिक महत्त्व दिया है जो 'काच' के माने जाते हैं। उनका विचार है कि काच संभवतः समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ प्रतिस्पर्धी भ्राता था जिसने कुछ काल राज किया और अपने नाम के सिक्के चलाए (स्मिथ; ई० यच० आई० चतुर्थ सं०, पृ० २६७)। परन्तु उन पर पीछे की ओर खुदा 'सर्व-राजाच्छेता' विरुद्ध स्पष्टतः समुद्रगुप्त का है जिसमें जान पड़ता है कि ये सिक्के स्वयं समुद्रगुप्त के ही हैं। कुछ आश्चर्य नहीं यदि 'काच' समुद्रगुप्त का ही व्यक्तिगत अथवा मूल नाम रहा हो जिसे अपनी विजयों के पश्चात् बदल कर उसने समुद्रगुप्त रख लिया हो।*

समुद्रगुप्त अपने व्यक्तिगत गुणों में असाधारण था। उसके अनेक गुण मनुष्य की पहुँच के बाहर थे। वह शस्त्र और शास्त्र विद्या में पारंगत था, कवि और गायक था, वीणावादक और विदग्ध था। उसके व्यक्तिगत गुणों और सर्वलोकप्रिय प्रतिभा की समता भारत के इतिहास में कोई अन्य नरेश नहीं कर सकता।

कार्य के क्षेत्र में वह अशोक का सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी है। राजधर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण मौर्य नृपति से सर्वथा भिन्न है। अशोक शान्ति का उपदेष्टा है, समुद्रगुप्त युद्ध और प्रसर-नीति का उपासक। अशोक ने तीर्थयात्राएँ

*त्रिपाठी: हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इन्डिया, पृ० २४०, नोट २

कों, धर्मघोष किए, धर्म विजय की। समुद्रगुप्त ने युद्ध-यात्राएँ कों, भेरीघोष किए, दिग्विजय की। समुद्रगुप्त का यश अधिकतर उसकी विजयों पर अवलंबित है। और यह काल का उत्कट व्यंग है कि प्रयागस्थित जिस स्तंभ पर अशोक के शान्ति उपदेश अंकित हैं उसी पर समुद्रगुप्त की रत्नरंजित विजयों का भी विस्तृत उल्लेख है।

उस प्रयागस्तम्भ के लेख में उसके सम्बन्ध में जो 'त्रिदशपति भुवन' को उसके यश के चले जाने की बात लिखी है उससे कुछ लोगों ने उस लेख को समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद खुदा बताया है; परन्तु वस्तुतः उसमें इस प्रकार की ध्वनि नहीं निकलती। उसमें केवल इन्द्रलोक तक उसके यश के पहुँच जाने की बात ध्वनित है। इस विजय-प्रशस्ति को समुद्रगुप्त के राजकवि हरिषेण ने रचा था और इससे सिद्ध है कि उसने अपने पिता के विश्वास को मिथ्या न होने दिया।

दिग्विजय—प्रयाग प्रशस्ति में विजयों की अथवा इस लेख की कोई तिथि नहीं दी हुई है; परन्तु चूँकि इसमें उसके अश्वमेध का उल्लेख नहीं है, यह मानना युक्तिसंगत होगा कि इसकी रचना विजयों के बाद और अश्वमेध के अनुष्ठान से पहले हुई थी। इसमें विजयों का उल्लेख काल-क्रम से नहीं, बरन् भौगोलिक आधार पर हुआ है। इस लेख के अनुसार हम समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा तीन दिशाओं में बाँट सकते हैं—(१) आर्यावर्त के राजाओं के विरुद्ध, (२) मध्य भारत के अटवी-राज्यों के विरुद्ध, और (३) दक्षिणापथ के राजाओं के विरुद्ध। इनके अतिरिक्त 'प्रत्यन्त' (सीमाप्रान्त) नृपतियों तथा गणराज्यों ने उसके प्रताप से प्रभावित और विजयों में संश्रित हो कर बिना युद्ध के स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया। इनमें से आर्यावर्त के राजाओं के प्रति उसका आचरण हिन्दू राजनीति द्वारा समर्थित 'असुरविजयी नृप' का और 'दक्षिणापथ' के राजाओं के प्रति 'धर्मविजयी नृपति' का सा था। आर्यावर्त के नरेश उसके पड़ोसी होने के कारण 'प्रकृत्यमित्र' थे और उनका नितान्त उन्मूलन अपेक्षित था। दक्षिणापथ के राजा दूर थे, इससे उनसे विशेष

आशंका न थी और उन्हें परास्त कर पहले उसने बन्दी किया, फिर मुक्त कर उन्हें उनके राज्य लौटा दिए और इस प्रकार औदार्य से उसने उन पर आधिपत्य स्थापित किया। महाकान्तार (वनप्रान्त) के नरेशों को उसने 'सेवा-कार्य' करने को बाध्य किया। सुदूर प्रत्यन्त के नृपति आतंकित हो स्वयमेव 'करदान', 'आज्ञाकरण', और अपनी भुक्ति के शासनाथे गरुड़ मुद्रांकित 'शासन-पत्र' के लिए उपस्थित होते थे। गणराज्य स्वतंत्रता की भावना में अद्वितीय थे, इससे उनको विपन्न न कर यथावत छोड़ देना ही समुद्रगुप्त ने उचित समझा। उसकी प्रशस्त में विजित राजाओं की सूची इस प्रकार है :—

१. रुद्रदेव (रुद्रसेन प्रथम वाकाटक ?) ।
२. मत्तिल (बुलदशहर से प्राप्त मुहर पर जिस 'मत्तिल' का नाम खुदा है वह सम्भवतः यही है) ।
३. नागदत्त । नाग राजा ।
४. चन्द्रवर्मन् । इसकी पहचान सन्दिग्ध है । कुछ विद्वानों ने इसे सुसुनिधा शिला-लेख में उल्लिखित पोरवरण का राजा चन्द्रवर्मन् माना है कुछ लोगों का मत है कि यही मेहरोली-लौह स्तम्भ-लेख का चन्द्र भी है; परन्तु यह पहचान अत्यन्त दोषपूर्ण जान पड़ती है ।
५. गणपतिनाग । पद्मावती / ग्वालियर रियासत में नरवर के निकट पदम-पवाया) का नाग राजा ।
६. नागसेन । सम्भवतः कोई नाग राजा ।
७. नन्दिन । कोई नाग राजा ।
८. अच्युत । बरेली जिले के अहिच्छत्र (रामनगर) से अभिप्रास सिक्कों का 'अच्यु' ।
९. बलवर्मन् । इसका पहचान ठीक ठीक न हो सकी । डा० जायसवाल

ने इसे कौमुदी-महोत्सव में उल्लिखित पाटलिपुत्र के राजा कल्याण वर्मन् का अन्य अथवा 'अभिषेक' नाम माना है। दीक्षित ने इसे निधानपुर अभिलेख का बलवर्मन् और आसाम के राजा भास्कर वर्मन् का पूर्वज माना है।

समुद्रगुप्त ने इन आर्यावर्त के राजाओं को बलपूर्वक जड़ से उखाड़ फेंका। इनसे परे मध्य भारत के महाकान्तार (वन) के राजाओं के देश थे, आर्यावर्त और दक्षिणापथ के राज्यों के बीच। इस प्रशस्ति में इन राज्यों अथवा राजाओं का नामोल्लेख नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि विजेता ने उनको उसका सेवक बनने को बाध्य किया।

इस वनप्रान्तर के दक्षिण में दक्षिणापथ के राज्य थे। दूर होने के कारण वे विरुद्ध युद्ध यात्रा कठिन थी। पहाड़ों, पठारों और सैकड़ों मील लंबे पार कर जाना बड़ा कठिन था। परन्तु समुद्रगुप्त हतोत्साह न हुआ। दो बारी में उसने वहाँ के बारह राजाओं से युद्ध किया। उनको जीता, दी किया और अन्त में मुक्त कर उन्हें उनके राज्य लौटा दिए। दक्षिणापथ के विजित राजा निम्नलिखित थे:—

१. कोशल का महेन्द्र (महाकोशल अथवा बिलासपुर, रायपुर और भिलपुर के जिले)।

२. महाकान्तार (संभवतः गोंडवाने के वन प्रान्तर ?) का व्याघ्रराज।

३. कोराल (दक्षिण भारत का कोराड; अथवा सोनपुर का भूभाग जिसकी राजधानी महानदी के तट पर ययातिनगर था) का मन्दराज।

४. पिष्टपुर (गोदावरी जिले में वर्तमान पीडापुर) का महेन्द्र।

५. गिरि कोटूर (गंजाम जिले में कोटूर) का स्वामिदत्त।

६. एरण्डपल्ली (गंजाम जिले में चिकाकोल के समीप एरण्डपल्ली) का दमन।

७. काशी (मद्रास के निकट कांजीवरम) का विष्णुगोपा ।

८. अवमुक्त का नीलराज । हाथीगुम्फा के अभिलेख से विदित होता है कि आव जाति अथवा देश की राजधानी गोदावरी के निकट पिथुन्डा थी ।

९. वेगी (एलोर में पेडु-वेगी) का हरिन्तवर्मन् ।

१०. पालक्क (नेलोर जिला) का उग्रसेन ।

११. देवराष्ट्र (विज्जगापटम जिले में येल्ल मचिली) का कुबेर ।

१२. कुस्थलपुर (उत्तर अरकाट में कुट्टलुर) का धनञ्जय ।

स्थानों की जो पहचान ऊपर दी गई है उसके अनुसार समुद्रगुप्त पूर्व के तट से दक्षिण की ओर जाकर उसी मार्ग से उत्तर लौटा । परन्तु फ्लीट और स्मिथ के मत स्वीकार करें तो समुद्रगुप्त की विजयों का मार्ग और विस्तार और अधिक हो जाएगा । उस दशा में मानना पड़ेगा कि वह सुदूर दक्षिण में केरल तक जा पहुँचा था और महाराष्ट्र तथा खानदेश होता हुआ पाटलिपुत्र लौटा । इसी मार्ग का उल्लेख करते हुए स्मिथ ने समुद्रगुप्त को 'भारतीय नेपोलियन' कहा है । जहाँ नीतिकुशलता, वीरता, सैन्य सञ्चालन का ध्यान है वहाँ तक इस समता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती; परन्तु यदि इस वक्तव्य का अर्थ यह है कि समुद्रगुप्त की विजय का विस्तार भी नेपोलियन की विजयों के बराबर था तब कहना पड़ेगा कि संभवतः भारतीय विजेता की विजयों का विस्तार बड़ा था । फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि नेपोलियन को संभवतः अधिक कठिन मोर्चे अपेक्षाकृत कम सेना से लड़ने पड़े थे । जोवो दुब्रुइल का मत है कि दक्षिणपथ के राजाओं ने काशी के विष्णुगोप के नेतृत्व में समुद्रगुप्त के विरुद्ध एक सघ बनाया जिसे हार कर उस शीघ्र स्वदेश लौटना पड़ा* । निःसन्देह इस भ्रान्त मत के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है ।

* ए. यशोन्त हिस्ट्री आब दि डेक्कन, पृ० ६१ ।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय असाधारण थी। प्राचीन भारत का कोई राजा इस प्रकार वायु वेग से इतनी दूर दक्षिण की ओर दिग्विजय के अर्थ नहीं गया था। दूरस्थ राजाओं का भी उसके इस आचरण से संतुष्ट हो जाना स्वाभाविक था और प्रयाग प्रशस्ति का वक्तव्य है कि प्रत्यन्त (सीमा प्रान्त के) नृपति हो आतंकित होकर “सब प्रकार के करदान, आज्ञाकरण, और प्रणाम के अर्थ उपस्थित हो होकर उस प्रचण्ड आज्ञा वाले को परितुष्ट करते थे” (सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य)। स्पष्ट है कि इन प्रत्यन्त नृपतियों ने चुपचाप आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा यद्यपि समुद्रगुप्त ने उनके विरुद्ध अभियान नहीं किया था। उनके नाम निम्नलिखित हैं :—

१. समतट। दक्षिण-पूर्वी बंगाल; इसकी राजधानी कोमिल्ला के निकट कर्मान्त अथवा बङ्ग-कमता थी।
२. डवाक। ढाका अथवा चिटगाँव और टिपरा के पहाड़ी प्रदेश। स्मिथ ने इसे बोगड़ा, दिनाजपुर और राजशाही के जिले माना है। बरुआ इसे आसाम की कोपिली घाटी मानते हैं।
३. कामरूप (आसाम)।
४. नेपाल।
५. कर्तृपुर। कमाऊँ का कतुरियाराज, गढ़वाल और रुहेलखंड; अथवा फ़लीट और एलेन के मतानुसार जलन्धर जिले में करतारपुर।

जिन गणराज्यों अथवा स्वतंत्र जातियों ने अपने आप आत्मसमर्पण कर दिया उनकी सूची इस प्रकार है :—

१. मालव। ये सिकन्दर के इतिहासकारों के मल्लोई हैं। प्रथम शती ईस्वी पूर्व से कुछ पहले वे पंजाब में अपना मूल आवास छोड़ राजपूताना पहुँचे और शकों आदि से टकराते अबन्ती पहुँचे।

वहाँ तब शकों का निवास था। उनको परास्त कर मालवों ने वहाँ से निकाल बाहर किया और ५८-५७ ई० पू० में उन्होंने अपनी विजय के उपलक्ष में मालव संवत् (पीछे विक्रम संवत्) चलाया और वहीं फिर वे बस गए। उन्हीं के नाम पर तब अवन्ती का नाम मालवा पड़ा।

२. आर्जुनायन। ये संभवतः जैपुर और अलवर के पूर्वी भागों में बसे थे।

३. यौधेय। ये उत्तरी राजपूताना में बसे थे। इनका नाम बहावलपुर रियासत की सीमा पर जोहियावार प्रदेश के नाम में आज भी सुरक्षित है। आसवाल, ओढतगी, रोहतागी, रस्तोगी आदि प्राचीन यौधेय हैं। यौधेयों की वृत्ति युद्ध था। भरतपुर रियासत में बयाना के निकट विजयगढ़ ने एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें यौधेयों का उल्लेख है। बृहत् संहिताकार ने आर्जुनायनों और यौधेयों दोनों को उत्तरी भाग में ही रखा है।

४. मद्रक। ये यौधेयों के उत्तर में थे और इनकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी।

५. आभीर। आभीरों का देश अहीरवाड मध्य भारत में पार्वती और बेतवा नदियों के बीच था। कुछ लोगों ने क्षत्रप अभिलेखों के आधार पर उनको सौराष्ट्र और गुजरात में रखा है; परन्तु शायद मध्य भारत में उनको रखना अधिक युक्तिसंगत होगा। तभी समुद्रगुप्त के उन पर आतंक की अधिक संभावना हो सकेगी।

६. आर्जुन। इनकी राजधानी मध्य प्रान्त में नरसिंहपुर अथवा नरसिंहगढ़ थी।

७. सनकानीक। ये भिलसा के समीप बसे थे। उदयगिरि के एक शिला में चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक सनकानीक सामन्त का उल्लेख है।

८. काक । इनका निवास सनकानोको के पड़ोस में ही कहीं था ।

९. खरपरिक । संभवतः ये मध्य प्रान्त के दमोह जिले में बसे थे और बत्तिहगढ़ अभिलेख के खरपरिकों के समान थे ।

इस प्रशस्ति से स्पष्ट हो जायगा कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य इस दिग्विजय और इससे प्रसूत आतंक से कितना विस्तृत हो गया था । इससे उसके विविध सामन्त राज्यों और जातियों के आधिपत्य की मात्रा पर भी प्रकाश पड़ता है । यह विजय इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि तत्कालीन साहित्य पर भी इसका प्रचुर प्रभाव पड़ा । महाकवि कालिदास ने अपने रघुवश में रघु के दक्षिण-विजय का जो वर्णन किया उसका आधार समुद्रगुप्त की विजय पर ही रखा ।

निःसन्देह समुद्रगुप्त को इस दिग्विजय ने उसे तत्कालीन भारत का सबसे बड़ा सम्राट् बना दिया । गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ अब अत्यन्त विस्तृत हो गईं । उसके पिता के राज्य में केवल दक्षिण बिहार, साकेत, प्रयाग और गंगा तटवर्ती प्रदेश शामिल थे जैसा कि पुराणों के निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित है :—

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधास्तथा ।

एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवशजाः ॥

अब उस दिग्विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त का सीधा शासन प्रायः सारे आर्यावत और मध्य भारत के वन प्रान्त पर स्थापित हो गया । इसके अतिरिक्त दक्षिणापथ पर भी उसका आधिपत्य प्रतिष्ठित था और प्रत्यन्त नृपति तथा अनेक गणराज्य उसे अपना अधिपति मानते और करादि देते थे । परन्तु उसके राजनीतिक प्रभाव का विस्तार तो इससे कहीं अधिक दूर देश के बाहर तक था ।

यह तो हुई विजय की बात; परन्तु जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है

समुद्रगुप्त के प्रभाव की परिधि बहुत विस्तृत थी। चीनी साहित्य से विदित होता है कि सिंहल के बौद्ध राजा मेघवर्ण ने बोध गया को दो धर्मदूत भेजे,^१ परन्तु उनको वहाँ ठहरने का स्थान तक न मिला। उनके लौटकर अपने क्लेश कहने पर मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के पास रत्नादि की भेंट के साथ अपने दूत भेजे और बोध गया में सिंहल यात्रियों की सुविधा के लिए एक विहार बनवाने की अनुमति माँगी। अनुमति मिल जाने पर उसने वहाँ एक विशाल विहार बनवाया जिसे हुएन-त्सांग के समय महाबोधि संघाराम कहते थे। प्रयाग स्तम्भ-लेख से विदित होता है कि खुदर के दैवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहियों, शक मुरुंडों तथा सिंहल और अन्य द्वीप निवासियों ने भी 'आत्मनिवेदन, कन्योपायन (कन्याओं की भेंट) अपने देश के शासन के लिए गरुडांकयुक्त आज्ञापत्र द्वारा' उससे मैत्री की। इसमें सन्देह नहीं कि प्रशस्ति में कुछ अतिरंजन है; परन्तु इससे कम से कम समुद्रगुप्त के विस्तृत प्रभाव और आतंक की बात सिद्ध हो जाती है।

दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि शक मुरुण्डादि शक-कुषाणों के वंशधर थे जो अब भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा पर राज करते थे। दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि कुषाण राजाओं के विरुद्ध थे और अब उनके श्रोहीन हो जाने के उपरान्त उनकी स्थिति के अनुसार उनमें बैठ गए थे। दैवपुत्र संभवतः पंजाब में थे और शाही तथा शाहानुशाही शायद अफगानिस्तान तथा आस-पास की भूमि पर शासन कर रहे थे। इसी प्रकार शक-मुरुण्ड भी शक-राजाओं का ही कोई सीमा प्रान्तीय समुदाय था जो समुद्रगुप्त के आतंक से त्रस्त हो गया था और जिसने उससे सद्भाव बनाए रखना ही मुनासिब समझा। समुद्रगुप्त की शक्ति और गुप्त राजकुल की प्रतिष्ठा इस दिग्विजय से बहुत बढ़ गई। पिता के छोटे से राज्य को पाकर इस बীর और समर्थ विजेता ने उसे साम्राज्य का पद दिया।

अश्वमेध—समुद्रगुप्त की दिग्विजय का स्वाभाविक परिणाम अश्वमेध था। जिसने इतने पराक्रम से कितने प्रकार के राजाओं का उन्मूलन और पराभव किया उसका अश्वमेध करना प्रायः आवश्यक था। उसे अभिलेख में “विरो-त्सन्नाश्वमेधाहर्तु” अर्थात् चिरकाल से लुप्त अश्वमेध का पुनरावर्तन करने वाला कहा गया है। यद्यपि उसके इस विरुद्ध में बहुत सत्य नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमें ज्ञात है कि उससे पूर्व प्रवरसेन प्रथम वाकाटक ने दो अश्वमेध किये थे और इसी प्रकार भाराशिष नागों ने भी प्रायः १० अश्वमेध किये थे जिसके परिणाम-स्वरूप काशी के एक घाट का नाम दशाश्वमेध पड़ गया था। जान पड़ता है कि विजयों के बाद और प्रयाग प्रशस्ति के अंकन के पश्चात् ही अश्वमेध का अनुष्ठान हुआ क्योंकि उसमें उसका उल्लेख नहीं है। अश्वमेध के अवसर पर समुद्रगुप्त ने प्रभूत दान दिये और उसके स्मारक स्वरूप एक प्रकार का सोने का सिक्का चलाया। इस सिक्के पर सामने की ओर यज्ञ अथवा यज्ञ स्तम्भ के सामने खड़े अश्व की आकृति है और पीछे की ओर रानी की आकृति “अश्वमेध पराक्रमः” खुदा है।

परन्तु इन विजयों का परिणाम क्या हुआ? भारतवर्ष के स्वतन्त्र राष्ट्रों की सत्ता तो नष्ट हो ही गयी, साथ ही उसके गणराज्य भी कुचल गये। इस व्यक्तिगत वैभव को धिक्कारते हुए प्रायः समकालीन विष्णुपुराणकार लिखता, है “मैंने यह इतिहास लिखा है। इन राजाओं का अस्तित्व भविष्य में सन्देह और विवाद की वस्तु हो जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे राम और अन्य महान् राजाओं का आज हो गया है। काल प्रवाह में सम्राट् नगण्य हो जाते हैं—सम्राट् जिन्होंने कभी सोचा था और जो कभी सोचते हैं कि ‘भारत मेरा है। साम्राज्य को धिक्कार है! सम्राट् राष्ट्र के साम्राज्य को धिक्कार है।”

समुद्रगुप्त निःसन्देह अपने कुल का सबसे बड़ा विजेता था और भारत का एक बहुत बड़ा भाग जीत कर उसने गुप्त राज्य में मिला लिया। परन्तु उसकी राजनैतिक सूझ और ऊँचाइयों से कहीं बढ़कर उसके व्यक्तिगत गुणों की

जैचाहयों थीं। उसने “अमनुज सदृश्य अनेक कार्य किये थे जिससे उसकी स्थिति अपने समय में असाधारण हो गयी थी। वह असामान्य योद्धा तो था ही और उसके शरीर पर अनेक शस्त्रास्त्रों के सैकड़ों घाव थे। परन्तु इससे बढ़कर वह विदग्धमति था। शास्त्रों में उसकी अकुंठिता बुद्धि थी और सदा वह विद्वानों का साथ करता था। अनेक काव्य क्रियाओं तथा स्फुट कवितायें लिखकर उसने तत्कालीन काव्य जगत् में अपनी कविराज सज़ा प्रतिष्ठित की थी। वीणा वादन में वह परम निपुण था और प्रयाग की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने गायन और वादन में तुम्बुर तथा नारद को भी लजित कर दिया था। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर भद्रपीठ पर बैठी वीणा बजाती हुई उसकी एक आकृति खुदा है, जिससे उसका गान्धर्व लालित्य सिद्ध है। समुद्रगुप्त अपने पिता द्वारा अपने गुणों के कारण ही शासन का उत्तराधिकार ग्रहण करने के लिए चुना गया था और उसने पिता की आशा पूर्ण की।

प्रयाग स्तम्भ लेख से विदित होता है कि सीमा प्रान्त के नृपतियों ने अपने शासनाधिकार के लिए गरुण के चिह्न से मुद्रित समुद्रगुप्त का आज्ञा-पत्र माँगा। जिससे प्रगट है कि गुप्त सम्राट् का साम्राज्य-मुद्रा गरुडांक थी। चूँकि गरुड विष्णु का वाहन है इसलिए, इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि समुद्रगुप्त विष्णु का उपासक था। इस वश के अनेक राजाओं ने ‘परम भागवत’ की उपाधि धारण की थी और इस विष्णु पूजा की परम्परा सम्भवतः समुद्रगुप्त ने ही आरम्भ की। समुद्रगुप्त कब मरा यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने दीर्घकाल तक राज किया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय की पूर्वतम जानी हुई तिथि (मथुरा के एक अभिलेख से) ३८० ई० है। और चूँकि चन्द्रगुप्त और उसके पिता समुद्रगुप्त के बीच अल्प काल के लिए उसके ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त ने शासन किया था, हम समुद्रगुप्त की मृत्यु की तिथि सम्भवतः ३७५ ई० के लगभग रख सकते हैं।

८

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

१

जिस प्रकार समुद्रगुप्त अपने गुणों से अपने पिता द्वारा राज्य के उत्तराधिकार के अर्थ चुना गया था, उसी प्रकार समुद्रगुप्त ने भी अपने पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। समुद्रगुप्त अनेक पुत्र-पौत्रों वाला था और सम्भवतः आरम्भ में उसकी इच्छा पूरी न हो सकी परन्तु उसने चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार के लिए मनोनीत अवश्य किया जो चन्द्रगुप्त के अभिलेख में खुदे 'तन्परिगृहीतः' से प्रमाणित है।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका मनोनीत उत्तराधिकार कम कुछ काल तक न चल सका। इसका कारण था। चन्द्रगुप्त से बड़ा रामगुप्त नामक उसका एक और पुत्र भी था जिसने किसी प्रकार परम्परानुसार अपने ज्येष्ठत्व के आह से पिता के राज्य पर अधिकार कर लिया। इस रामगुप्त का नाम गुप्त अभिलेखों में दी हुई वशतालिका में नहीं मिलता और याद 'कात्र' के सम्भावित सिक्कों को रामगुप्त के सिक्के न मानें, तो उसके कोई सिक्के भी नहीं हैं। परन्तु साहित्य में रामगुप्त के प्रति जो अनेक सन्दर्भ और संकेत हैं उससे उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित हो जाती है।

रामगुप्त के ऊपर गुप्तकालीन सामन्त कवि विशाखदत्त ने जिसका मुद्रा राजस विशेष प्रसिद्ध है, देवी 'चन्द्रगुप्तम्' नाम का एक नाटक भी लिखा है।

देवी का अर्थ है रानी और इस नाटक के परे नाम का अर्थ हुआ, वह नाटक जिसमें चन्द्रगुप्त की रानी बनकर आचरण करने का प्रसंग दर्शित है। देवी चन्द्रगुप्तम् पूरा तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके कई टुकड़े यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इसके कुछ भाग सिलवां लेवी ने १६२४ में 'जर्नल एशियाटिक' में छापे थे। इसके कुछ भाग उदाहरण के रूप में रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा रचित 'नाट्य दर्पण' में भी संगृहीत है। वाण-रचित हर्षचरित और उसकी शकटार्थ की टीका में भी इस प्रसंग के प्रति संकेत मिलते हैं। हर्षचरित में लिखा है कि 'शत्रु के नगर में दूसरे को पत्नी की कामना करते हुए शकपति को कामिनी वेशधारी चन्द्रगुप्त ने मार डाला' (अरिपुरे च परकलत्र कामुकं कामिनी वेश गुप्तश्चन्द्र गुप्तः शकपतिमशात्यत्)। पश्चात्कालीन परमार वंशीय भोज के श्रेष्ठार प्रकाश तथा अमोघ वर्ष के मंजन पत्र लेखों में भी इस कथा की प्रतिध्वनि स्वरक्षित है। इसके अतिरिक्त भुजमालुन तवारीख से भी इस कहानी की पाक्षिक पुष्टि होती है। देवी चन्द्रगुप्त की घटना से सिद्ध है कि रामगुप्त अत्यन्त कायर राजा था और शकराज द्वारा पराभूत होकर उसने उसकी सन्धि की शर्तें मंजूर कर लीं जिनमें मुख्य यह थी कि वह अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवदेवी को उसे प्रदान कर दे। गुप्त गौरव इससे संकट में पड़ गया जिसकी रक्षा रामगुप्त के अनुज चन्द्रगुप्त ने ध्रुव देवी के वेश में शकपति के पास उपस्थित हो उसको मारकर की। फिर उसने अपने भाई रामगुप्त को भी सिंहासन से अलग कर उसकी रानी ध्रुव देवी और गुप्त सिंहासन दोनों पर अधिकार कर लिया, जिसकी प्रजा ने प्रशंसा की। चन्द्रगुप्त ने भाई को मार कर गद्दी पर अधिकार किया और उसकी विधवा को ब्याहा अथवा उसे राज्यच्युत कर उसकी पत्नी ध्रुव देवी के साथ विवाह किया यह सर्वथा स्पष्ट नहीं। ध्रुव देवी चन्द्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमार गुप्त प्रथम की जननी थी यह तो गुप्त अभिलेखों से प्रमाणित है; परन्तु उसके भाई के प्रति आचरण का साफ-साफ पता नहीं चलता। अमोघ वर्ष के मंजन पत्र लेखों का बह्व्य इतना अवश्य है कि चन्द्रगुप्त ने अपने भाई के रक्त से

अपने हाथ रँग लिए; जिससे यह माना जा सकता है कि सम्भवतः वह उसे मार कर गद्दी पर बैठा और उसने उसकी विधवा से ब्याह किया। उस काल की स्मृति में इस प्रकार के कायर को क्लोव माना गया है। और उसके जीते जी उसकी पत्नी का पुनर्विवाह सम्मत घोषित किया गया है। जो भी हो, चन्द्रगुप्त ने भाई को मार कर उसकी पत्नी से विवाह किया हो अथवा उसके जीते जी, इसमें सन्देह नहीं कि उसने रामगुप्त के कुछ ही काल राज करने के बाद उससे उसका सिंहासन और पत्नी दोनों छीन लिए। रामगुप्त का नाम गुप्त वंश-तालिकाओं में नहीं मिलता, यह अवश्य सही है; परन्तु यह इसलिए भी सम्भव था कि रामगुप्त उस असाधारण राज-कुल के उदात्त सम्राटों की शृङ्खला में वृणित समझा गया हो और इससे उसका नामोल्लेख छोड़ दिया गया हो। इस प्रकार का वृणा प्रदर्शन और तज्जनित नामाभाव भारतीय इतिहास और अभिलेखों में अनजाना नहीं है। उसके सिक्के नहीं मिलते; परन्तु यह सम्भवतः इसलिए कि उसका शासन अल्पकालिक रहा। और यदि हम डा० भंडारकर के साथ काच के सिक्के रामगुप्त के माने तब सम्भवतः यह प्रश्न भी हल हो जायगा। यद्यपि उस पर खुदा विरुद “सर्व-राजोच्छेत्ता” रामगुप्त के देवी चन्द्रगुप्त में वर्णित आचरण के प्रतिकूल पड़ता है। अधिक सम्भव यही है कि उसने कोई सिक्के नहीं जारी किये।

२

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ३८० ई० के कुछ पूर्व मगध की गद्दी पर बैठा। वह दत्तदेवी से उत्पन्न समुद्रगुप्त का पुत्र था और पिता ने, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसे अपने उत्तराधिकार के लिए चुना था।

चन्द्रगुप्त को साम्राज्य का निर्माण न करना पड़ा, क्योंकि उसके पिता ने ही यह कठिन कार्य अपनी विजयों से सम्पन्न कर दिया था; यद्यपि उसने भी प्रमाणातः अनेक देश जीते। बाकाटकों से मैत्री, शकों का निष्कासन, बंगाल के शत्रु संघ का नाश और सिन्धु के सातों मुखों को पार कर वह्नीक

अथवा वैकिट्टया तक जा पहुँचना उसके शौर्य के कुछ प्रमाण हैं; परन्तु वस्तुतः उसकी कीर्ति उसकी विजयों अथवा विक्रम के कार्यों पर इतनी अवलम्बित नहीं जितनी वह उसके शान्ति की कृतियों पर प्रतिष्ठित है। हम नीचे उसके इन दोनों प्रसंगों पर प्रकाश डालेंगे।

X

X

X

शकविजय—वाकाटकों से मैत्रा वास्तव में चन्द्रगुप्त के शकों के निष्कासन का योजना का एक अंश है। इसमें सन्देह नहीं कि देवी चन्द्रगुप्तम् के अनुसार उसने रामगुप्त के शासन काल में ही शकपति का वध कर दिया था, परन्तु उससे शकों का बल दृष्ट न था। प्रयाग के स्तम्भ-लेख से स्पष्ट है कि देव पुत्र शाहिशाहानुशाहि—शकमुहूर्तों ने सीमा प्रान्त पर समुद्रगुप्त के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया था; परन्तु निश्चय यह आत्मसमर्पण क्षणिक था और अवसर की तक में अब भी शकादि बैठे थे। सौराष्ट्र, गुजरात और मालवा में भी अभी शकों का प्रभुत्व कायम था और यदि समुद्रगुप्त का प्रशस्ति लेख उनका परिगणन नहीं करता तो यह सम्भवतः केवल इसलिए कि वह गुप्त विजेता उनका पराभव न कर सका था। और देवी चन्द्रगुप्तम् से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त के दुर्बल शासन में शकों ने न केवल गुप्त साम्राज्य का खतरे में डाल दिया था; वरन् शकपति ने ध्रुवदेवी को मांग कर उसके कुल का लाज भी सकट में डाल दी थी। इतनी बड़ी विपत्ति को निःसन्देह चन्द्रगुप्त की दूरदर्शी मेधा बढ़ने न दे सकती थी। पश्चिमी शकों को जानना आवश्यक था और उस अर्थ वह सयत्न हुआ।

परन्तु मालवा के शकों के मांग में वाकाटकों का प्रबल राज्य पड़ता था जो अपने सद्भाव अथवा शत्रुता से सहायता अथवा बाधा सिद्ध हो सकता था। इस कारण उनसे पहले मित्रता स्थापित करनी आवश्यक थी। वाकाटक कुल ब्राह्मण था; परन्तु राजनीतिक कार्य सम्पादन के अर्थ चन्द्रगुप्त ने

उसके साथ अपने क्षत्रिय कुल का सम्बन्ध स्थापित करना निश्चित किया। नागराज कुमारी उसकी पत्नी कुबेर नागा से उत्पन्न उसकी प्रभावती नाम की एक कन्या थी। चन्द्रगुप्त ने भट्ट उसका विवाह रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक से कर दिया। अब वह इस स्थिति में था कि वाकाटकों के राज्य से होकर शकों पर आक्रमण के अर्थ अभियान कर सके।

एक विशाल सेना लेकर चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी भारत के शकों पर आक्रमण किया। भिलसा के पास उदयगिरि की गुफा में एक लेख है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के सान्धिविग्रहिक शाक-वीरसेन ने इस युद्ध के सम्बन्ध में एक संकेत दिया है। उसमें लिखा है कि वह 'सारी पृथ्वी की जय की कामना करने वाले राजा के साथ ही वहाँ आया' (कृत्सन पृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवैह सहागतः) इस लेख में कोई तिथि न दी होने के कारण इस आक्रमण की सही तिथि का पता नहीं चलता। परन्तु सम्भवतः सिक्कों के आधार पर यह तिथि निश्चित की जा सकती है। पश्चिमी क्षत्रियों के अन्तिम सिक्के रुद्रसिंह तृतीय के हैं जो ३८८-६७ ई० के बीच के हैं। अब यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने क्षत्रियों के प्रदेश जीत कर उनमें चलने के लिए अपने चाँदी के सिक्के चलाये। इन सिक्कों की पूर्वतम तिथि ४०६ अथवा ४०६ और ४१३ ई० के बीच हैं, अतः शक विजय ३६५ और ४०० ई० के बीच कभी हुई होगी। ऊपर कहा जा चुका है कि वाण ने अपने हर्षचरित में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शकपति के वध का जिक्र किया है। उसमें तो ध्रुवदेवी की रक्षा के अर्थ चन्द्रगुप्त के शकपति के मारने का इशारा तो है ही, उदयगिरि की गुफा के द्वार पर बने एक चित्र में भी उसका अस्पष्ट हवाला मिलता है। बाराह की मूर्ति अपने दाढ़ों द्वारा पृथ्वी का उद्धार करती दर्शायी गयी है। पृथ्वी उसके दाढ़ों पर स्थित है। इसका अभिप्राय न केवल चन्द्रगुप्त द्वारा शकों का नाश कर भारतवर्ष की रक्षा से है बल्कि उन शकपति से ध्रुवदेवी की रक्षा से भी है। इस उत्कीर्ण मूर्ति का आशय इससे स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त अब शकों का विध्वंस कर लौट रहा था। इसी कारण चन्द्र-

गुप्त द्वितीय के समसामयिक और उसके सामन्त कवि विशाखदत्त के लिए भी यह सार्थक ही है कि वह अपने राजनीतिक वस्तु: प्रधान-नाटक मुद्राराक्षस के आरम्भ के नान्दी श्लोक में बराह के पृथ्वीरक्षक रूप की ही स्तुति करे।

शकों की विजय निःसन्देह बड़े महत्त्व की थी। प्रायः प्रथम शती ई० पू० अथवा उससे कुछ पहले से ही उनका अवनती में अधिकार था। मालवों ने उनको परास्त कर कुछ काल अपनी सत्ता मालवा में प्रतिष्ठित की थी परन्तु शक फिर प्रचंड हो उठे थे और नहपान तथा रुद्रदामन के समय में तब उनकी शक्ति अत्यन्त बढ़ गयी थी। सात वाहनों के अनेक प्रान्त उन्होंने छीन लिए थे और अब समुद्रगुप्त के मरते ही उन्होंने रामगुप्त की रानी और राज्य लक्ष्मी दोनों को सकट में डाल दिया था। शक विजय के इस महत्त्व को देखते हुए, चन्द्रगुप्त द्वितीय का 'शकारि' कहलाना उचित था। सम्भवतः इसी विजय के उपलक्ष में चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि भी धारण की। विक्रमादित्य का विरुद्ध सम्भवतः विदेशी को भारत से निकालने के उपलक्ष में धारण किया जाता था। विक्रम सम्बत् के प्रवर्तक मालव गणपति विक्रम से लेकर यशोधर्मन और हेमू तक के प्रयासों की यही कथा है।

शक राज रुद्रसिंह तृतीय की पराजय तथा शकों के निष्कासन का गुप्तों की समृद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवा, गुजरात और सीराष्ट्र की उर्वर भूमि तो उनके राज्य में आ ही गयी। पश्चिमी समुद्र तट के बन्दरगाहों पर उनका अधिकार हो जाने से पश्चिम के देशों तथा उनके व्यापार की मण्डियों से भी गुप्त साम्राज्य का गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया। नये विचारों के आदान-प्रदान होने लगे और विदेशों के साथ व्यवसाय की वस्तुओं का यातायात होने लगा। देश के आन्तरिक व्यापार में भी अभिवृद्धि हुई और उसमें गुप्तों का एक तन्त्री शासन स्थापित हो जाने के कारण अनेक सीमाओं पर जो सौदागरों को विभिन्न कर देने पड़ते थे अब वे बन्द हो गये और इससे विक्रय की वस्तुओं का मूल्य भी पहले से कम हो गया; परन्तु सबसे महत्त्व-

पूर्व बात इस दिशा में यह हुई कि उस काल के धार्मिक, व्यावसायिक और राजनीतिक केन्द्र उज्जैन पर गुप्तों का अधिकार हो गया। उज्जैन पश्चिम और उत्तर के राजमार्ग तथा विभिन्न वणिज्य पथों की सन्धि पर अवस्थित था और इस काल से पूर्व ही ज्योतिष का केन्द्र भी बन चुका था। अब चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे प्रायः दूसरी राजधानी की प्रतिष्ठा दी।

पूर्व और उत्तर की विजय—शकों और अन्य शक्तियों के विद्रोह और संघर्ष से जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने जिन शत्रुओं को परास्त अथवा सत्रस्त कर दिया था वे चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के संघर्ष से अवसर पाकर विद्रोही हो उठे थे। पश्चिमी भारत के शकों का नाश कर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को अन्य शत्रुओं से भी लोहा लेना पड़ा। बगाल विद्रोही हो उठा था और उत्तर-पश्चिम के देव पुत्र शाहिशाहानुशाहि तथा शक मुकुण्डादि सचेत हो उठे थे। मेहरीली लोह स्तम्भ, के लेख से सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त ने बगाल के शत्रु-समूह को तोड़ कर सिन्ध को लॉघ सीमा प्रान्त का धावा किया और उसके भी पार जा वालीक (वैकिट्ट्या, बारुत्ती, बल्ल) के हूणों को धूल चटा दी। आश्चर्य की बात है कि इस लेख में भी हूणों का आवास वहां वज्जुनद की घाटी है जिसका उल्लेख गुप्त कालीन महाकवि कालिदास ने अपने रघुवश में रघु की उत्तर-दिग्विजय के प्रसंग में किया है। यह लेख किसी चन्द्र का है जिसे कुछ लोगों ने चन्द्रगुप्त को न मानकर चन्द्रवर्मन् अथवा चन्द्रांशु को माना है जो स्पष्टतः अनुचित और अप्राप्य है। निश्चय यह स्तम्भ लेख चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही है। उसका निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त महत्त्व का है :—

दस्यो द्रुतयतः प्रतीपभुरसा शत्रुन्समेत्यागता—
 न्वङ्गे ष्वाहव वर्तिनोऽभिलिखिता खङ्गन कीर्तिर्भुजे ।
 तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोजिता बाह्वुका
 यस्याद्याघधि वास्यते जलनिधि वीर्यानिर्लैर्दक्षिणः ॥

इस श्लोक से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त के विरुद्ध शत्रुओं ने बंगाल में एक संघ बनाया जिसे नष्ट कर चन्द्रगुप्त उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा और पंजाब की सिन्धु और उसकी सहायक नदियों को पार कर बाह्लिकों को पराजित किया और इस प्रकार अपने विक्रम के अनिल द्वारा दक्षिण समुद्र को सुवासित किया। इसी लेख के एक अन्य श्लोक से यह भी ध्वनित है कि उसने पृथ्वी पर ऐक्याधिपत्य स्थापित किया और सुचिरकाल तक उसे भोगा। सम्भव है बङ्गाल के संघ में पश्चिमी भारत के पराजित शत्रुओं में से भी कुछ शामिल हों। उनका एक आधार अभी उत्तर-पश्चिम की सीमा पर था और उसे भी नष्ट कर देना चन्द्रगुप्त ने उचित समझा इसी कारण उसने पंजाब और सीमाप्रान्त पर भी धावा किया क्योंकि उसकी यह विजय चिरकालिक न हो सकी और हमारे पास इसका प्रमाण नहीं कि उत्तर-पश्चिम का सुदूर सीमा प्रान्त कर्मा गुप्तों के शासन में रहा हो। इतना अवश्य है कि तात्कालिक साहित्य पर इस विजय का प्रभाव पड़ा और कालिदास के रघु की उत्तर दिग्विजय पर इसकी छाया पड़ी जैसे उसकी दक्षिण विजय पर समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय की पड़ी थी। अब चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था और उसका प्रभाव भी पिता की ही भाँति अपने शासित प्रदेशों के बाहर दूर-दूर तक था।

शान्ति—राष्ट्र के शत्रुओं का नाश और उसमें शान्ति की प्रमिष्टा कर चुकने के बाद अपने साम्राज्य की व्यवस्था के प्रति चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य अब प्रसन्न हुआ। उसका शासन दयापूर्ण और कठोरता सहित था। चीनी यात्री फाह्यान, जिसने उसके शासन काल में भारत भ्रमण किया था लिखता है कि राजा सुखी है; अति शासन के प्रतिबन्धों से मुक्त है और जनकर भी उसे नहीं देना पड़ता। उसे अपने कुल की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती और न भजिन्द्रेयों अथवा नियमों के प्रति अनावश्यक उत्तरदायी होना पड़ता है। राजा के आने-जाने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। वे जहाँ चाहें जा सकते हैं, जहाँ चाहें ठहर सकते हैं। दरुंड विधान सख है और चीनीविधान

की अपेक्षा सर्वथा नर्म । अपराधियों को हलका या कड़ा केवल शुल्क दराड मिलता है और शारीरिक यन्त्रणा का सर्वथा अभाव है । प्राण दराड उठा दिया गया है और राजद्रोह का दराड भी केवल दाहिने हाथ का उच्छेद है ।

चन्द्रगुप्त के शासन की आय मुख्यतः भूमि कर से थी और खेतों की उपज का एक भाग अथवा सिक्कों में उसे चुकाया जाता था । राज कर्मचारियों को नियत वेतन मिलता था और बाजारों में कौड़ी चलती थी । फाहयान ने व्यापार में चलने वाली कौड़ियों का उल्लेख तो किया है; परन्तु 'सुवर्णों' तथा 'दीनारों' का उल्लेख नहीं किया है जो सोने के सिक्के थे और गुप्त शासन में आमतौर से चलते थे और जिनका उल्लेख अनेक बार गुप्त अभिलेखों में हुआ है, सम्भव है साधारण सौदों में कौड़ियों का व्यवहार होता है । फाहयान के वृत्तान्त से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन सुव्यवस्थित और साम्राज्य सुरक्षित था । अनेक वर्षों के अपने परिभ्रमण क्रम में यात्री एक बार भी लुट न सका; यद्यपि हर्ष के समय में हुवेन च्वांग को अनेक बार डाकुओं का शिकार होना पड़ा था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की शासन व्यवस्था पर गुप्त अभिलेखों में भी काफी प्रकाश पड़ता है । उनमें अनेक गुप्तकालीन पदाधिकारियों का परिगणन है और उसका वर्णन करना अब श्रेयस्कर होगा । चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन प्रमाणतः वही है जो उसके पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों का है । और उसे गुप्त शासन कहने में कोई दोष न होगा । इन अभिलेखों में बसाड़-मुहर का अभिलेख विशेष महत्व का है । अभिलेखों से विदित होता है कि राजा मन्त्रियों की सलाह से शासन करता था । मन्त्री प्रायः कुलागत होते थे । उदयगिरि के लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के सांघि-विग्रहिक (युद्ध और सन्धि का मन्त्री) शाब-वीरसेन के साचिव्य को 'अन्वयप्राप्त' कहा गया है । मन्त्रियों के नागरिक और युद्ध विभाग सर्वथा पृथक न थे । एक ही

मंत्री दोनों प्रकार के भार ग्रहण कर सकता था और राजा के साथ वह युद्ध-भूमि में भी जाता था। साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें देश अथवा भुक्ति कहते थे। इन प्रान्तों के शासक प्रायः राजकुल से नियुक्त होते थे और जब तब वे सभ्रान्तकुलीय अथवा सामन्त होते थे। प्रान्तीय शासक को उपरिक महाराज अथवा गोष्ठा कहते थे। अधीनस्थ सामन्त-शासक की सज्ञा उसकी शक्ति के अनुसार राजा अथवा महाराजा होती थी। प्रान्त के अन्तर्गत विषय होते थे और उनके अन्तर्गत उनके अपने न्यूनतर शासनपरक भूभाग।

बसाह की मुहर से अनेक अनुक्रमिक पदाधिकारियों का पता चलता है। इनमें से एक तो कुमारामात्य (कुमार का मन्त्री अथवा कुमार को आयु से मन्त्री) था, दूसरा महादण्डनायक (मेनापति), तीसरा विनय स्थिति-स्थापक (विनयधर), चौथा महाप्रतीहार (राज प्रासाद का रक्षक), पाँचवाँ भट्टाश्वपति (पदाति और हयदल का अध्यक्ष), छठा दण्डपाशाधिकृत (पुर्लास का अध्यक्ष), आदि।

विषयपति प्रान्तीय शासक के प्रति उत्तरदायी होता था और उसका स्थान 'अधिष्ठान' तथा दफ्तर 'अधिकरण' कहलाते थे। नगर के विविध अधिकारी शासन में उसकी सहायता करते थे। उसके परिषद् में निम्नलिखित होते थे—नगर-अधिष्ठान (प्रमुख सेठ), सार्थवाह (प्रमुख सौदागर), प्रथम कुलिक (मुख्य शिल्पी), और प्रथम कायस्थ (मुख्य लेखक)। इनके कर्तव्य कम क्या थे, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। इनके अतिरिक्त कुछ रेकर्ड-क्लर्क (पुस्तपाल) भी थे जिनकी अनुमति बिना भूमि बेची-खरीदी नहीं जा सकती थी। जब वह भूमि का स्वामित्व निश्चित कर अपनी रिपोर्ट दे देता तब उसका क्रय-विक्रय हो सकता था। ग्राम शासन का निम्नतम आधार था और उसका मुखिया ग्रामिक कहलाता था। ग्रामशुद्धों की पञ्चायत की सहायता से वह गाँव में शान्ति की रक्षा करता था।

फाह्यान—प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान स्थल के मार्ग से गोबी रेगिस्तान की विपत्तियाँ भेलता ३६६ ई० में भारत आया और प्रायः १५ वर्ष तक भारत के अनेक प्रान्तों में भ्रमण करता रहा। खुत्तन, पामीर, स्वात और गन्धार होता हुआ वह पेशावर पहुँचा। मध्यदेश के अनेक नगरों—मथुरा, कनौज, आवस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, काशी—में कुछ काल घूम और ठहर कर वह सिंहल और जावा होता जल मार्ग से स्वदेश लौटा। उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल का भारतीय वृत्तान्त लिखा है जिससे तत्कालीन भारत के समाज, राजनीति, धर्मादि पर प्रभूत प्रमाण पड़ता है। राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में उसके वृत्तान्त का ऊपर हाला दिया जा चुका है।

सामाजिक स्थिति के विषय में वह लिखता है कि लोग अहिंसक और निरामिषभोजी थे। नगर में मद्य-मांस की दूकानें न थीं। लोग सूअर अथवा मुर्गे नहीं पालते थे, लस्सुन-प्याज नहीं खाते थे, मद्यपान नहीं करते थे। केवल चाण्डाल आखेट करते और मांस बेचते थे; परन्तु उन्हें नगर में बसने का अधिकार न था। जब वे नगर में प्रवेश करते तब उन्हें दो लकड़ियों को परस्पर टकरा कर सबणों को सावधान कर देना पड़ता था जिससे वे उनके स्पर्श से हट कर अपावन होने से बच जायँ।

फाह्यान संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए प्रायः तीन वर्ष पाटलिपुत्र में ठहरा। वह लिखता है कि नगर में हीनयान और महायान के दो विशिष्ट बिहार थे जिनमें प्रायः छः-सात सौ विद्वान् रहते थे। उनकी ख्याति इतनी थी कि दूर-दूर से जिज्ञासु ज्ञान के अर्थ उनके समीप उपस्थित होते थे। पाटलिपुत्र को उसने अशोक का राजप्रासाद देखा था और उसकी विशालता देख कर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसे मानव प्रयास से परे समझा। उसका विश्वास था कि उसका देवों ने निर्माण किया है। उसने लिखा है कि लोग धर्माचरण में परस्पर स्पर्धा करते थे। प्रत्येक वर्ष वैशाख की अष्टिमी को बुद्ध और बोधिसत्त्वों का जलूस निकाला जाता था। इनको

बीस रथों पर रख कर सुन्दरता से सजाते थे। वैश्य-कुलों द्वारा स्थापित वहाँ अनेक सदाव्रत चलते थे जहाँ दान और औषधियाँ निःशुल्क बाँटी जाती थीं। गृहस्थों और अभिजातवर्गीयों ने नगर में एक विशद चिकित्सालय बना रखा था जहाँ दरिद्रों को मुफ्त दवा और भोजन मिला करता था। नगरों और राजमार्गों पर स्थान-स्थान पर यात्रियों के लिए विश्रामगृह बने थे।

फ्राह्मन को भारतभ्रमण का मुख्य उद्देश्य धार्मिक था इससे उसने धर्म के विषय में विशेष लिखा है। वह लिखता है कि बंगाल और पंजाब में सद्धर्म उन्नति पर था और मथुरा में भी उसके उपासकों की संख्या थोड़ी न थी। परन्तु मध्यदेश में वह लोकप्रिय न था। वहाँ उसके विहारों की संख्या अल्प थी। वहाँ ब्राह्मण धर्म का जोर था और स्वयं राजा परम वैष्णव था। परन्तु राजा के धार्मिक मामलों में सहिष्णु होने के कारण धर्मों में परस्पर सद्भाव था। अभिलेखों से फ्राह्मन के इस वक्तव्य की पुष्टि होती है। उनसे विदित होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अन्य साम्प्रदायिकों को सम्राज्य के विशिष्ट पद देने में कभी आनाकानी नहीं करता था। उसका सान्निध्य विग्रहिक शाब वीरसेन शैव था और सेनापति आम्रकार्दव जैन।

विक्रमादित्य की राजसभा—विक्रमादित्य को भी पिता की ही भाँति विद्या का व्यसन था। अनुश्रुतियों में तो उसकी राजसभा के नवरत्नों की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उसके पिता समुद्रगुप्त की सभा में दार्शनिक दिग्नाग और वसुधन्तु तथा कवि हरिषेण थे, चन्द्रगुप्त की सभा में नवरत्न। इन नवरत्नों के नाम ठीक ठीक तो नहीं बताए जा सकते; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमें अग्रणी महाकवि कालिदास था जिसने संस्कृत साहित्य को अपना अनेक अमर कृतियाँ प्रदान कीं। वह काश्मीरी पण्डित था और मालवा में कुछ काल रहा था। उसने खुवश, कुमारसंभव, मेघदूत, तथा ऋतुसंहार नामक काव्य और अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र

नामक नाटक लिखे । उसके सामन्त विशाखदत्त ने विक्रमादित्य के काल में ही संभवतः अपना राजनीतिक वास्तुपरक प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस लिखा । उसका दूसरा नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् अब लुप्त होकर केवल उदाहरणों में ही प्रस्तुत है; परन्तु उसका महत्त्व इतना है कि उसी के आधार पर समुद्रगुप्त के पुत्र और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अग्रज एक नए राजा रामगुप्त का पता चला है । इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल में हुआ था । भारतीय चिकित्सा विज्ञान का परम परिणत धन्वन्तरि भी संभवतः तभी का था । प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर विक्रमादित्य के कुछ ही बाद हुए थे ।

इसी काल कला का भी चरम उत्कर्ष हुआ था । मूर्तिकला ने विशेष उन्नति की और मेहरौली के लौहस्तम्भ से प्रमाणित है कि धातु-कला में भी इस युग ने अद्भुत दक्षता प्राप्त कर ली थी । वह स्तम्भ सदियों से धूप और वर्षा में खड़ा है; पर उस पर कभी जंग न लगा । अजन्ता की गुफाओं के कुछ चित्र विक्रमादित्य के ही समय में अंकित हुए थे । सिक्कों के ढालने में भी इस काल गुप्तों ने प्रभूत उन्नति की । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्कों के अनेक प्रकार उपलब्ध हैं । उसी ने कुषाण माडल को छोड़ सर्वथा भारतीय माडल का अनुकरण कर सिक्कों के निर्माण में क्रांति कर दी । इसी काल मूर्तिकला में गन्धार-शैली का भी भारतीयकरण हुआ । संस्कृत भाषा और साहित्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए । चन्द्रगुप्त ने अपने पिता की ही मूर्ति उसे राजपद दिया । काव्य-पद्धति का इतना बोलबाला हुआ कि सिक्कों तक पर छन्द-खण्ड लिखे जाने लगे । अभिलेखों में भी इस काल सुन्दर काव्य का प्रयोग हुआ । परमभागवत शकारिचन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ब्राह्मण-धर्म को (विशेष कर वैष्णव सम्प्रदाय को) बड़ा प्रोत्साहन दिया । पुराणों और स्मृतियों की रचना हुई और आधुनिक हिन्दू धर्म अपने वर्तमान वेष में सजा । चन्द्रगुप्त सामाजिक विचारों में भी रुढ़िवादी न था । उसने मृत आत्मा की विधवा अथवा जीवित की सधवा को व्याहृ और चरित्र होकर भी

अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का ब्याह ब्राह्मण कुलीय वाकाटकराज से कर दिया । विक्रमादित्य पराक्रम और शौर्य में अपना प्रतीक आप था । अपने शौर्य और भक्ति के द्योतक उसने अनेक विहृद—परमभागवत, देवराज, देवगुप्त, महाराजाधिराज श्री भट्टारक, विक्रमादित्य, विक्रमांक, नरेन्द्रचन्द्र, सिंह-विक्रम, सिंह-चन्द्र, आदि थे । उसने लगभग ३८० ई० से ४१४ ई० तक प्रायः ३५ वर्ष राज किया । वह इतना महान्, इतना प्रजासुसाधक, इतना पराक्रमी, इतना विद्याव्यसनी हुआ कि वह असाधारण जन-कथाओं का नायक बन गया ।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

१

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय गुप्त-गौरव शक्ति उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर चढ़ गया था। सूर्य मध्याह्न में आकाश की मूर्धा पर था। वह और नहीं बढ़ सकता था, अब केवल उतर ही सकता था। कुमारगुप्त का शासन-काल गुप्त-दिवस का तीसरा पहर था। शक्ति ने साम्राज्य को सुरक्षा दी थी, व्यापार ने समृद्धि। और समृद्धि से विलास की भावना जगी। कला की पराकाष्ठा ने विलास के उपकरणों को प्रस्तुत किया और कुमारगुप्त सभ्यों से अधिक विलासिनियों से घिरा रहने लगा।

फिर भी उसके सिक्कों के बाहुल्य और विविधता तथा अभिलेखों के प्रभूत वितरण से जान पड़ता है कि उसने अपने पिता के साम्राज्य की सीमाएँ संकुचित न होने दीं। उसका अनुज गोविन्दगुप्त पिता के ही समय से वैशाली का प्रतिनिधि-शासक था, उसका अधीनस्थ सामन्त बन्धुवर्मा दशपुर (पश्चिमी मालवा में मन्दसोर) पर शासन करता था, चिरातदत्त पौंड्रवर्धनभुक्ति (उत्तर बंगाल) का शासक था, और घटोत्कचगुप्त ऐरिक्का (एरण, मध्य प्रांत में सौगर) में। इसके अतिरिक्त उसने एक अश्वमेध

भी किया था जिससे प्रमाणित है कि उसने कुछ प्रदेश भी जीते होंगे। उसका राज्य-विस्तार हिमालय से नर्मदा तक और सौराष्ट्र से बंगाल तक था। अभिलेख के कवि वत्सभट्टि ने उसके साम्राज्य की महिमा गाई—

चतुस्समुद्रान्त विलोलमेखलां सुमेरु कैलास वृहत्पयोधराम् ।

वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

कुमारगुप्त के ४० वर्ष के दीर्घकालिक शासन का पूर्वार्ध समस्त गुप्त-युग के चरम ऐश्वर्य का था, यह ऊपर कहा जा चुका है। गुप्त-समृद्धि का यह युग था और वास्तु तथा मूर्तिकला में अभूतपूर्व प्रौढ़ता आई। कुमारगुप्त के सिक्के गुप्त सिक्कों में सर्वाधिक सुन्दर हैं। परन्तु जान पड़ता है कि उस नृपति के शासन की आरम्भकालीन सुरक्षा अन्त तक कायम न रह सकी। उसके जीवन के अन्तिम वर्ष कष्ट और कठिनाइयों के थे। पुष्यमित्रों ने साम्राज्य के दक्षिणी भाग पर प्रबल आक्रमण किया। पुष्यमित्रों का संभवतः नर्मदा तट पर कहीं गणराज्य था, संभवतः मेकल के पास, नर्मदा के उद्गम के समीप। इन्होंने अपनी सेना, शक्ति और कोष असीम आकार में बढ़ा लिया था (समुदित बलकोषान्) और कुमारगुप्त के प्रमादी जीवन से अवसर पाकर इन्होंने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया। सैदपुर भोंतरी के स्तम्भ लेख से जान पड़ता है कि अशक्त वृद्ध अथवा रुग्ण होने के कारण कुमारगुप्त स्वयं तो संभवतः युद्ध क्षेत्र में न जा सका; परन्तु उसके समर्थ पुत्र युवराज स्कन्दगुप्त ने शत्रुओं का मुकाबला किया और उनकी शक्ति तोड़ गुप्त साम्राज्य की रक्षा की।

इस अभिलेख से प्रमाणित है कि अपने कुल की विचलित लक्ष्मी को यथापूर्व स्थापित करने के अर्थ उसने तप और साधना का जीवन बिताया और रणभूमि में रुखी भूमि पर साधारण सैनिक की भाँति रातें काटीं—

“विचलितकुल लक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा...”

परन्तु उसको साधना फलवती हुई और प्रबल शत्रुओं की शक्ति दृष्ट गई। परन्तु उसकी विजय का सुख पिता को न मिल सका। वे संभवतः इस युद्ध के बीच में ही मर चुके थे और विजय का संवाद स्कन्दगुप्त को अपनी माता को देना पड़ा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ‘शत्रु को मार कर कृष्ण देवकी के निकट पहुँचे थे।’ पिता के देवलोक प्रयाण करने से विप्लुत वंश-लक्ष्मी को अपने भुजबल से पुनः प्रतिष्ठित कर उसने आसूँभरे नेत्रों वाली माता को विजय का परितोष दिया।*

२

४५५ ई० के लगभग पुण्यमित्रों की विजय के बाद ही स्कन्दगुप्त पिता की गद्दी पर बैठा। वह संभवतः अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था। कुमारगुप्त की केवल एक पत्नी अनन्तदेवी का नाम हमें अभिलेखों में मिलता है जो पुरगुप्त की माता थी, स्कन्दगुप्त की नहीं। साधारणतः स्कन्दगुप्त की जननी का नाम देवकी बताया जाता है परन्तु यह निराधार है। किसी अभिलेख में यह नाम नहीं मिलता, केवल भीतरी लेख में लिखा है कि स्कन्दगुप्त अपनी ‘सासुनेत्रा माता के निकट वैसे ही पहुँचा जैसे कृष्ण अपने शत्रु को मार कर देवकी के समीप पहुँचे थे।’ इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि स्कन्दगुप्त की जननी का नाम भी देवकी था नितान्त अवैज्ञानिक है।

*वितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारियः प्रातःप्राप्य भूयः ।
जितमिति परितोषान् मातरं सासुनेत्राम्
इतरिपुरिव कृष्णो देवकी मभ्युपेतः ॥

स्कन्दगुप्त के शासन-काल के अनेक अभिलेख अभिप्राप्त हैं जिनके आधार पर उसका सही तिथि-क्रम प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण गाजीपुर जिले के भीतरी का स्तम्भ लेख है, अभाग्यवश जिसमें कोई तिथि नहीं दी हुई है। तिथि-क्रम से उसका पूर्वतम अभिलेख जूनागढ़ की शिला का है जिसे उसके सौराष्ट्रशासक ने खुदवाया था। यह शासक पहले पर्यादत्त हुआ फिर उसका पुत्र चक्रपालित। इस अभिलेख में तीन विषय तिथियाँ १३६-१३७-१३८ गुप्त गणना के अनुसार दी हुई हैं। उसी पर महात्तप रुद्रदामन प्रथम का १५० ई० का लेख भी खुदा है। उस तत्स्थानीय सुदर्शन भाल का इतिहास प्रस्तुत होता है। अभिलेख में लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के सौराष्ट्र के शासक वैश्य पुष्यगुप्त ने गिरनार अथवा रैवतक के निकट उज्जैनत पर्वत पर दो नदियों के प्रवाह रोक कर सुदर्शन नामक झील बनवायी। फिर मौर्य सम्राट् अशोक के शासक यवनराज तुषास्प ने सिंचाई के लिए उसमें से नहरें निकलवायीं। शक सवत् ७२ = १५० ई० में रुद्रदामन प्रथम के शासन काल में अति वृष्टि के कारण इसके बाँध टूट गये; तब रुद्रदामन प्रथम के पट्टव मन्त्री कैलप के पुत्र सुविशाख ने उसका पुनरुद्धार कराया। फिर यह सुदर्शन हद गुप्त सम्वत् १३६ = ४५५-५६ ई० के प्रौष्ठ-पद (अगस्त-सितम्बर) की छठी तिथि की रात में अपने बाँधों को तोड़ कर बह चला। तब स्कन्दगुप्त के सौराष्ट्र शासक पर्यादत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित की देख रेख में उसका बाँध बँधवाकर जीर्णोद्धार कराया। नया बांध पक्का बँधा और उसके ऊपर गुप्त सम्वत् १३८ = ४५७-५८ ई० में एक विष्णु मन्दिर भी खड़ा हुआ। उस सुदर्शन भाल का तथा जूनागढ़ के नगर के समीप गिरनार पर्वत के नाचे नारों और का आज उर्वर मैदान है। रुद्रदामन प्रथम और स्कन्दगुप्त के अभिलेख उसी शिला पर खुदे हैं जिस पर प्राचीन काल में अशोक महान् ने अपने १४ शिलालेख मुराष्ट्र की प्रजा के अर्थ खुदवाये थे। परन्तु चक्रपालित द्वारा निर्मित विष्णुमन्दिर अथवा सुदर्शन के बाँध का कोई अवशेष वहाँ नहीं है।

राज-दण्ड ग्रहण करते ही स्कन्दगुप्त को साम्राज्य की दूसरी विपद हुआ। आक्रमण का सामना करना पड़ा। हूण चीन के उत्तर-पश्चिमी कान्सू प्रान्त में रहते थे, और अकाल के कारण १६५ ई० पू० के लगभग वे पश्चिम की ओर चल पड़े। अपने संक्रमण के क्रम में उन्होंने ह्यूची, शक आदि अनेक जातियों को अपने-अपने स्थान से उखाड़ फेंका और अनेक साम्राज्यों की रीढ़ तोड़ दी। उन्हीं के कारण अन्ततः पार्थिया और बैक्ट्रिया के राज्य विनष्ट हुए और उन्होंने ही विशाल और विस्तृत रोमन साम्राज्य की कमर तोड़ दी। जहाँ-जहाँ वे गये, भस्मावृत नगरों और शवों की राशि ने उनके प्रस्थान को कथा कहा। दक्षिण-पूर्वी दोण उनकी मार से लहलुहान हो गया और उनके अग्नि तारण्डव से सिन्धा काली हो उठी। हूणों की नृशंसता तथा बर्बरता ने उन्हें 'ईश्वरी-कोड़े' (फ्लैगेन्लंडेई) की संज्ञा दी। इस बर्बर जाति का संक्रमण मानवता के इतिहास में निश्चय एक विशाल मंजिल थी। इस जाति की एक धारा तो अत्तिल के नेतृत्व में योरोप की ओर गयी थी और दूसरी उत्तर-पश्चिम के दरों से भारत के मैदानों में घुसी। परन्तु जैसा भीतरी के अभिलेख से प्रमाणित होता है स्कन्दगुप्त ने उनके कोड़े की बाग रोक दी। अभिलेख लिखता है कि हूणों के साथ उसके सहसा टकरा जाने से पृथ्वी हिल उठी और भीषण आवर्त बन गया—“हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोभ्यां धरा कम्पिता भीमावर्त करस्व।” इस हूण संवर्ष का वृत्तान्त भीतरी के स्तम्भ लेख में मिलता है। भीतरी प्रायः ५ मील गाजीपुर जिले के सैदपुर की तहसील से उत्तर-पूर्व की ओर है। गाँव के बाहर लाल पत्थर का स्तम्भ खड़ा है और इस पर १६ पंक्तियों का अभिलेख आज भी प्रायः सुरक्षित है। इसी अभिलेख में पुष्यमित्रों के विरुद्ध उसकी विजय की सूचना भी है। इस अभिलेख से प्रमाणित है कि हूणों की पहली बाढ़ को उसने पंजाब तक पहुँचने न दिया और इस प्रकार अपने पिता के साम्राज्य की स्कन्द गुप्त ने रक्षा की। स्पष्ट है कि उसके राज्यारोहण के पश्चात् भी हूणों की एक और धारा उत्तर भारत की ओर आयी; परन्तु सजग सम्राट् ने उसकी गति भी रोक

दा। इसमें सन्देह नहीं कि अन्त में इस बरबर ज्ञानि की अनवरत धाराओं ने टकरा-टकरा कर गुप्त साम्राज्य की शक्ति तोड़ दी और उत्तर कालीन गुप्त राजाओं के समय उस विशाल साम्राज्य के अनेक प्रान्त हूणों के हाथ में चले गये। स्कन्द गुप्त द्वारा उनकी विजय का उल्लेख उसके किसी और अभिलेख में नहीं मिलता।

यह भी सम्भव है कि हूणों की पहली बाढ़ स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के युद्ध के शीघ्र ही बाद अपने पिता के जीवन काल में ही रोक दी हो; परन्तु दूसरी बाढ़ को निश्चय वह कठिनाई से ही रोक सका था। कोष के ऊपर उसके इन हूण युद्धों का बुरा प्रभाव पड़ा। कोष रिक्त हो गया और उसे अपने सोने के सिक्कों की धातु मन्द करनी पड़ी। इसके बाद का स्कन्दगुप्त का इतिहास हमें ज्ञात नहीं। परन्तु हूणों की बाढ़ आती ही रही और सम्भवतः उनकी तीसरी धारा का अवरोध करते हुए स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य स्वयं उसमें विपन्न हो गया। कटौम के अभिलेख में सूचित है कि स्कन्दगुप्त संवत् १४३ तक जावित रहा था जब मद्र नाम के एक व्यक्ति ने गोरखपुर जिले के देवरिया (अब जिला) के ककुभ नामक ग्राम के प्रस्तर स्तम्भ पर तीर्थंकरों की ५ मूर्तियाँ बनवाईं। स्कन्दगुप्त ने गुप्त संवत् १४५ में चाँदी के सिक्के चलाये थे। १४६ गुप्त संवत् में जब शर्वनाग अन्तर्वेद विषय का शासक था तब देव विष्णु नामक एक ब्राह्मण ने क्षत्रिय अचल वर्मन् और भ्रुकुटासिंह द्वारा निर्मित इन्द्रपुर (बुलन्दशहर में इन्दौर) के सूर्य मन्दिर में दीप जलाने के लिए कुछ भूमि दान की। स्कन्दगुप्त के शासन का अन्तिम ज्ञात लेख गुप्त संवत् १८८ = ४६७-६८ ई० का है जो उसके चाँदी के सिक्कों पर मिलता है।

स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा था। यदि कहीं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् उसका अविर्भाव हुआ होता तो कला और समृद्धि के प्रमादी परिणाम के बावजूद भी उसका उदात्त आचरण गुप्त साम्राज्य के हास को

रोकने में समर्थ होता। जिस प्रकार उत्तर काल में राणा सांगा और प्रताप
 सुबीच अशक्त उदयसिंह हुआ था, जिस प्रकार बाबर और अकबर
 के बीच हुमायूँ सा निष्क्रिय बादशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा था,
 उसी प्रकार गुप्त साम्राज्य की मागध गद्दी पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और
 स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के बीच कुमारगुप्त था। कुमारगुप्त, उदयसिंह और
 हुमायूँ तीनों निष्क्रिय और प्रमादी थे। कुमारगुप्त तो सम्भवतः विलास में
 अपना प्रतीक आप था। और यदि कहीं उसका पुत्र स्कन्दगुप्त न हुआ
 होता तो उसका राज-दंड पुण्यमित्रों के आक्रमण के समय ही उसके हाथ
 से छिन गया होता। स्कन्दगुप्त की दृढ़ता, साधना और मेधा ने पिता
 को पराभव से बचा लिया। हमें इसका तो स्पष्ट ज्ञान नहीं कि स्कन्दगुप्त
 ने हूणों की बाढ़ रोकने के अर्थ किस प्रकार के प्रयत्न किये; परन्तु
 उस जाति के पिछले राजाओं के वृत्तान्तों से स्पष्ट है कि उनका आचरण
 भारतीय भूमि पर किस प्रकार का हुआ होगा। तोरमाण और मिहिर
 कुश को उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, प्राचीन गन्धार उद्यान और उरष
 के बौद्ध मन्दिरों का विनष्टा कहा जाता है। निश्चय उन्हीं की भौति
 प्रारम्भिक हूण-धारा ने अपने बर्बर कृत्यों से सीमा प्रान्त के अधिवासियों
 को संतुष्ट कर दिया होगा। उस समय भी भारत की राजधानी पाटलिपुत्र
 थी और मागध तब भी उत्तरी राष्ट्रों का नेता था; परन्तु क्या उसने उत्तरी
 भारत की विविध जातियों द्वारा उसमें निहित विश्वास की रक्षा को अथवा
 उसका उत्तरदायित्व समझा? इतिहास का प्रमाण मागध के विरुद्ध है। निश्चय
 इस काल के मागध भारतीय इतिहास के अभियुक्त हैं। वे अपने अन्त
 काल में अपने कर्तव्य को भूल गये और उसके सम्पादन में उनसे गहरा चूक
 हुई। कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा न हो
 सकी और उसकी रक्षा के निमित्त संभवतः कोई प्रयास भी न हुआ। और
 जब हम पृष्ठभूमि से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पौरुष, अध्यवसाय और
 दूरदर्शिता पर नजर डालते हैं तब उसका व्यक्तित्व आसमान छू लेता है।

पश्चिमी शकों का पराभव कर वह बंगाल के शत्रु संघ पर जा दृढ़ था । और उसने पंजाब के सिन्धु नद के सातों मुखों को लौंघ कोजक अमराणा पहाड़ों की छाया से निकल वल्लु तट के सभाषित शत्रुओं को कुचल दिया था । उत्तर पश्चिमी प्रान्त के देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि और शक-मुहंज जिन्हें समुद्रगुप्त ने केवल सत्रस्त कर दिया था, चन्द्रगुप्त के धावे से झुक गये । इन्हीं शाहियों ने जिनका इतिहास भारतीय सीमा प्रान्त की रक्षा में स्वर्णोत्तरों में लिखा जाने के योग्य है और जो निरन्तर शाही आनन्दाल के बाद तक विदेशी आक्रमकों से लोहा लेते रहे थे, हूणों की पहली बाढ़ कुमारगुप्त के समय पर अपने सीने पर ली थी । परन्तु कुमारगुप्त ने क्या उनकी सहायता करने का कोई प्रयत्न किया ? निश्चय नहीं । सदा के विलासी भागधों को इन बर्बर हूणों से गद्दा और यमुना के उर्वर प्रान्तों से दूर बर्फ और तूफान के बीच युद्ध न भाया । रोमन स्वर्ण तथा देश की शान्ति और समृद्धि ने उनको आलसी और अशक्त बना दिया था । परिणामतः उत्तर-पश्चिम के भागों की रक्षा न हो सकी और कपिश नगर-हार और सन्धार को उर्वर धाटियों की मदी ईसवी के भारतीय नक्शे के भागध अधिकार से मिटा दी गयीं । ११ मदीयों के बाद आज हम वहाँ की प्रजा की विपन्नावस्था का केवल अनुमान कर सकते हैं । बर्बरों के आक्रोश और भीषण आक्रमण से वहाँ की जनता आक्रान्त हो गयी होगी । नगर के नगर आग की लपटों में झुलस गये होंगे, पुरुषों की अग्रगण्य संख्या तलवार के घाट उतार दी गयी होगी । नारियों और बच्चों के झुण्ड दासता की शृङ्खला में जकड़ मध्य एशिया की ओर घसीट ले जाये गये होंगे । एशियायी ग्रीकों ने भारत के सीमा-प्रान्त पर एक महान् सभ्यता का निर्माण किया था जिसमें शकों, कुषाणों और अन्य बर्बर जातियों ने भी अपने योग्य दिये थे । उस सभ्यता के बिन्दु हूणों की नग्न नृशंसता ने मिटा दिये । और इस सभ्यता के साथ ही कुषाण सम्राटों के विशाल स्तूप मन्दिर और विहार भी धरा से मिट गये और इन सबसे महत्त्वपूर्ण भारत की मेधा की

सदियों से संचित कमायी तक्षशिला का विद्या केन्द्र भी सर्वदा के लिए मिट गया ।

इस पृष्ठभूमि के साथ जब हम स्कन्दगुप्त के कृत्यों पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें उसके व्यक्तित्व की महानता का बोध होता है । जब मागध सर्वथा विलास के प्रसूत उपकरणों से स्त्रैण हो चले थे, जब कुमारगुप्त के प्रमादी हाथों में राजदंड शिथिल पड़ गया था, जब सीमा-प्रान्त हूणों की बाढ़ से विपन्न हो चला था, तब स्कन्दगुप्त ने अपने पौरुष का प्रमाण दिया । और यद्यपि वह उसकी धाराओं को सबेथा रोक न सका; निःसन्देह उनके अवरोध में उसके प्रयत्न स्तुत्य हैं । इस दृष्टिकोण से स्कन्दगुप्त का स्थान भारत के राष्ट्रीय अग्रणी नेताओं की अगली पंक्ति में रहेगा । जब मागध राष्ट्र अपने उत्तरदायित्व और रक्षा के पावन कर्त्तव्य को भूल चुका था, जब मातृभूमि और उसकी निरीह जनता की रक्षा का ध्यान उनके विचारों में मिट गया था तब अकेले स्कन्दगुप्त ने उस उत्तरदायित्व और पावन कर्त्तव्य को समझा । उसने उस बर्बर आक्रमण की पहली धारा को सहसा रोक दिया । उसने समझा कि भारत के सिंहद्वार की रक्षा का भार उसके ऊपर है और उसी के अर्थ उसने अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया । अपने रक्त की अन्तिम बूँद से उसने उस महायज्ञ में तर्पण किया ।

हूण आक्रमण की तिथि संभवतः गुप्त संवत् १३८ = ४५७-५८ ई० के पूर्व रखनी होगी; क्योंकि यही तिथि जूनागढ़ के शिला लेख की है और इसके म्लेच्छ ही संभवतः भीमरी स्तम्भलेख के हूण हैं । हूणों के विरुद्ध और भारतीय रक्षा के प्रति न केवल उसने आक्रमकों का प्रतिरोध कर और अपने प्राण देकर अपना कर्त्तव्य निभाया; वरन् साम्राज्य की रक्षा के अर्थ वह सतत् आग्रहक रहा और निरन्तर प्रबन्ध करता रहा । जूनागढ़ के उसके शिला-लेख से प्रमाणित है कि किस प्रकार सौराष्ट्र के प्रान्तीय शासक की नियुक्ति के सम्बन्ध में वह दिन-रात चिन्तित रहा था । निश्चय साम्राज्य के सुदूर के ये

पश्चिमी प्रान्त उसके रन्ध्र थे और इसी रन्ध्र पर उसके शत्रुओं ने अन्त में प्रहार भी किया। वस्तुतः यह रन्ध्र केवल गुप्त साम्राज्य का रन्ध्र न था वरन् कालोत्तर इतिहास में भारत का रन्ध्र था। डेमेट्रियस की सेनाओं ने इसी पश्चिम की ओर से भारत पर आक्रमण किया था। शकों ने भी इन्हीं से आक्रमण कर महाराष्ट्र मालवा और गुजरातमें अपने राज्य खड़े किये थे। और मालवा के आधार से ही उठकर रामगुप्त के शासन-काल में उन्होंने गुप्त साम्राज्य में संकट को डाल दिया था। इन्हीं पश्चिमी प्रान्तों पर दूण भी स्कन्दगुप्त के बाद पहले विजयी हुए और इस प्रकार जर्जर गुप्त साम्राज्य के पहले विखरने वाले प्रान्तों में से भी ये ही थे। इनकी रक्षा राष्ट्र की रक्षा थी और इसी कारण स्कन्दगुप्त का इनके प्रबन्ध में इतना दत्तचित्त होना सार्थक हो था। निःसन्देह स्कन्दगुप्त को अपने पिता के पापों का स्वयं प्रायश्चित्त करना पड़ा।

४६७ ई० के लगभग स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य में अराजकता दुःशासन का प्रभुत्व जमा। उसका उत्तराधिकारी उसके सौतेले भाई पुरगुप्त को मिला जो अनन्त देवी का पुत्र था। स्कन्दगुप्त की माता का नाम किसी अभिलेख में नहीं मिलता और स्वयं उसका नाम भी पुरगुप्त के पौत्र कुमारगुप्त द्वितीय के भीतरी से प्राप्त मुहर की वशतालिका में नहीं मिलता जिससे कुछ विद्वानों का मत है कि दोनों भाइयों में संभवतः विरोध होने के कारण साम्राज्य का वितरण हो गया था; यद्यपि इस प्रकार के नामोल्लेख का अभाव भारतीय इतिहास में सर्वथा अज्ञात नहीं है। परन्तु प्रमाण के अभाव में वस्तुतः इस सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

स्कन्दगुप्त अपने पितामह की ही भाँति परम वैष्णव था। परन्तु अपने राजकुल के अन्य सम्राटों की ही भाँति दूसरे सम्प्रदायों के प्रति सर्वथा सहिष्णु बना रहा और उसके शासन काल में भी बौद्ध, जैन और शैवादिकों को अपने देवताओं की उपासना तथा धर्म के प्रचार में स्वतंत्रता थी। जैन मद्र द्वारा तीर्थंकर मूर्तियों की प्रतिष्ठा का हवाला ऊपर दिया जा चुका है और सूर्य

मन्दिर में दीप जलाने की व्यवस्था के अर्थ एक ब्राह्मण के भूमि-दान का भी । स्कन्दगुप्त ने भी अपने पितामह की ही भाँति विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण किया था जो उसके विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध उसके संघर्ष का प्रमाण और पुरस्कार दोनों था । यह विरुद्ध उसके सिक्कों पर लिखा मिलता है । उसका दूसरा विरुद्ध क्रमादित्य था जो विक्रमादित्य का ही संक्षेप रूप जान पड़ता है । यह विरुद्ध उसके पराक्रम और दृढ़ता, तप और साधना, के अनुरूप ही था ।

१०

हर्षवर्धन

१

छठी शती ई० में गुप्त साम्राज्य के भग्नावशेष छोटे छोटे ६ राज्य खड़े हुए। वे निम्नलिखित थे :—१. मगध वे उत्तर कालीन गुप्त २. कान्यकुब्ज, (कनौज) के मौरवर्ग, ३. पूर्व मालवा के गुप्ता ४. वलभि के मैत्रक, ५ राज-पूताना और पंजाब के हूण, और ६. धानेश्वर के वर्धन। प्रायः १०० वर्ष तक उत्तर भारत इस छोटे-छोटे राज्यों द्वारा ही शासित होता रहा; परन्तु सातवीं सदी के आरम्भ में धानेश्वर के उस राजकुल का उदय हुआ जिसका पूर्वज पुष्पभूति था, और जिसे प्रभाकरवर्धन ने विशेष प्रतिष्ठा दी। इसका आरम्भ तो वस्तुतः पहले ही हो चुका था; परन्तु ७ वीं सदी के शुरु में हर्ष ने उसे साम्राज्य का रूप दिया और उसके सुद्धों और अधिक परिश्रम से धानेश्वर का राजकुल उत्तर भारत के राज्यों में अग्रणी हो गया।

हर्षवर्धन स्कन्दगुप्त के बाद भारतीय धरा-पर पहला व्यक्ति था जिसने सम्राट का गौरव और ऊँचाई प्राप्त की। प्रायः १५० वर्ष बाद फिर उत्तर भारत में केन्द्रीय शक्ति कायम हुई और उसके शासन-पत्र सुदूर के प्रान्तों में अंगीकृत होने लगे। और इस हर्ष के इतिहास के सम्बन्ध में सामग्री की भी अपेक्षाकृत प्रचुरता है। हर्ष के राजकवि बाण भट्ट ने अपने हर्ष चरित में उसके वृत्तान्त लिखे और यद्यपि उस ग्रन्थ में उसके कृत्यों का पूरा वर्णन

नहीं मिलता और उसके गुद्धों के बीच में ही वह समाप्त हो जाता है फिर भी उसकी पूर्ति चीनी यात्री यू आन-च्वांग के पर्यटन वृत्तान्त-सी-पू-की हो जाती है। सी-पू-की समसामयिक भारतीय राजनीति, समाज, धर्म आदि की स्थिति पर प्रभूत प्रकाश डालता है। हर्ष के शासन काल के अनेक अभिलेख भी सुरक्षित हैं, जिनसे उसके राज्य का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इनमें से मुख्य मधुबन और वांसखेड़ा के ताम्रपत्र-लेख, तथा सोनपत और नालन्दा की मुहरे हैं। चालुक्य नृपति पुलकेशिन द्वितीय की सेहोल की प्रशस्ति भी इस अर्थ अत्यन्त उपादेय है। इनके अतिरिक्त हुई—ली द्वारा रचित चीनी भाषा में यूआन-च्वांग का एक जीवन चरित भी है जिससे उस प्रसिद्ध चीनी यात्री के भ्रमण और परिणामतः हर्षवर्धन की राजनीति तथा शासन-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। हर्ष के वृत्तान्त-वर्णन में हम इन विविध सामग्रियों का उपयोग करेंगे। अधिकतर हर्ष के कृत्य इनके सम्मिलित योग से प्रस्तुत होगा। उसके आरम्भिक कृत्यों के समन्वय में बाण का हर्ष चरित अत्यन्त उपादेय है।

थानेश्वर का राजकुल—हर्ष चरित में हर्ष के पूर्वजों का उल्लेख है जिन्होंने श्रीकण्ठ (थानेश्वर) में अपना राज्य स्थापित किया था। इस ग्रन्थ में जो वंश तालिका प्रस्तुत है उसका प्रतिष्ठाता पुष्पभूति है, यद्यपि उसका उल्लेख हर्ष के अभिलेखों में कहीं नहीं मिलता। जान पड़ता है कि पुष्पभूति केवल इस कुल का सुदूर पूर्वज था, इसकी शक्ति का निर्माता नहीं। हर्ष के अभिलेखों में उसके पूर्व गामी चार पूर्वजों का ही उल्लेख मिलता है। अभिलेखों से विदित होता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् ५वीं सदी के अन्त अथवा छठी सदी के आरम्भ में नरवर्धन ने थानेश्वर के राजकुल की नींव डाली। हूणों के निरन्तर आक्रमणों से जब गुप्त साम्राज्य बिखर चला, इसी कर्मठ नरवर्धन ने सम्भवतः उसके इस भूभाग पर अधिकार कर लिया। परन्तु थानेश्वर के राजकुल का यश विशेषकर तब बढ़ा जब नरवर्धन के पौत्र आदित्यवर्धन ने उत्तरकालीन गुप्त राजा महासेन गुप्त

की भगिनी महासेन गुप्ता से विवाह कर लिया। जिस प्रकार प्राचीन काल में लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर चन्द्रगुप्त प्रथम ने उदीयमान गुप्त कुल का गौरव विस्तार किया था उसी प्रकार प्राचीन और प्रसिद्ध गुप्त कुल से अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित कर आदित्यवर्धन ने उदीयमान कुल का गौरव बढ़ाया। परन्तु थानेश्वर के राजकुल के गौरव का वास्तविक प्रतिष्ठा हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन ने की। उसकी विजयों से इस राजकुल की सीमाओं, प्रभुत्व और प्रभाव का विस्तार हुआ और फलस्वरूप उसने महाराजाधिराज तथा परम भट्टारक विरुद्ध धारण किये। हर्षवर्धन में उसके प्रभाव और विजयों का प्रभूत वर्णन है। बाण ने उसे हूण रूपी हरिण के लिए केसरी, सिन्धुराज का ज्वर, गुर्जरों की निद्रा भंग कर जाग्रत रखने वाला, गन्धार राज का रोग, लाटों का लुटेरा और मालव लक्ष्मी रूपी लता का परपु आदि विशेषणों से विभूषित किया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभाकरवर्धन ने इस प्रशस्ति में उल्लिखित देशों की विजय की थी। बाण का यह वक्तव्य निश्चय प्रशंसात्मक है और नितान्त अतिरंजित। परन्तु निःसन्देह इससे यह सत्य निर्विवाद स्थापित हो जाता है कि वह राजा प्रभावशाली था और पड़ोसियों पर उसका आतंक छा गया था। यह इस बात से स्पष्ट हो जायगा कि थानेश्वर के पूर्व में मौखरियों का कनौज का राज्य पर्याप्त विस्तृत और शक्तिमान् था। राजपूताना के पश्चिमी भागों और पंजाब में सम्भवतः हूणों का प्रभुत्व था जिनसे प्रभाकर वर्धन को अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। यूआन-त्स्वांग ने थानेश्वर के राज्य का परिमाण दिया है। वह केवल ७००० ली अर्थात् १२०० मील की परिधि का है।

हर्षवर्धन में हर्षवर्धन के राज्यारोहण के निकट पूर्व की घटनाओं का विस्तृत वर्णन है जो विश्वसनीय और मनोरंजक दोनों हैं। उससे ज्ञात पड़ता है कि प्रभाकरवर्धन के मरने के बाद ही उसके पुत्रों को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा और हर्ष के अप्रज राज्यवर्धन को अपने प्राण

जोने पड़े। इसके अतिरिक्त उसमें यह भी ज्ञात होता है कि हर्ष का प्रारम्भिक जीवन कितना व्यस्त था। हर्षचरित तथा ऊपर बतायी सामग्री के आधार पर हर्ष का राज्य वृत्तान्त इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

राज्यारोहण से पूर्व—६०५ ई० में हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हुई और उनके ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को थानेश्वर राज्य का उत्तराधिकार मिला। राज्यवर्धन तब हिमालय के चरणों में दूगों से युद्ध कर रहा था। पिता के निधन की सूचना पाकर वह भाट थानेश्वर लौटा। परन्तु अभी उसके अभिषेक का तिलक सूखा भी न था कि उसे अपने वहनोई गृहवर्मन् की हत्या और भगिनी राज्यश्री के विधवा होने की सूचना मिली। गृहवर्मन् कनौज के मौखरि राजकुल का अन्तिम राजा था। मगध के उत्तर कालीन गुप्तों और कनौज के मौखरियों में दीर्घ काल तक संघर्ष होता रहा था और परिणाम-रूप गुप्त राजकुल मगध से उखड़ कर मालवा में जा लगा था। गुप्तों का भौगोलिक आधार तो निश्चय बदल गया था परन्तु मौखरियों के प्रति उनका राजनीतिक विद्वेष पूर्ववत् ही सजग था। पुराना संघर्ष फिर भी चलता रहा और अपने पूर्वज की विजय का प्रायश्चित्त गृहवर्मन् मौखरि को अपने रक्त के तर्पण से करना पड़ा। देवगुप्त ने गृहवर्मन् को मार कर राज्यश्री को कान्य कुब्ज के कारागार में डाल दिया और उसने सम्भवतः मौखरि राजकुल के सम्बन्धी थानेश्वर के राज्य की ओर भी बढ़ने के मनसूबे बाँधे। राज्य वर्धन भगिनी की विपत्ति की सूचना पाकर उसके शत्रु को दण्ड देने के लिए बढ़ा। उसका अनुज हर्ष भूल की रक्षा के लिए थानेश्वर में रुका रहा। मालव राज देव गुप्त का पराभव तो सम्भवतः राज्य वर्धन ने सरलता से कर दिया; परन्तु उसे प्राणों के रूप में उस विजय का मूल्य देना पड़ा। देवगुप्त ने गौड वंश शाशंक से इस युद्ध के पूर्व ही सन्धि कर ली थी और राज्य वर्धन के आक्रमण के समय वह सुदूर गौड से मालव राज की सहायता के लिए मगध लौंघ कर घटनास्थल पर आ पहुँचा था। और अब जब उसका मित्र राज्य वर्धन से परास्त होकर सम्भवतः मारा भी जा चुका था तब उसने राज्य

वर्धन का घोखे से वध कर दिया। देव गुप्त को मार कर लौटते हुए राज्य वर्धन के प्रति गौड़ाधिप ने अपनी मित्रता प्रदर्शित की और उस मित्रता के उपलक्ष में उसने अपनी कन्या उसे देने का वचन दिया और इस प्रकार मिथ्या उपचार से: "एकाकी, विश्रब्ध, मुक्त शस्त्र" राज्यवर्धन की शशांक ने अपने भवन (शिविर) में हत्या कर दी। फिर यह जान कर कि थानेश्वर सेना का सेनानी इस दारुण घटना की सूचना पाकर चुप नहीं बैठ रहेगा शशांक ने राज्य श्री को कजौज में बन्धन मुक्त कर दिया।

राज्यारोहण—राज्यवर्धन की हत्या के बाद अब हर्ष स्वाभाविक ही अपने पैतृक राज्य का उत्तराधिकारी रह गया था; परन्तु अभिषेक अपने कुल के संकट में उसे अच्छा न जान पड़ा और आवश्यकता का निर्वाह कर वह शीघ्र कर्त्तव्य सम्पादन के अर्थ सैन्य निकल पड़ा। इस काल दो कार्य उसके शांत्प्रकरणीय थे—पहला तो भगिनी राज्यश्री की खोज और दूसरा आता के हत्यारे को दण्ड। शीघ्र भडि ने उसे सूचना दी कि राज्यश्री बिन्ध्य पर्वत के बनों की ओर लुप्त हो गई है। हर्ष ने भाट उस ओर प्रस्थान किया। बिन्ध्य पर्वत श्रेणी के बनों में राज्यश्री उसे ठाँक तब प्राप्त हुई जब वह अग्नि में प्रवेश करने को तत्पर थी, उसे लेकर वह स्कन्धावारों को लौटा। अभिषेक इस घटाना के बाद 'हर्षचरित' समाप्त हो जाता है और हर्षवर्धन के जीवन की अन्य घटनाओं पर उससे कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

राज्यश्री की उपलब्धि के बाद हर्ष का मुख्य करणीय शशांक को दण्ड देना था; परन्तु वह जानता था कि गौड़ाधिपति शक्ति में उससे किसी प्रकार कम न था, यद्यपि उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक वह उससे भाई की हत्या का बदला न ले लेगा तब तक वह स्वदेश न लौटेगा। जिस प्रकार मौखरियों और मागधगुप्तों और परिणामतः मालव-गुप्तों में प्रकृत्यमैत्री थी, उसी प्रकार गौड़ के राजाओं तथा कामरूप (आसाम) के वर्मनों में भी घनी शत्रुता थी। मालवा का गुप्तराज गौड़ के शशांक का मित्र था इसलिए दोनों का शत्रु और मौखरियों के सम्बन्धों, कजौज के अभिभावक और थानेश्वर के

राजा हर्ष ने कामरूप के भास्कर वर्मन् से चिरकालिक मैत्री का प्रस्ताव किया । यह सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद हर्ष शत्रु की खोज में चला । शशांक न केवल सैन्य संचालन में दक्ष था वरन् वह नीति में भी असाधारण कुशल था । वह अपने मूले गौड़ से दूर था और उसने जाना कि हर्ष और भास्कर-वर्मन् की सन्धि का अर्थ क्या था और गौड़ किस प्रकार उसकी अनुपस्थिति में कामरूप की दया पर छूट गया था । शौर्य से अधिक श्रेय उसने नीति को दिया और शांति वह उत्तर बंगाल लौट पड़ा । हर्ष ने प्रतिज्ञा की थी शशांक का सर्वनाश करने की; परन्तु शशांक के अभिलेखों से प्रमाणित है कि गौड़ाधिपति प्रायः ६२० ई० तक जीवित रहा और उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई । हर्ष ने गौड़ विजय अवश्य किया; परन्तु शशांक की मृत्यु के पश्चात् शशांक के स्वदेश लौट जाने पर हर्ष तत्काल उसका पीछा भी न कर सका था, क्योंकि कन्नौज की अराजकता का अनदेश और राजश्री की दयनीय दशा के प्रति उसका कर्तव्य आवश्यक और शीघ्रकरणीय था । प्रश्न यह था कि कन्नौज की गद्दी पर कौन बैठे ? राज्यश्री के कोई सन्तान न थी और स्वयं वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हो जाने से राज्य से विरक्त हो गई थी । इस प्रकार मौखरी राजकुल के सहो उत्तराधिकारी के अभाव में पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मन्त्रियों ने हर्ष से ही राजमुकुट स्वीकार करने की प्रार्थना की । हर्ष सहमा और राजमुकुट स्वीकार करने का साहस न किया, फिर भी उसने उस राज्य का शासन करना स्वीकार कर लिया और बिना कन्नौज के सिंहासन पर बैठे अथवा महाराज की उपाधि धारण किए केवल कुमार और शीलादित्य के विरुद्ध धारण कर अभिभावक मात्र की हैसियत से वह मौखरी-राज्य का शासन करने लगा । कालान्तर में थानेश्वर और कन्नौज दोनों राज्यों की शासन-रज्जु एकत्र कर उसने सम्राटोचित विरुद्ध धारण किए और उनका वह एक मात्र स्वामी बन गया । इस प्रकार स्वराज्य में शक्ति दृढ़ हो चुकने पर हर्ष अविजित की विजय के अर्थ सेना लेकर बाहर निकला ।

दिग्विजय—युएन्-च्वांग लिखता है कि हर्ष ने छह वर्ष में 'पाँचों भारतों' को जीत लिया। 'पाँचों भारतों' में भारत के अनेक प्रान्त सम्मिलित थे। स्वराष्ट्र अथवा पंजाब, कान्यकुब्ज, मिथिला (उत्तर-बिहार), गौड़ अथवा बंगाल और उत्कल अथवा उड़ीसा 'पाँच भारत' संज्ञा थी। इनमें पंजाब का कुछ भाग तो हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन ने ही जीत लिया था परन्तु संभव है कि हर्ष की प्रारंभिक विपत्तियों के समय यह भूखण्ड स्वतंत्र हो गया हो और उसे उस भूभाग को फिर जीतना पड़ा हो। संभवतः इसी यात्रा में उसने सिन्धुराज को भी परास्त किया। कान्यकुब्ज पर तो उसका अधिकार स्वतः हो गया था और अब शशांक के लौट जाने पर बिहार का पश्चिमी भाग और मिथिला पर भी उसने आसानी से अधिकार कर लिया होगा। बंगाल और उड़ीसा पर इसका अधिकार गौड़ाधिपति शशांक की मृत्यु के पश्चात् ही हो सका होगा और हमें गुप्त संवत् ३००—३१६ ई० के गजाम-अभिलेख से ज्ञात है कि वह नृपति इस तिथि तक अपनी सारी शक्ति के साथ जीवित था। इस प्रकार बंगाल और उत्कल की विजय प्रायः ३२० ई० के बाद ही हो सकी होगी।

इन विजयों के अतिरिक्त हर्ष ने नौतान और राज्यों के विरुद्ध युद्धयात्रा की। इनमें से प्रथम सिन्ध था। युएन्-च्वांग ने सिन्ध के राजों को शूद्र और बौद्ध लिखा है। संभवतः वह सिहरस राय था। बाण लिखता है कि हर्ष ने न केवल उसे युद्ध में परास्त किया वरन् उससे कर भी वसूल किया—“अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धु राज प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृता”। उसका दूसरा अभियान वलभी के राजा ध्रुवभट्ट अथवा ध्रुवसेन द्वितीय के विरुद्ध हुआ। ध्रुवभट्ट को उससे पराजित होकर अपना राज्य छोड़ दक्षिण की ओर भागना पड़ा। उसने भड़ोच के दह द्वितीय की शरण ली और उसी की सहायता से उसने अपने पैतृक राज्य पर फिर अधिकार कर लिया। हर्ष ने उससे मित्रता का सम्बन्ध कर लेना ही

उचित समझा और उसे उसने अपनी कन्या व्यास दी। ध्रुवभट्ट आमरण उसका मित्र बना रहा।

हर्षवर्धन का तीसरा महत्त्वपूर्ण अभियान चालुक्य-राज पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध हुआ। जिस प्रकार हर्ष 'सकलौत्तरपथनाथ' था वैसे ही पुलकेशिन भी अपने को दक्षिणपथ का स्वामी मानता था और उस दिशा में वह अपने समसामयिकों में था भी अग्रणी। ६३४ ई० से कुछ पूर्व दोनों वृत्तियों की नर्मदा के निकट कहीं टक्कर हुई। युएन-च्वांग लिखता है कि स्वयं हर्ष ने इस युद्ध में अपनी सेना का संचालन किया था। परन्तु दक्षिणी शत्रु का प्रत्याक्रमण इतना प्रबल हुआ कि हर्ष की हरावल टूट गई। युएन-च्वांग के वक्तव्य की पूर्ति पुलकेशिन की ऐहोल-मेगुटी प्रशस्ति से भले प्रकार हो जाती है। उसमें लिखा है कि युद्ध के मैदान को उसने हर्ष के हाथियों से पाट दिया। पतित गजेन्द्रों को देख हर्ष भय-विगलित हो उठा और पुलकेशिन प्रसन्न—

युधिपतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो

भयविगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः ॥”

इस युद्ध में हर्ष का हार कर नर्मदा को अपने राज्य की दक्षिणी सीमा माननी पड़ी।

६३४ ई० तक हर्ष के प्रसर युद्ध समाप्त हो चुके थे और तत्पश्चात् उसने शान्तिपूर्वक अपने साम्राज्य का शासन किया। पन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसके पश्चात् उसे युद्ध ही नहीं करना पड़ा। कोंगोदा (गंजाम जिला) के ६४३ ई० के एक अभिलेख से जान पड़ता है कि उसे अपने शासन के प्रायः अन्तकाल तक युद्धयात्राएँ करनी पड़ी थीं यद्यपि साधारणतः उसका उत्तरकालीन शासन शान्तिमय था। और धीरे धीरे उस पर बौद्ध उपदेशों का प्रभाव भी पड़ने लगा था।

इन युद्धों का वर्णन कर चुकने पर अब संभवतः हम हर्ष के साम्राज्य की सीमाएँ निश्चित कर सकेंगे। युएन-च्यांग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त के क्रम में कुछ स्थानों को स्वतंत्र बताया है और कुछ के सम्बन्ध में वह सर्वथा मूक है। जिनके सम्बन्ध में वह मूक है उनको हर्ष के राज्यान्तर्गत माना जा सकता है। चीनी यात्री के वृत्तान्त और अभिलेखों के आधार पर हर्ष के साम्राज्य का विस्तार निम्नलिखित प्रान्तों पर मानना उचित होगा—मथुरा और मतिपुर (मन्दावर-बिजनौर जिला) को छोड़ प्रायः सारा संयुक्तप्रान्त; बिहार, बंगाल और कोंगोदा अथवा बंगाल के साथ सारा उत्कल, 'पाँचों भारत' अथवा (पूर्वी) पंजाब, कनौज, बिहार (मिथिला), गौड़ अथवा बंगाल और उड़ीसा (इनमें से पिछले तीन प्रान्तों का नाम ऊपर दिया जा चुका है)। जिन राज्यों को युएन-च्यांग ने स्वतन्त्र माना है वे कनौज और थानेश्वर के निकट होते हुए भी हर्ष के राज्य के बाहर कहे थे—यह सन्देह हो सकता है। इसका समाधान इसी प्रकार किया जा सकता है कि उसकी प्रारम्भिक विपत्तियों में संभवतः ये राज्य उसके साथ रहे और उसने भी उन्हें अपने अन्तर्गम में स्वतन्त्र रहने दिया फिर भी ये हर्ष के अधीनस्थ राज्य ही कहे जायँगे। सिन्ध, सौराष्ट्र, कामरूप तथा नैपाल को भी स्वतन्त्र ही मानना चाहिए। सिन्ध का मिहिरस राय धन दे कर ही मुक्त हो गया था; सौराष्ट्र संभवतः बलभी के अधीन था जहाँ का राजा ध्रुवभट्ट पहले हर्ष से परास्त होकर बाद में उसका जामाता बना, कामरूप का भास्करवर्धन हर्ष का केवल मित्र था और उसको मृत्यु के पश्चात् उसने गौड़ के कर्णसुवर्ण प्रान्त पर अधिकार भी कर लिया; और नैपाल की अधीनता का निर्देश करनेवाले हर्ष चरित के वाक्य - 'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैल-भुवो दुर्गाया गृहीतः करः'—का अर्थ द्वयार्थक होने के कारण (हर्ष ने हिमाच्छादित पर्वत में उत्पन्न दुर्गा को व्याहा = हर्ष ने हिमाच्छादित अगम्य भूमि से कर ग्रहण किया) संदिग्ध है। इस प्रकार हर्ष के साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में पंजाब और हिमालय तथा दक्षिण में नर्मदा थी, और पश्चिम में राजपूताने की मरुभूमि तथा पूर्व

में बंगाल की खाड़ी थी। इस विस्तृत साम्राज्य का अर्जन कर चुकने के पश्चात् हर्ष उसकी व्यवस्था में दत्तचित्त हुआ।

साम्राज्य का शासन—ऊपर के वृत्तान्त से प्रमाणित है कि हर्ष का साम्राज्य विस्तृत था। पूर्वात्य साम्राज्यों की विशेष दुर्बलता उसका शिथिल संगठन रहा है और उसकी सँहाल अधिकतर सम्राट के व्यक्तिगत गुण, अध्यवसाय, सूझ और सैन्य-शक्ति पर निर्भर करती रही है। इसमें तो सन्देह नहीं कि हर्ष अध्यवसायी था। दिन रात वह प्रजा के कल्याण का चिन्तन करता रहता था और इस अर्थ उसने अशोक के 'अनुसंधान' का भी प्रबन्ध किया था, अन्तर इतना था कि जहाँ अशोक के अफसर राज्य का दौरा करते थे वहाँ हर्ष स्वयं दौरा किया करता था। राजधानी में भी वह व्यक्तिगत रूप से अधिक कार्य करता था। प्रशा के फ्रेडरिक महान की भाँति उसमें भी निरन्तर कार्य करने की धुन और रसमता थी। हुएन च्वांग लिखता है कि 'वह अथक परिश्रमी था और दिन उसके कार्य की अपेक्षा अत्यन्त छोटा जान पड़ता था।' जैसा ऊपर कहा जा चुका है वह अपने राज्य में दौरा करता और अपराधियों को दण्डित तथा पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करता था।

उसके शासन की सूझ उसकी परराष्ट्र-नीति में प्रदर्शित थी। युद्धों के उपरान्त उसके साम्राज्य का विस्तार हुआ था, और उसकी शक्ति इतनी बढ़ हो गई कि फिर कभी पश्चिम की ओर लौटने का शशांक का साहस न हुआ। दक्षिण के पुलकेशिन से हारकर हर्ष ने चुपचाप अपनी सेनाएँ दक्षिण से हटा लीं। परन्तु इस सम्बन्ध में विशेष सूझ का बात उसके अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध थे। मालवा और गौड़ को मैत्री के विरुद्ध उसने कामरूप के भास्करवर्मन् के साथ 'चिरकालिक मैत्री' की। बलभी के ध्रुवभट्ट के हार कर भी दह की सहायता से अपना पैतृक राज्य फिर से जीत लेने पर हर्ष ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर उसे अपना मित्र बना लिया। तीसरा मैत्री सम्बन्ध उसका चीनी सम्राट से स्थापित हुआ। चीन में इस काल तांग-सम्राट ताइ-त्सुंग राज कर रहा था। ६४१ ई० में हर्ष ने उसके पास एक ब्राह्मण दूत

भेजा। सम्भवतः वह दौत्य पुलकेशिन् द्वितीय के ईरानी बादशाह के यहाँ दूत-प्रेषण के उत्तर में था। चीनी सम्राट् ने भी अपना एक दूत-मंडल हर्ष के पास भेजा; परन्तु उसके भारत पहुँचने के पूर्व ही हर्ष मर चुका था और देश में अराजकता फैली हुई थी।

सेना—जिसके बल पर हर्ष ने इतना विस्तृत साम्राज्य खड़ा किया था वह उसकी सेना थी। हुएन्-च्वांग का कहना है कि इसकी सहायता से उसने पूर्व से पश्चिम तक के देश ६ वर्षों में जीत लिए थे। वह लिखता है कि उसने अपनी हाथियों की सेना बढ़ा कर ६०,००० कर ली थी और घुड़सवारों की १००,०००। इतनी बड़ी घुड़सवार और गजसेना भारत के इतिहास में सम्भवतः अन्य किसी सम्राट् ने कभी प्रस्तुत नहीं की। उसका विशेष ध्यान अपनी पदाति सेना की सख्या पर रहता था। गजसेना की सख्या की सत्यता तो पुलकेशिन् द्वितीय के एहोल-मेगुटा के प्रशस्तिलेख से भी प्रमाणित है। उसने हर्ष के गजों को मार कर युद्ध का मैदान पाट दिया था। हर्ष की सेना का विंशष्ट भाग होने ही से सम्भवतः अपनी प्रशस्त में पुलकेशिन् ने गजों के बध की बात विशेष रूप से ध्वनित की है। उसमें हर्ष की अश्वसेना का हवाला नहीं दिया है।

सेना का सर्वोच्च विधायक 'महाप्रलायकृत्' था और 'सेनापति' सम्भवतः उसके नौने काम करता था। हर्ष का विशाल अश्वसेना का अध्यक्ष अपने विंशष्ट पद के अनुसार हा 'वृहदश्ववार' कहलाता था। 'कटुक' गजसेना के अध्यक्ष का संज्ञा थी। सेना के इन दो स्कन्धों के प्रधानों के पद स्वाभाविक सम्मान्य थे। अव्यवस्थित (सम्भवतः अर्धतनिक) और व्यवस्थित पैदल सैनिक 'पाट-भट' कहलाते थे।

केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन—हर्ष ने थानेश्वर और कान्यकुब्जों के राज्यों तथा अपनी विजयों के योग से अपने साम्राज्य का निर्माण किया था। उसने अपनी राजधानी, साम्राज्य का विस्तार अधिकतर पूर्व की ओर होने के कारण थानेश्वर से हटा कर कनौज में स्थापित की थी। शासन का

केन्द्र स्वयं सम्राट् था और उसकी व्यवस्था वह संभवतः मंत्रिपरिषद् की सलाह से करता था। इस प्रकार के मंत्रियों का संकेत हमें उस प्रसंग से मिलता है जहाँ कहा गया है कि पोनी के नेतृत्व में कनौज के मंत्रियों और रानीतिज्ञों ने हर्ष से मौखिक राजमुकुट स्वीकार करने की प्रार्थना की। परन्तु यह कहना कठिन है कि इन मंत्रियों का अंकुश सम्राट् की स्वेच्छाचारिता पर किस सीमा तक काम करता था। सम्राट् के मंत्रियों में से एक का पदाधिकार 'महासन्धिविप्रहिक' शब्द से सूचित है। यह मंत्री सन्धि और युद्ध की घोषणा और विधान करता था। सेना के प्रधान अध्यक्ष महाबलाधिकृत का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। 'महाप्रतीहार' राजप्रासाद का रक्षक और व्यवस्थापक था। 'भोगिक' अथवा 'भोगपति' उपज से राजकर वसूल करता था। 'मीमांसक' संभवतः न्याय का पदाधिकारी था (?)। विविध विभागों के प्रधान 'अध्यक्ष' कहलाते थे। 'दूत' का पद भी विशिष्ट था और संभवतः 'दीर्घद्वय' (धावक) आदि उसी की देखरेख में कार्य करते थे। 'अक्षपटलिक' साम्राज्य के कागज-पत्र, रेकर्ड आदि को सँभाल करता था। 'करणिक' (क्लर्क) और 'लेखक' आदि संभवतः उसी की अध्यक्षता में कार्य करते थे। निम्नवर्गीय राजकर्मचारियों की साधारण संज्ञा 'आयुक्त' थी। अशोक के शासन में ये 'युक्त' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त नित्य को साम्राज्य सेक्रेटेरिएट की दौड़-धूप के लिए 'सेवक' नियुक्त थे।

हर्ष का साम्राज्य भी पूर्ववर्ती भारतीय शासन-व्यवस्था के अनुकूल अनेक प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहते थे। भुक्तियों 'विषयों' (जिलों) में विभक्त थीं और विषय 'पथको' (तहसील) में बाँटे थे। 'ग्राम' शासन का पूर्ववत् ही निम्नतम आधार था। प्रान्तीय शासकों की संज्ञा 'राजस्थाननीय' (?), 'लोकपाल', उपरिक महाराज 'सामन्त' और 'महासामन्त' थी। स्पष्ट है कि पिछले दो प्रकार के प्रान्तीय शासक तत्स्थानीय अधीनस्थ राजा होते थे। हर्ष का मालव मित्र मालवगुप्त इसी प्रकार का मगध का शासन का 'महासामन्त' था।

दण्ड-विधान—हर्ष का दण्ड-विधान गुप्तकाल की दण्ड-पद्धति की अपेक्षा अधिक कठोर था और मौय्यों की कठोर दण्डशैली के निकट जा पहुँचा था। राजा के विरुद्ध आचरण तथा अन्य बड़े अपराधों के लिए आमृत्यु कारागार का दण्ड नियत था। सामाजिक व्यवस्था के उल्लंघन और उसके विरुद्ध आचरण का दण्ड अंग-विच्छेद था। कान, नाक, कर अथवा पद का काट लेना दण्ड-विधान में साधारण बात थी। अपराध को प्रमाणित करने के लिए अभियुक्त को आग पर चलाकर, पानी में डुबाकर, विष आदि देकर उसका निर्दोषिता की परीक्षा करते थे। अपराधियों को समाज का अङ्ग न समझा जाता था और उनको देश निकाले का दण्ड भी कुछ अपराधों के लिए दिया जाता था। वन्दियों को त्योंहारों पर 'बन्धन-मोक्ष' मिलता था। इस कठोर दण्ड-नीति के कारण नगरों में साधारणतया अपराधों की संख्या कम हो गई थी, यद्यपि यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि हर्ष के साम्राज्य के राजमाग सुरक्षित थे। अनेक बार तो हुएन-त्सांग स्वयं लुट गया था और एक बार तो वह बलि होते होते बचा।

फिर साधारणतया हर्ष की शासन पद्धति अत्यन्त नहीं कही जा सकती। साधारणतया प्रजा अपने सुकृत्यों और उपासना में स्वच्छन्द थी। अतिशासन न था, कुलों की राजस्त्रा नहीं करानी पड़ती थी, बेगार न थी। राज्य की आय भूमि की उपज का छठा भाग थी। इसके अतिरिक्त घाटों और साम्राज्यों पर सौदागरों से व्यावसायिक वस्तुओं पर चुंगी आदि भी ली जाती थी। इस आय का व्यय राज्य के कार्यों, राजा की व्यक्तिगत आवश्यकतओं तथा विद्वानों को दानादि में होता था। प्रयाग का पंचवर्षीय दान-व्यवस्था इस आय का एक विशेष भाग व्यय कर देती थी।

राजधानी—गुप्तों के साम्राज्य के पतन के बाद पाटलिपुत्र की अखिल उत्तर भारतीय महत्ता नष्ट हो गयी। पहले मगध का साम्राज्य उत्तर भारत अथवा भारत का साम्राज्य समझा जाता था और पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। परन्तु गुप्तों के अवसान के पश्चात् पाटलिपुत्र का महत्त्व नष्ट हो गया

और लक्ष्मी कन्नौज में जा बसी। कन्नौज का महत्त्व मौबूरियों के शासन में पर्याप्त बढ़ चला था और हर्ष के शासन काल में तो उसकी महत्ता पूर्णतः स्थापित हो गयी। उसका प्राचीन नाम महोदय था। और उत्तर काल में तो 'महोदयश्री' पर अधिकार करने के लिए अनेक राजकुल लालायित रहे। यूआन-चवांग ने इस नगर की सुन्दरता का वर्णन किया है। वह कहता है कि कन्नौज प्रायः ५ मील लम्बा और सवा मील चौड़ा था। उसकी रक्षा के लिए प्रकृति तथा मनुष्य दोनों ने सम्मिलित योग दिया था। नगर सुन्दर उद्यानों और स्वच्छ जल पूरित तालाबों से भरा था उसके भवन स्वच्छ सादे आरामदेह और दर्शनीय थे। आर्थिक दृष्टि से वे कम व्यय से प्रस्तुत हुए थे फिर भी उनको देख कर सन्तोष होता था। नागरिक संयत और सुसम्पन्न थे, और प्रायः सुन्दर काषाय वस्त्र धारण करते थे। "उनकी भाषा नितान्त शुद्ध और वाणी सर्वथा स्पष्ट थी। शब्दाडम्बर न होते हुए भी उनका भावांकन देवताओं की भाँति सुसंस्कृत और शब्दावलि परस्पर अविवोर्धा थी। उनके उच्चारण स्पष्ट और कर्ण मधुर थे और दूसरे नगरों के लिए आदर्श माने जाते थे।" चीनी यात्री ने उस नगर के बौद्ध विहारों तथा देवमन्दिरों का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है कि नगर में प्रायः १०० बौद्ध विहार और १०००० भिक्तु हैं और प्रायः २०० देवमन्दिर और कई हजार ब्राह्मण हैं।

३

हर्ष के धर्म कृत्य—हर्ष के धर्म कृत्यों में दो विशेष प्रसिद्ध हैं। एक तो कन्नौज का अधिवेशन है, दूसरा प्रयाग का पंचवर्षीय महामोक्ष परिषद। परन्तु इन धर्मकृत्यों के वृत्तान्त लिखने से पूर्व उसके व्यक्तिगत धर्म का उल्लेख कर देना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म हर्ष का पैतृक नहीं था। उसके कुल का सुदूर पूर्वज पुण्यभूति परम शैव था और उसके पूर्वजामी तीनों नृपति सूर्य के उपासक थे, बांसखेड़ा (शाहजहाँपुर जिला) तथा मधुवन (आजमगढ़ जिला) दोनों के अभिलेखों में हर्ष ने स्वयं

अपने को 'परममाहेश्वर' अर्थात् शिव का अनन्य भक्त घोषित किया है। ये लेख ६३१ ई० के हैं जिससे सिद्ध है कि कम से कम अपने शासन के २५वें वर्ष तक वह अभी ब्राह्मण धर्म का ही अनुयायी था। परन्तु जान पड़ता है कि इसके बाद राज्यश्री की बौद्ध धर्म के प्रति विशेष अनुरक्ति ने हर्ष को धीरे धीरे प्रभावित करना प्रारम्भ किया और यूआन-च्वांग के सम्पर्क ने तो उसे सर्वथा बौद्ध बना दिया। कन्नौज के अपने धार्मिक अधिवेशन में जिसका दृतान्त नीचे दिया जायगा उसने महायान के प्रति स्पष्ट अनुराग तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया था। उसमें बुद्ध-मूर्ति की सेवा में उसका और भास्कर वर्मन का क्रमशः शक और ब्रह्मा का आचरण करना इस बात को विशेष प्रतिध्वनित करता है। परन्तु यद्यपि यह सत्य है कि बौद्ध धर्म के प्रति उसका अनुराग अधिक था, अन्य मतावलम्बियों के प्रति भी उसका व्यवहार सहिष्णुता का था। प्रयाग के अधिवेशन में उसने अपने कुल के प्राचीन देवता आदित्य तथा शिव की भी पूजा की थी और ब्राह्मणों को भोजन कराया था तथा प्रभूत दान दिये थे। इस आधार पर कुछ लोगों ने उसे बौद्ध स्वीकार करने में आपत्ति की है। परन्तु, यद्यपि उसे अशोक सा सद्धर्म प्रचारक तो नहीं कहा जा सकता, इसमें सन्देह नहीं कि उसके अनेक कार्य उसे सर्वथा बौद्ध प्रमाणित करते हैं। इनमें से एक बुद्ध के अवशेष को कश्मीर नृपति से बलपूर्वक लीनकर कन्नौज के संचाराम में संगृहीत करना था, दूसरा विचार-विनिमय के अर्थ बौद्ध भिक्षुओं का प्रतिवर्ष अधिवेशन करना था, तीसरा बौद्ध विद्वानों तथा स्तूपों का निर्माण था और चौथा साम्राज्य के अन्तर्गत पशुवध को दंडनीय करना था। सम्भवतः पुरयशालाओं का निर्माण और दरिद्रों को भोजन तथा औषधि का वितरण भी उसके बौद्धानुरक्ति से ही प्रेरित थे।

कन्नौज का अधिवेशन—यूआन-च्वांग लिखता है कि हर्ष ने कन्नौज में एक सम्मेलन करने का निश्चय किया जहाँ उसने उसे महायान सम्प्रदाय की व्याख्या करने को निमन्त्रित किया। कार्यारम्भ होने से पूर्व उसने दो विशाल मण्डप बनवाये जिनमें प्रत्येक में हजार हजार व्यक्तियों के बैठने की

व्यवस्था थी। उनके बीच एक विशाल शिखर संयुक्त चैत्य बना जिसमें हर्ष के आकार की बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई। इसके पूर्व हर्ष अपने दौरे पर था और गङ्गा के तटवर्ती मार्ग से वाद्य-ध्वनि के साथ चीनी यात्री और कामरूप के राजा भास्कर वर्मन् को लिए प्रायः ३ महीनों में कबीज पहुँचा, जहाँ ५ भारतों के १८ राजाओं और विभिन्न मतों के सहस्रों अवलम्बियों ने उसका स्वागत किया। कार्यारम्भ होने से पूर्व एक लम्बे जलूस का आयोजन हुआ। तीन फीट ऊँची बुद्ध की सोने की मूर्ति सुन्दर सजे गज पर चली। हर्ष और भास्कर वर्मन् शक्र और ब्रह्मा उस मूर्ति के पार्श्व बने। उनके पीछे हाथियों पर राजा, पुजारी और साम्राज्य के विशिष्ट कर्मचारी सज कर बैठे। जलूस के बाद मूर्ति की पूजा की गई और हर्ष ने उपस्थित समुदाय को भोजन कराया। तदनन्तर यूआन च्वांग ने महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए अपना खण्डन करने के लिए अन्य मतावलम्बियों को आमन्त्रित किया। ५ दिनों तक वह अवरोध बोलता रहा। इसके पश्चात् हुई-ली लिखता है, भिक्षुओं ने उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा। उसकी गन्ध पाते ही हर्ष ने घोषणा की कि यदि किसी ने यात्री का बाल भी बाँका किया तो उसे प्राण दण्ड मिलेगा। १८ दिनों तक इससे शान्ति बनी रही। परन्तु जान पड़ता है कुछ काल बाद विद्रोह ने जोर पकड़ा और यूआन-च्वांग लिखता है कि सहसा भुज में आग लगा दी गयी और ब्राह्मणों ने हर्ष के भी प्राण लेने का प्रयत्न किया। इस पर सम्राट् ने ५०० ब्राह्मणों का देश निकाला कर दिया; परन्तु उनके अन्य अनुयायियों को क्षमा दे दी।

महा-मोक्ष-परिषद्—हर्ष के धर्म कृत्यों में उसकी प्रयाग की पंचवर्षीय योजना विशेष उल्लेखनीय है। ५-५ वर्ष पर वह प्रयाग में गङ्गा यमुना संगम के प्रशस्त सिक्का कोण में महामोक्ष-परिषद् का अधिवेशन करता था। उसका अधिवेशन समीप होने के कारण उसने चीनी यात्री को भी शामिल होने को निमन्त्रित किया। बलभि के ध्रुवभट, कामरूप के कुमार राज-भास्कर वर्मन् भी उसमें शामिल हुए। इसके अतिरिक्त श्रमणों, ब्राह्मणों, निर्ग्रन्थों और

अनेक मतावलम्बियों का प्रायः ५ लाख जन संमुदाय वहाँ उपस्थित हुआ । ७५ दिनों तक हर्ष वहाँ दान कर्म करता रहा, जिसमें विभिन्न धर्मों ने अपना अपना भाग पाया । कन्नौज की ही भाँति यहाँ का कार्यक्रम भी जलूस के साथ ही आरम्भ हुआ । पहले दिन बुद्ध की प्रतिमा पधरायी गयी और उस पर अनन्त धन भेंट चढ़ा । दूसरे दिन आदित्यदेव और तीसरे दिन ईश्वर देव (शिव) की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं और उन पर पहले दिन का आधा द्रव्य चढ़ाया गया । चौथे दिन बौद्ध भिक्षुओं को दान बँटे और अगले बीस दिनों में ब्राह्मणों ने हर्ष का दान ग्रहण किया फिर १० दिनों तक जैनों और विरोधा धर्मावलम्बियों को हर्ष ने दान बाँटा । अगले १० दिन यादवों को दान मिला और प्रायः एक मास तक दरिद्रों, अनाथों आदि को द्रव्य-वसन बँटे । अब तक हर्ष के रत्न समाप्त हो चुके थे और उसने अपने शरीर के वस्त्र-भूषण तक दे डाले । अन्त में सम्भवतः राज्यश्री से वस्त्र माँग कर उसे अपना तन ढँकना पड़ा ।

परन्तु स्वाभाविक ही इतिहासकार पूछेंगे यह दान-ताण्डव क्यों ? सारलों से प्रजा को कमायी और सौदागरों के व्यापार से जुटी हुई आय का परिणाम क्या यही उच्छृङ्खल अनुत्तरदायी दान-प्रदर्शन था ? ५ वर्षों से निरन्तर साम्राज्य के विविध प्रान्तों से स्वतन्त्र राज्यों की लूट तथा अधीनस्थ सामन्तों की भेंट से जो अनन्त धन-राशि एकत्र हुई थी उसका यही सदुपयोग था । जिस राजकोष को व्यक्तिगत औदार्य का साधन बना कर हर्ष ने रिक्त कर दिया, उस पर क्या प्रजा का कोई अधिकार न था ! स्पष्ट है कि हर्ष का शासन निरंकुश था । पोनो के नेतृत्व में कन्नौज के जिन मन्त्रियों और राज-नीतिज्ञों ने मौखरियों का राजमुकुट प्रदान किया था, निश्चय उनके मुख में जिह्वा न थी जिससे वे इस अनधिकारी असंयत वितरण का प्रतिवाद कर सकते । अशोक के शासन काल के अन्त में केवल इसी प्रकार की एक घटना का परिणाम यह हुआ कि संभवतः उसे अपने असीम साम्राज्य की गद्दी तक छोजनी पड़ी थी । पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार वो जो उसने धन देने का संकल्प

किया था, उसके मन्त्रिप्रवर राघवगुप्त ने युवराज सम्प्रति की सहायता से रोक दिया। हर्ष का आचरण और उसके मन्त्रियों की चुप्पी सर्वथा अक्षम्य है। शुक्र नीति में बिना मन्त्रिपरिषद् की अनुमति के एक पैसे के व्यक्तिगत व्यय करने वाले राजा को जो चोर कहा गया है उस पर हर्ष का यह कृत्य विकट व्यंग्य करता है। जिस महायान में हर्ष दीक्षित हुआ था उसने हीनयान को परम्परा को स्वार्थ वृत्तिक होने से 'हीन' अथवा ओछा कह कर त्याग दिया था और अपने सिद्धान्तों को जन कल्याण की प्रसिद्ध के तथा भवसागर पार करने में सारे प्राणियों के भार वहन में समर्थ 'महायान' कह कर घोषित किया था और जिस महायान की चीनी यात्री ने कन्नौज में स्तुति गायी थी, उसी महायान के प्रांगण में स्वार्थ साधक इस दान महायज्ञ का नग्न नृत्य हुआ—नियति की यह कैसी विडम्बना थी ? भारत के इतिहास में इससे पूर्व किसी राजा ने अपने राजकोष का इतना अनुत्तरदायी उपयोग न किया। यह सब क्यों ? दो कारणों से। प्रथम तो यह कि विदेशी चीनी यात्री देखे कि हर्ष कितना मुक्तहस्त है, उसका औदार्य कितना असंयत और कल्याणकर है। परन्तु सम्भवतः उसे कोई यह न बता सका कि जनपद की जनता का कष्टकर श्रम किस प्रकार इस दान व्यवहार से प्रभावित होता है। दूसरा कारण स्पष्टतः प्रमाणतः यह था कि हर्ष इस दान वृत्ति से सद्गति प्राप्त करे। सामूहिक श्रम के आधार से एकत्रित धन का इस कारण यह व्यय व्यक्तिगत लाभ के अर्थ हुआ। और यह आचरण प्रत्येक ५ वर्ष बाद सम्पन्न होता था। प्रत्येक ५ वर्ष बाद राजकोष रिक्त हो जाता था। देश के राजमार्ग अरक्षित थे और दिन दहाड़े उन पर डाँके पड़ते थे। सम्राट का मित्र चीनी यात्री यूआन-च्वांग स्वयं डाकुओं की असद् वृत्ति का शिकार बना। जो डाकू सम्भवतः कुछ सीमा तक हर्ष को दान वृत्ति के भी परिणाम थे। चीनी यात्री साम्राज्य की रक्षा के बावजूद भी दो-दो बार लुट गया और एक बार तो बड़ी कठिनायी से उसकी जान बची। क्या यह आवश्यक न था कि इस औदार्य प्रदर्शन असंयत दान वितरण के बदले साम्राज्य के राजपथों की रक्षा की जाय और शासन

में पुलिस की सुव्यवस्था हो। गुप्त सम्राटों ने अपने विद्या-व्यसन के बावजूद भी इस प्रकार का अनुत्तरदायी आचरण न किया और उनके साम्राज्य में, जैसा कवि लिखता है, 'मार्ग में अर्ध-सुप्त पड़ी नारियों के वस्त्र को छेड़ने का पबन तक दुःसाहस न कर सकता था।' कुछ आश्चर्य नहीं यदि इस अपव्यय और अनुत्तरदायी धनोपयोग के परिणाम में ही हर्ष की मृत्यु के महा-मोक्ष-परिषद् के बाद चीनी यात्री जो कुछ काल पहले से ही स्वदेश लौटने के लिए उत्सुक हो उठा था चीन की ओर चल पड़ा। हर्ष ने स्वयं दूर तक साथ जाकर उसे पहुँचाया और उत्तर भारत के एक राजा उदित को उसकी रक्षा का भार सौंपा। चीनी यात्री घोड़ों पर अनेक मूर्तियाँ और ग्रन्थों की हस्त-लिपियाँ लादकर जिस मार्ग से आया था, उसी स्थल के मार्ग से चीन को लौट गया। साथ ही उसका विशाल साम्राज्य सहसा काँप कर गिर पड़ा।

हर्ष का विद्या-व्यसन—हर्ष के सम्बन्ध में एक बात अवश्य महत्त्व की है कि भारत के अन्य विशालकाय सम्राटों की ही भाँति उसने भी विद्वानों के साथ अपना सम्पर्क रखना और स्वयं विद्या व्यसनी बना रखा। उसकी राज-सभा में अनेक विद्वान् थे और उनकी सरक्षा का सारा भार हर्ष के ऊपर था। गूढ़ान-च्चांग ने जो लिखा है कि राज्य को अपनी भूमि को न्याय का चौथा भाग भेधावियों को पुरस्कृत करने में खर्च होता है, महत्त्व का है। हुईली के वृत्तांत से भी स्पष्ट है कि हर्ष विद्वानों का आदर करता था और प्रसिद्ध बौद्ध पंडित जयसेन को तो उसने उरुसा के ८० बड़े नगरों की आय तक दे डाली थी। यद्यपि उस निरीह दार्शनिक ने दान लेने से सर्वथा इन्कार कर दिया। बौद्ध विद्या का केन्द्र उस काल नालन्द था। उसके विहारों को भी हर्ष ने पर्याप्त दान दिये और उसका वह महान् सरत्तक था। गूढ़ान-च्चांग के वृत्तान्त से प्रमाणित है कि वह स्वयं वहाँ सालों रहा था और उसके विस्तृत कार्य क्रम में प्रभूत भाग लिया था। वहाँ विद्यालय के अनेक भवनों में बहुसंख्यक बौद्ध विद्वानों का निवास था जिनकी भेधा से लाभ उठाने के लिए भारत और पूर्वी एशिया के सुदूर प्रान्तों से विद्यार्थी आते थे।

आरम्भ के विषयों में विविधता थी। यद्यपि सद्धर्म के विचारों तथा दार्शनिक दृष्टिकोण की वहाँ प्रमुखता थी। नालन्द विश्वविद्यालय का उत्कर्ष हर्ष के शासन-काल के गौरव का विषय हो सकता है। जिन कवियों का हर्ष की राजसभा में निवास था, वे बाणभट्ट, मयूर, तथा मातङ्ग-दिवाकर थे। इनमें से बाणभट्ट अपने हर्षचरित, कादम्बरी, चण्डीशतक आदि से और मयूर अपने सूर्य-शतक से प्रसिद्ध हो गये हैं। मयूर बाणभट्ट का सम्बन्धी था।

विद्वानों और कवियों की प्रतिष्ठा और संरक्षा के अतिरिक्त हर्ष स्वयं भी कवि और नाटककार था। वह नागानन्द, प्रियदर्शिका और रत्नावली का नाटककार माना जाता है। यद्यपि कुछ लोगों ने प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में हर्ष की कवि शक्ति में सन्देह किया है और इन नाटकों का सही रचयिता बाण अथवा धावक को माना है। इसमें सन्देह नहीं कि ११वीं सदी के कश्मीरी समीक्षक मम्मट तथा १७वीं सदी के कई काव्य-जिज्ञासुओं ने हर्ष की प्रजनन मेधा को अस्वीकार कर धावक को उसके नाटकों का वास्तविक प्रणेता माना है परन्तु हर्ष की कृतियों के उस प्राचीन काल के समर्थकों की भी संख्या कम नहीं है। उनमें ११वीं सदी के सोड्डल और १२वीं सदी के गीत-गोविन्द के प्रणेता जयदेव मुख्य हैं। यद्यपि राजाओं का अपने सरंक्षित कवियों द्वारा अपने काव्य का संशोधन कराना भारतीय इतिहास में अनजाना नहीं है, फिर भी ऐसे राजाओं की संख्या भी पर्याप्त रही है जिन्होंने साहित्य का सक्रिय निर्माण किया हो। समुद्रगुप्त, भोज आदि इसी वर्ग के कुछ राजा हो गये हैं। अतः, यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि बाण मयूर अथवा धावक ने हर्ष की कृतियों को शुद्ध कर दिया हो; परन्तु उसका ऊपर के नाटकों का रचयिता न होना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हर्ष के राज्य का श्रुतान्त समाप्त कर चुकने पर उसके व्यक्तित्व पर एक नजर डालना उचित होगा। हर्ष साहसी और वीर था यह उसके प्रारम्भिक

उपक्रमों से प्रगटित है। पिता की मृत्यु के बाद जब भार्ये की मृत्यु हुई, तब थानेश्वर के राजकुल के सामने एक बड़ा संकट आ खड़ा हुआ। उस राज्य का एकमात्र संरक्षक अब हर्ष था। इसी बीच कन्नौज का शासन भी उसके हाथ आया। शत्रुओं की संख्या कुछ कम न थी और शशांक सा दुर्द्धर्ष शत्रु उसके मुकाबले था; परन्तु हर्ष ने दोनों राजकुलों का शासन सम्हाला और शत्रु का भी स्वदेश लौटने को विवश किया। वलभि और कामरूप के नरेशों के साथ सन्धि उसकी उचित परराष्ट्र नीति को प्रकट करती है। चीनी सम्राट् के पास दूत भेजकर उसके साथ मैत्री स्थापित करना भी इसी परराष्ट्र-नीति कुशलता का द्योतक है।

परन्तु निःसन्देह वह पुरुषाकार जो उसने अपने आरम्भ के दिनों में धारणा किया था, उसकी ऊँचाई पिछले दिनों तक वह कायम न रख सका। यह सही है कि जब तक वह जिन्दा रहा, तब तक उसकी शक्ति सन्देहातीत बनी रही और जैसा चीनी यात्री ने लिखा है एक बार शक्ति से साम्राज्य खड़ा कर लेने पर उसे फिर तलवार म्यान से बाहर करने की जरूरत न पड़ी (यद्यपि गंजाम जिले के कोंगोदा के अभिलेख से प्रमाणित है कि अपने शासन के प्रायः अन्त में भी उसको संपूर्ण उड़ीसा के प्रति युद्ध-यात्रा करनी पड़ी थी); फिर भी अन्त काल का उसका अनुत्तरदायी और प्रदर्शन-प्रिय दान-वितरण किसी दृष्टिकोण से न्याय्य नहीं माना जा सकता।

हर्ष कौन था? क्षत्रिय अथवा वैश्य इसका आखिरी निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका और आगे भी उसका निर्णय असंभाव्य प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि चीनी यात्री ने उसे बैस राजपूत लिखा है और अनेक लोग हर्ष को दूर का गुप्तों का वंशज भी मानते हैं और साधारणतः गुप्त राजकुल क्षत्रिय माना जाता है। मौखरि राजकुल भी आम तौर से क्षत्रिय माना जाता है और यह इतिहास सम्मत है कि हर्ष की भगिनी राज्यश्री अन्तिम मौखरि राजा प्रहवर्मेन को व्याही थी। यद्यपि सषोत्तर राजकुलों में प्राचीन भारत में अर्वाचीन की ही भाँति विवाह अवर्ज्य न थे और स्वयं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

ने अपना विवाह तो क्षत्रिय नागकुल में किया था और अपने कन्या प्रभावती गुप्ता का ब्राह्मण वाकाटक कुल में ।

गुप्तों के बाद हर्ष ने ही उत्तर भारत में फिर साम्राज्य कायम किया था और स्कन्दगुप्त के परचात् जब भारतीय रंगमञ्च नेत्रों से ओझल हो जाता है, तब प्रायः डेढ़ सदी बाद पर्दा उठने पर हर्ष का विशाल व्यक्तित्व ही दृष्टि-गोचर होता है । परन्तु निश्चित है कि हर्ष अपने व्यक्तित्व के बावजूद भी शक्तिमान सुव्यवस्थित साम्राज्य अपनी मृत्यु के बाद न छोड़ सका । सम्भवतः इसका एक कारण उसका अपव्यय और परिणामतः आर्थिक संकट था और दूसरा सतति का अभाव ! उसकी मृत्यु के होते ही मन्त्रिअर्जुन ने ६४८ ई० में कन्नौज के सिंहासन पर कब्जा कर लिया । इसी काल हर्ष के ब्राह्मण दौत्य के उत्तर में चीन से दूत-मंडल आया जिसका नेता वॉंग-हुयेन-त्से था । दूत-मंडल को तो अर्जुन ने मारवा डाला; परन्तु उनका नेता किसी प्रकार निकल भागा । फिर तिब्बत के प्रसिद्ध राजा थांग-ब्सान-गम्पो और नेपाली सेना की सहायता से उसने अर्जुन को परास्त कर दिया । अर्जुन को बन्दी कर चीन के सम्राट् के पास भेज दिया गया और हर्ष के उत्तरी प्रान्तों में अराजकता फैल गयी । भारकर वर्मन ने पूर्व में कर्ण सुवर्ण पर अधिकार कर लिया और हर्ष के भिन्न और मगध के सामन्त शासक माधव गुप्त के पुत्र आदित्य सेन ने सम्राटोचित विरुद्ध धारण किये और मगध में स्वतन्त्र होकर अश्वमेध का अनुष्ठान किया । राजपूताना और अवन्ति के गुर्जर तथा कश्मीर के करकोटक अब प्रबल हुए । गुप्तों के प्रायः १५० वर्ष बाद हर्ष का साम्राज्य फूँस की आग की भाँति एकाएक जल उठा था और उसके प्रकाश से उसके शासन काल (६०५-४८ ई०) में जो उत्तर भारत के दिगन्त प्रकाशित हो उठे थे वे उसके बुझ जाने से सदियों के लिए अन्धकार में डूब गये ।

११

पुलकेशिन् द्वितीय

४

जिस समय हर्ष उत्तर में अपने साम्राज्य-पद का विस्तार कर रहा था, जिस समय सुदूर दक्षिण में पल्लवराज नरसिंघवर्मन् प्रथम पल्लवों के गौरव की प्रतिष्ठा कर रहा था, तभी वातापी का चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय पक्षिणापथ में आकाश में सूर्य की भाँति तप रहा था। उसका इन दो असाधारण राजाओं का मध्यवर्ती समकालीन होना निरर्थक नहीं था। एक को उसने अपने विक्रम से मलिन कर दिया, दूसरे की शक्ति से वह स्वयं विपन्न हो गया।

बीजापुर के जिले में बादामी आज भी उस प्राचीन वातापी का स्थानापन्न है जहाँ चालुक्यों का मूलशाखा ने कभी अपनी कीर्ति-पताका पहनाई थी। कहते हैं कि हारीत के अर्थ्यदान के सत्य चालुक्यों का पूर्वज सहसा उसके कमण्डल से निकल पड़ा था। कहते हैं कि ब्रह्मा ने ससार के अराजक विप्लव तथा धर्म-नाश से संतप्त हो कर प्राकृत धर्म स्थापित करने के लिए अपनी हथेली से चालुक्य-वीर को उत्पन्न किया। यह भी कहते हैं कि चालुक्य अयोध्या के क्षत्रिय थे जो कारणवश विन्ध्य पर्वत को लांघ दक्षिण चले गये थे। सत्यासत्य के इस उहापोह में तथ्य को समझना कठन है, फिर भी संभवतः कहा जा सकता है कि चालुक्य उत्तर के क्षत्रिय थे।

कालांतर में कीर्तिवर्मन् ५६७ ई० में वातापी का राजा हुआ। उसने अनेक देश जीते और संभवतः उत्तर की ओर भी धावे मारे। कीर्तिवर्मन् यशस्वी नृपति था; परन्तु अपने प्रिय पुत्र पुलकेशिन् द्वितीय के उत्तराधिकार की वह रक्षा न कर सका। उसके अनुज मंगलराज अथवा मंगलेश ने भतीजों के अधिकार को कुचल कर राजदण्ड स्वयं धारण किया; परन्तु जिस नियति की सहायता से वह स्वयं उत्कर्ष-पथ पर आरूढ़ हुआ उसी नियति की विपरीतगामी प्रगति का वह भी वारण न कर सका और उसके शासन के अन्त में जिस गृह-दाह और राज-प्रासादीय-षड्यन्त्र का आरम्भ हुआ उसमें उसके पुत्र भी प्रनष्ट हो गए।

२

जिस प्रकार सूर्य के निकलने के पहले संसार पर सर्वाधिक अन्धकार छाया रहता है; परन्तु बाल सूर्य उसे छेद कर जगत को आलोकित कर देता है; उसी प्रकार अपने कष्टकर जीवन की तमिस्रा वा अन्त कर यह चालुक्य-सूर्य पुलकेशिन् द्वितीय भी दक्कन के क्षितिज पर धीरे-धीरे उठ चला। राजकुल में जब कोई राजकुमार उपेक्षित अथवा अधिकार-वंचित होता है तब अवमानना का अन्त उसकी उपेक्षा और अधिकार वंचना तक ही सीमित नहीं रहता और प्रायः उसे अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है। परन्तु विपत्तियों से बचकर निकल आने पर वह शोभित धातु का तेज धारण करता है। पुलकेशिन् अपने चाचा मंगलेश के षड्यन्त्र और क्रोध से जितना ही तपः, विपत्तियों से जितना ही अधिक वह अभिभूत हुआ, उसका प्रताप उतना ही प्रखर हुआ, उसका पराक्रम उतना ही असाधारण।

पुलकेशिन् मंगलेश की सिरजी कठिनाइयों से उसकी मृत्यु के पश्चात् तो मुक्त हो गया; परन्तु गृहदाह की कठिन परिस्थितियों फिर भी मुँह बाये रहीं और इन परिस्थितियों ने बाहरी राष्ट्रों की प्रसर-लिप्सा जो प्रभूत जगा दी, वह भगवान् ही। चालुक्य राजमुकुट की अभिप्राप्ति के अर्थ जो संघर्ष हुआ

उसने उस राज्य को बाहरी शक्तियों द्वारा प्रसूत आवर्त में डाल दिया। जिन राष्ट्रों को पुलकेशिन् के पूर्व गामियों ने अभिभूत कर रक्खा था वे अब सर पाकर अब सवेष्ट हो गए। परन्तु पुलकेशिन् द्वितीय ने दृढ़ता, साहस, और सफलता के साथ इस शत्रुओं के बवंडर का सामना किया। भीमा के पार से अप्पाइक और गोविन्द ने पहले उस पर आक्रमण किया। अपने पराक्रम से पुलकेशिन् ने उसे निष्फल कर दिया फिर वह स्वयं अपने को पर्याप्त सशक्त पा विजय के लिए निकला। उत्तर कनाड में कदम्बों की राजधानी वनवासी पर सहसा उसने अधिकार कर लिया। गंगवाड़ी के गंगों का राजा दुर्विनीत उससे आक्रान्त होकर शरणा का प्रार्थी हुआ। मालावार (?) के अनूप भी संवस्त हो उठे। पुलकेशिन् अब उत्तर कोंकण की ओर बढ़ा और मौर्यों के “पश्चिम समुद्र के गौरव” पुरी पर भी उसने कब्जा कर लिया। इसी दिग्विजय के क्रम में वह गुजरात की ओर भी बढ़ा और दक्षिणी गुजरात के लाठों को जीत लिया। उसके विक्रम से मालव और गुर्जर भी अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे। अब तक यह चालुक्य-सूर्य दक्कन के आकाश की मूर्धा पर चढ़ चुका था और उसकी तेज विन्ध्याचल की श्रेणी को लौघ कर उत्तरापथ को भी आलोकित करने लगा था। गुजरात कभी उत्तरापथ के अनन्य स्वामी थानेश्वर और कन्नौज के हर्षवर्धन का भी लक्ष्य रह चुका था। हर्ष ने बलभी के राजा ध्रुवभट्ट अथवा ध्रुवसेन द्वितीय को परास्त कर उसका राज्य छीन लिया था। और ध्रुवभट्ट को विवश हो कर भड़ोच के दह द्वितीय की शरणा लेनी पड़ी; यद्यपि उसने शीघ्र अपने पैतृक सिंहासन पर फिर अधिकार कर लिया। पुलकेशिन् द्वितीय को सख्त न हुआ कि उत्तरापथ का राजा उसके “अंकगा सत्त्व” पर अधिकार करे अथवा दक्षिण की राजनीति में हस्तक्षेप करे। जिस प्रकार हर्ष अपने को “सकल उत्तरापथ नाथ” कहता था; उसी प्रकार पुलकेशिन् द्वितीय भी अपने को दक्षिणापथ का स्वामी मानता था। पुलकेशिन् की हर्षवर्धन से आखिर सुठभेद हो ही गई। युद्धान-व्यांग लिखता है यद्यपि हर्ष ने स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व किया,

पर पुलकेशिन से उसे परास्त होना पड़ा । और चीनी यात्री के इस वक्तव्य की आत्तरशः पुष्टि ऐहोल-येगुडी के पुलकेशिन् द्वितीय के प्रशस्ति लेख से होती है । यह लेख शक सम्मत ५५६ = ६३४ ई० का है और इसमें लिखा है कि जिस वर्ष के पादारविन्द अपरिमित सामन्त सेना की मुकुटमणियों से प्रसूत किरणों से प्रकाशित रहते थे, वही पुलकेशिन द्वारा मारे अपने हाथियों से ढके युद्धक्षेत्र की वीभत्सता को देख भय-विगलित हो उठा—

अपरिमित विभूतिस्फोत सामन्त सेना --

मुकुटमणि मयूखा क्रान्त पादारविन्दः

युधिपतित गजेन्द्रानी कवीभत्स भूतो

भय विगलित हर्षो येन चाकारि हर्षः ॥

पुलकेशिन् द्वितीय की हर्ष के विरुद्ध यह विजय विशेष महत्त्व की हो उठती है, जब हम चीनी यात्री द्वारा प्रस्तुत आधार पर उत्तरापथ के स्वामी की सैन्य संख्या पर विचार करते हैं । वह लिखता है कि एक समय हर्ष के पास ६०,००० गज सेना और १००,००० अश्व सेना थी । इस विजय के परिणाम-स्वरूप पुलकेशिन् नर्वदा के दक्षिण का निर्विवाद अधिपति बन गया । अब वह तीनों महाराष्ट्रों और नब्बे हजार ग्रामों का स्वामी था । हर्ष-विजय के पश्चात् उसने कुछ और भी देश जीते । उसकी सेना के पहुँचते ही आक्रान्त होकर कोशल (महाकोशल) और कलिंग के नरेश संत्रस्त हो उठे और उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया । पिष्टपुर के दुर्ग पर भी उसका अधिकार हो गया और दक्कन के अनन्य स्वामी होने के नाते उसने परमेश्वर, श्री पृथ्वीवल्लभ-सत्याश्रय का विरुद्ध धारण किया । अब तक उसके साम्राज्य की सीमाएँ अत्यन्त विस्तृत हो गई थीं और यातायात की असुविधाओं के उस काल में दूर की वातापी से उसकी सँभाल करनी कठिन हो गई । इस कारण उसने पूर्वी प्रान्तों के शासन का भार अपने अनुज कुब्ज-विष्णुवर्धन-विषमसिद्धि पर डाला । विष्णुवर्धन ने भी अपने शासन के

प्रान्तों को अपनी विजयों से विस्तृत किया; परन्तु उसने अपने आता के साथ सद्भाव बनाए रखा और वातापी के आधिपत्य से वह स्वतंत्र न हुआ। परन्तु उसका पुत्र और उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम अवसर पाकर कालान्तर में स्वतंत्र हो गया और अपनी राजधानी वेंगा में उसने पूर्वी चालुक्यों के एक नये राजकुल को नीव डाली। अपने उत्तर पूर्वी प्रान्तों के शासन की व्यवस्था कर चुकने के बाद पुलकेशिन् द्वितीय अब दक्षिण की ओर मुखा। दक्षिण में काञ्ची (कान्जीवरम) में पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन प्रथम तब राज कर रहा था। पुलकेशिन् द्वितीय ने काञ्ची पर धावा मारा और उसे खतरे में डाल दिया। जब पुलकेशिन् के नेतृत्व में चालुक्य सेना कावेरी पार कर गई, तब चोल पारण्ड्य और केरल नरेश अपनी पारस्परिक शत्रुता भुला इस समान विपत्ति के भय से सय-आवद्ध हुए। पुलकेशिन् द्वितीय वातापी को लौट गया।

पुलकेशिन् द्वितीय का अन्त काल सुख से न बीत सका। जितनी शीघ्रता के साथ उसके गौरव का उदय हुआ था, उतनी ही तीव्रता से उसका अवसान भी हो चला। काञ्ची के सिंहासन पर नरसिंह वर्मन प्रथम विराजमान था और पल्लव-शक्ति उसके नेतृत्व में उत्कर्ष की सफल मजिलें तय कर रही थी। उसके चालुक्य राज के साथ अनेक मोर्चे हुए और ६४२ ई० में उसने चालुक्य राजधानी वातापी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। पराक्रमी पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने कुल के गौरव तथा राजधानी की रक्षा करते हुए वीरगति पाई। चालुक्यों का सूर्य अब अपराह्न के आकाश में उतर चला था। परन्तु वह सर्वथा अस्त न हो सका और पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम सत्याश्रय ने अपने विक्रम से पैतृक राज्य को पल्लवों से मुक्त कर लिया। उसने भी पिता की ही भाँति काञ्ची पर अधिकार कर और नरसिंह वर्मन प्रथम, महेन्द्र वर्मन द्वितीय तथा परमेश्वर वर्मन को परास्त कर अपने पिता की अवमानना और बंध का प्रतिशोध लिया। निरक्षर ही

द्वितीय पुत्र होता हुआ भी विक्रमादित्य पुलकेशिन् द्वितीय का “प्रिय-तनय” था।

पुलकेशिन् द्वितीय की परराष्ट्र नीति अत्यन्त सशक्त और कुशल थी जो उसकी विजयों से प्रमाणित है। उत्तर के सम्राट् हर्ष की विजय पर उसने अपने साम्राज्य की उत्तरी सीमा नर्मदा तक पहुँचा दी थी। उसका यश भारत के बाहर के देशों तक जा पहुँचा था और अरब लेखक तबरी लिखता है कि उसकी ईरानी नरेश खुसरू द्वितीय के साथ मैत्री थी और उसने ६२५ ई० में अपने ईरानी मित्र के पास दूत द्वारा पत्र और भेंट भेजी थी। इसके उत्तर में फारस के बादशाह ने भी चालुक्य नरेश के पास अपने दूत भेजे और उस ईरानी दौत्य का अफ़्ग़ान अजन्ता के दरोग़हों के एक चित्र में हुआ बताया जाता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि चीनी यात्री युआन च्वाँग पुलकेशिन् द्वितीय का समसामयिक था। ६४१ ई० के लगभग उसने चालुक्य साम्राज्य में भ्रमण किया और उसका कुछ वृत्तान्त लिखा। वह लिखता है कि ‘महाराष्ट्र भूमि बड़ी उर्वरा है, समय से जोती-बोई जाती है और प्रभूत अन्न उत्पन्न करती है। महाराष्ट्र की जनता दृढ़ और युद्ध-प्रिय है। उपकारों के प्रति वृत्तज्ञ और अपकारों के प्रति प्रतिशोध प्रिय है। शरणाथियों के लिए वह बलिदान करने को तत्पर रहती है और आपमान होने पर रक्त-पिपासु हो जाती है। उसके सैनिक नेता सेना का संचालन करते समय युद्ध-भूमि में मद्यपान करके जाते हैं और अपने गजों को भी मद्योन्मत्त कर लेते हैं। महाराष्ट्रों का क्षत्रिय राजा पुलकेशिन् पड़ोसी शक्तियों को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखता है, उसके साम्राज्य की सीमाएँ विस्तृत हैं और उसके सामन्त लगन के साथ उसकी सेवा करते हैं.....बौद्ध विहार उस देश में सौ से ऊपर हैं और हीनयानियों तथा महायानियों की सम्मिलित संख्या प्रायः ५००० से ऊपर है। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप हैं जो पूर्ववर्ती ४ बुद्धों के स्मारक हैं। उनके अतिरिक्त पत्थर और ईंटों से निर्मित संख्या गणनातीत

हैं।" इस वृत्तान्त से प्रकट है कि पुलकेशिन् स्वयं ब्राह्मण धर्मावलम्बी होता हुआ भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु था। जैनों के प्रति भी उसकी उदार बुद्धि थी और यह महत्त्व की बात है कि ऐहोल की प्रशस्ति का रच-यिता रविकीर्ति, जिसने जिनेन्द्र का एक मन्दिर भी बनवाया था, पुलकेशिन् द्वितीय का प्रसाद लब्ध कवि था। पुलकेशिन् द्वितीय के घटना-बहुल शासन का अन्त ६४२ ई० में हुआ।

१२

नरसिंह वर्मन् प्रथम

१

नरसिंह वर्मन् प्रथम पुलकेशिन् द्वितीय और हर्षवर्धन शीलादित्य दोनों का समकालीन था। वह सातवीं सदी ईसवी के द्वितीय चरण के आरम्भ में गद्दी पर बैठा और ६४५ ई० तक प्रायः बीस वर्ष के अपने सक्रिय शासन में इसने प्रभूत कीर्ति पाई। पल्लव राजकुल का वह महान् नृपति था और उसने उस कुल को सुदूर दक्षिण में साम्राज्य की प्रतिष्ठा दी।

पल्लवों का मूल अन्धकार में है और उसकी समरया भारतीय इतिहास में काफी पेचीदा है। दक्षिण के पारस्परिक राज्यों में उसका परिगणन न होने और पल्लवों के साथ उनके कुल-नाम की समानता होने के कारण कुछ विद्वानों ने उन्हें ईरानी पल्लव अथवा पार्थव माना है; यद्यपि इस कल्पना का प्रमाणित आधार नहीं है। डाक्टर जायसवाल उनको शुद्ध ब्राह्मण अभिजात वर्गीय मानते हैं जिन्होंने शस्त्र का जीवन अपना लिया था और जो उत्तर के वाकाटक कुल की शाखा थे। इस मत की पुष्टि उन अनुश्रुतियों से भी होती है जिनमें उनका सम्बन्ध द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा से स्थापित किया गया है। परन्तु इसके विरुद्ध और उनके क्षत्रिय होने के पक्ष में एक सबल प्रमाण कदम्ब-कुल के ब्राह्मण प्रतिष्ठाता मयूर शर्मन् का एक उद्गार है। पल्लव अश्वारोही के अनुचित और इस आचरण से कुपित होकर मयूर

शर्मन् ने कहा था कि कलियुग में ब्राह्मण की यह अधोगति हो गई कि क्षत्रिय उससे बलवान होकर उसका अपमान करने लगा। इससे, विशेष कर यह वक्तव्य प्राचीन कालीन अभिलेख का बाक्यांश होने से, पल्लवों का क्षत्रिय-कुलीय होना सिद्ध है।

पल्लव राजकुल तीसरी चौथी सदियों में आरम्भ होकर अनेक उच्चावच परिस्थितियों में महेन्द्र वर्मन् प्रथम के शासन काल में ख्यातिलब्ध हुआ। परन्तु उस नृपति को अनेक युद्ध करने पड़े। पल्लवों और चालुक्यों में जो दीर्घकालिक संघर्ष चलता रहा था उसका आरम्भ इसी महेन्द्र वर्मन् प्रथम के शासन काल में हुआ था। पुलकेशिन् द्वितीय ने काशी तक धावे मारे और परास्त पल्लव राज की चालुक्य नरेश की सेना द्वारा “उठाई धूल से आच्छन्न काशी के प्राचीरों के पीछे अपने आक्रान्त विक्रम को छिपाना पड़ा।”

२

नरसिंह वर्मन् प्रथम जब काशी की गद्दी पर बैठा तब भी चालुक्यों के साथ संघर्ष जारी था। पुलकेशिन् के धावे अब भी हो रहे थे और एक बार तो वह पल्लव राजधानी की प्राचीरों के नीचे सिंहद्वार तक पहुँच गए। परन्तु नरसिंह वर्मन् की दृढ़ता, साहस और शीघ्र ने अपनी राजधानी की रक्षा की और पुलकेशिन् को विफल मनोरथ हो लौटना पड़ा। नरसिंह वर्मन् शत्रु के लौट जाने पर चुप बैठ रहने वाला व्यक्ति न था और शीघ्र उसने अपने सेनापति सिद्ध तोंड की अध्यक्षता में वातापी के विरुद्ध एक प्रबल सेना भेजी। तोंड, जिसका उपनाम परन्जोति था, अपनी सेना लिए तीव्र गति से वातापी जा पहुँचा और ६०२ ई० में उसने चालुक्य राजधानी पर विकट आक्रमण किया। यह आक्रमण इतना आकस्मिक और अप्रत्याशित था कि पुलकेशिन् द्वितीय कुछ न कर सका। परन्तु उस निर्भीक पराक्रमी ने अपनी राजधानी की रक्षा में लड़ते हुए अपने प्राण उत्सर्ग कर दिए। अगले तेरह वर्ष चालुक्य शक्ति पर पल्लवों का राहु आरुढ़ रहा। नरसिंह वर्मन् प्रथम ने इस पर पल्लव

आधिपत्य स्थापित कर लिया। अपनी विजय के उपलक्ष में उसने 'वातापिकोंड' का विरुद्ध धारण किया। वातापी से प्राप्त एक खंडित अभिलेख से नरसिंह वर्मन् प्रथम के एक दूसरे विरुद्ध 'महामल्ल' का भी पता चलता है।

इस काल सिंहल के द्वीप में राज्य के लिए गृहकलह चल रहा था। उस राज्य का एक दावादार मानवम्म था जिसने नरसिंह वर्मन् के यहाँ शरण ली थी। उसने पल्लव राज के अनेक कार्य भी सम्पादित कर उसकी कृतज्ञता भी प्राप्त कर ली थी। उसके पक्ष के समर्थन के अर्थ नरसिंह वर्मन् ने सिंहल पर अपने जहाजी बेड़ों से दो बार आक्रमण किया। पहला आक्रमण प्रायः निष्फल हुआ और उससे कोई चिरकालिक परिणाम न निकला और दूसरी बार फिर उस द्वीप की विजय के लिए महावलिपुरम के पत्तन से जहाजी-बेड़ा भेजा गया। इस बार के आक्रमण से मानवम्म का कार्य सधा और इस झुंझले से उस देश की प्रजा पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह उसे रामचन्द्र द्वारा लंका विजय की भोंति स्मरण रहा।

नरसिंह वर्मन् प्रथम पराक्रमी योधा तथा विजेता होने के अतिरिक्त वास्तु-निर्माता भी था। अपने निर्माण कार्य के सम्बन्ध में उसकी ख्याति उसकी विजयों से किसी प्रकार घट कर नहीं। त्रिचनापली और पुदुकोटा के अनेक दरीगृह-मन्दिरों के निर्माण का श्रेय उसी को दिया जाता है। ये मन्दिर अधिकतर महेंद्रवर्मन् प्रथम के मन्दिरों के अनुरूप हैं। अन्तर इतना है कि नरसिंह वर्मन् प्रथम के मन्दिरों पर अपेक्षाकृत अलंकरण अधिक है और उनके स्तम्भ सुन्दरतर हैं तथा उनका आंगिक अनुपात भी विशिष्ट है। नरसिंह वर्मन् प्रथम ने महावलिपुरम, अथवा महामल्लपुरम् का नगर भी बसाया और इससे मन्दिरों से विभूषित किया। उसका बनबाया धर्मराज रथ प्रसिद्ध 'सात पगोडा' के मन्दिरों में से एक है।

नरसिंह वर्मन् प्रथम के शासन काल में चीनी यात्री युवान-च्वांग

के ऊपर एक प्रकार का कर लगता था। इसी प्रकार विवाद पर भी जिसे 'उलवियकूलि' कहते थे। कुम्हार की आय पर 'उरेडू' पासी और गबरियों और दुकानों तथा दलाली पर तट्टुकायम, नमक, अच्छी गाय और अच्छे बैल पर 'तिरुयुगक्काणम' नामक कर लगते थे। इसी प्रकार मण्डी में बिकने वाली अन्न भरी टोकरियों पर 'वत्तिनाक्कि' नामक कर लगता था। इन विविध प्रकार के करों से स्पष्ट है कि राज्य आय के सभी साधनों पर भरपूर दृष्टि रखता था।

अमोघवर्ष प्रथम

१

मान्यखेट के राष्ट्रकूट दक्षिण भारत में एक बार अत्यन्त सबल हो उठे थे और प्रायः २ सदियों तक दक्कन की भूमि में उनका प्रभुत्व रहा था। ये करणाटक देश के कन्नड़ बोलने वाले राजपूत थे और उनका आरम्भ आठवीं सदी के मध्य कभी हुआ था। कालान्तर में अमोघवर्ष प्रथम मान्यखेट राष्ट्रकूटों का राजा हुआ। उससे पहले ही राष्ट्रकूट राजकुल साम्राज्यपदीय हो चुका था। उसके दोनों पूर्वज पिता गोविन्द तृतीय और पितामह ध्रुव निरुयम यशस्वी सम्राट् थे। ध्रुव निरुयम धारावर्ष ने तो अनेक प्रदेश जीते थे। दक्कन के अनेक राजाओं को परास्त कर सुदूर दक्षिण की पल्लव राजधानी काञ्ची तक को उसने सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर तो दक्षिण में उसने अपने शक्ति से पल्लवों को अस्थिरचित्त रक्खा दूसरी ओर प्रतिहारों को चैन न लेने दिया और पालों तक को उससे हार माननी पड़ी थी। उज्जैन के प्रतीहार नरेश वत्सराज को अपनी राजधानी छोड़ राजपूताना की मरुभूमि में शरण लेनी पड़ी। ध्रुव मालवा लौघता इन्द्रायुध के शासनकाल में गंगा यमुना के द्वाब तक जा पहुँचा था। द्वाब से भागते हुए गौड़ाधिपति विमपाल के छत्र को छीनकर उसने अपने राज्य लक्ष्मणों में इस विजय के स्मारक स्वरूप गंगा यमुना की आकृतियाँ धारण कीं।

उसके पुत्र गोविन्द तृतीय जातुङ्ग ने भी कुछ विजय की। काश्मी के पल्लवपति दन्ति वरमन को परास्त कर वह शीघ्रता से बेंगो के पूर्वी चालुक्य नृपति विजयादित्य द्वितीय की ओर मुखा और उस आत्मसमर्पण करने की बाध्य किया। गोविन्द तृतीय ने भी पिता की ही भाँति उत्तर की ओर आक्रमण किये। इस काल उत्तर भारत में कन्नोज की लक्ष्मा के लिए तीन प्रबल राजकुलों में कशमकश चल रही थी। उनमें से एक तो उत्तर पश्चिम के प्रतीहार थे। दूसरे पूर्व के पाल और तीसरे दक्षिण के राष्ट्रकूट नागभट द्वितीय के। पिता वत्सराज को गोविन्द के पिता ध्रुव ने उज्जयिनी से भगा दिया था। नागभट ने ८०६ ई० के आसपास मालवा के अपने पैतृक राज पर फिर से अधिकार करने के लिए प्रयत्न शुरू किये। परन्तु गोविन्द की साक्ष्यता और सावधानी से वह कृतकामे न हो सका। गोविन्द के उत्तरा आक्रमण में व्यस्त रहने के कारण काश्मी गंगवाडी और केरल के राजाओं ने उसके विरुद्ध जो संघ बना लिया था उसकी सूचना पा राष्ट्रकूट सहसा दक्षिण की ओर घूम पड़ा और उसने उस छिन्न-भिन्न कर दिया।

५

इसी गोविन्द तृतीय का पुत्र अमोघवर्ष प्रथम था जिसमें हम उसके विरुद्ध मात्र स जानते हैं। इस पृष्ठभूमि से देखने पर अमोघवर्ष का महत्ता प्रस्तात्मक हो उठेगा। वस्तुतः उसके चरित का चयन उसका शक्ति अथवा विजयों के विचार से नहीं किया गया है। परन्तु चूँकि वह राष्ट्रकूट साम्राज्य के चरम उत्कर्ष और अवसान के सन्धि काल में हुआ था और उसका शासन काल अनेक कारणों से महत्वपूर्ण था, उसका साक्ष्य वृत्तान्त लिखना उचित समझा गया।

८५४ ई० के आरम्भ में जब अमोघवर्ष का प्रबल राष्ट्रकूट राज्य का उत्तराधिकार मिला तब वह केवल बालक था और उसकी अल्पायु से आशंकित होकर गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के कर्कराज—सुवर्णवर्ष को गोविन्द

तृतीय ने अपनी मृत्यु के पूर्व ही उसका अभिभावक नियुक्त किया था। राष्ट्र-कूटों का संघर्ष समसामयिक अनेक राजकुलों से चल रहा था और कुछ आश्चर्य न था यदि स्वतन्त्र राष्ट्रों का आक्रमण अमोघवर्ष पर हो जाता अथवा राष्ट्रकूटों के अनेक अधीनस्थ सामन्त कुल ही स्वतन्त्र हो जाने के प्रयत्न करते। हुआ भी वही जिसकी गोविन्द को आशङ्का थी।

कुछ काल तक तो शासन कर्कराज के तत्वावधान में शान्तिपूर्वक चला; परन्तु मन्त्रियों के षड्यन्त्र और कृतघ्नता से अन्तःपुर में ही प्रहकलह उठ खड़े हुए। सामन्त राजा स्वतन्त्रता के स्वप्न सही करने के लिए सजग हुए और गंगवादी के नृपति ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। वेगा के पूर्वी चालुक्य राज द्वितीय ने तो साहस की हद कर दी जब गोविन्द द्वारा अपने पराभव के प्रतिशोध के अर्थ उसने राष्ट्रकूटों पर एकाएक हमला किया। इस प्रकार देश में इतनी अराजकता फैली, सीमा प्रान्त इस प्रकार लुट चले कि परिस्थिति अत्यन्त भयावह हो उठी और अमोघवर्ष को बाध्य होकर सिंहासन छोड़ना पड़ा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर्कराज की सहायता से अमोघवर्ष को उसका पैतृक राज्य फिर से प्राप्त हो गया और वह ८२१ ई० के पूर्व ही राष्ट्रकूट गद्दी पर फिर बैठा। परन्तु वह अब भी अल्पायु था और इस कारण उसका राज्य अब भी परम्परागत शत्रुओं के आक्रमण का केन्द्र बना रहा। इसमें सन्देह नहीं कि अमोघवर्ष ने कुछ सतर्कता दिखाई और शक सम्बत् ८८८ (८६८ ई०) के सिसर (धारवाड जिला) के अभिलेख से प्रमाणित है कि वेगी के चालुक्य नृपति को उसके सामने झुकना पड़ा। परन्तु यह घटना सम्भवतः उससे शासन के पिछले काल में घटी होगी, जब विजयादित्य द्वितीय मर चुका था और विजयादित्य तृतीय गुणग उसकी गद्दी पर था। क्योंकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि विजयादित्य द्वितीय ने अपनी मृत्यु से पूर्व राष्ट्रकूटों के और भी कुछ प्रदेश जात लिए थे।

अमोघवर्ष ने सम्भवतः अपने शत्रुओं से छुट्टी पाकर साम्राज्य की सुव

शक्ति फिर से प्रतिष्ठित करनी चाही। कहा जाता है कि उसने अंग, वंग, और मगध की विजय की; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह शुद्ध प्रशस्ति-कल्पना है। सही बात तो यह है कि अमोघवर्ष न उत्तर की ओर बढ़ सका और न दक्षिण की ओर। वरन् उसे फिर शत्रुओं की चोट सहनी पड़ी। उसके पितामह ध्रुव निरुयम ने वत्सराज प्रतीहार से मालवा छीन लिया था। गोविन्द ने भी अपने पैतृक की पुनःप्राप्ति में सयत्न नागभट को उज्जयनी की ओर बढ़ने न दिया था; परन्तु प्रतीहार मिहिर भोज ने अपना प्रसर पूरे की ओर पालों द्वारा अवरुद्ध हो जाने के कारण जो मालवा की ओर अपना रुख किया तो अमोघवर्ष कूर्म की भौति अपने अंगों को समेट कर अन्तरस्थ हो रहा। मिहिर भोज ने उज्जयनी के चतुर्दिक नर्मदा तक के प्रदेश रौंद डाले और यदि उसे परास्त होना पड़ा तो अमोघवर्ष के हाथों नहीं, प्रत्युत उसके गुजराती बन्धु ध्रुव द्वितीय के हाथों। जान तो यह पड़ता है कि अमोघवर्ष इतना दुर्बल हो गया था कि अपने सामन्त गंगराज तक को परास्त न कर सका और गंगराज ने विद्रोह कर साम्राज्य का जुआ अपने-कन्धों से उतार फेंका।

अमोघवर्ष प्रथम को रण से विरक्ति थी और यह विरक्ति सम्भवतः इसलिए थी कि वह धर्म साहित्य के प्रति अनुरक्त था। इसके अतिरिक्त उसके परमगुरु जैन जिनसेन ने भी अपने अहिंसक उपदेशों से उसकी क्षमावृत्ति पर आवरण डाल दिया था। वीराचार्य के गणित सारसंग्रह से तो यहाँ तक सूचना मिलती है कि अमोघवर्ष ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को खुलमखुल्ला स्वीकार कर लिया था। परन्तु इसका अर्थ यह न था कि इससे वह अपनी हिन्दू प्रवृत्ति खो बैठा हो। संजन पत्रलेखों में तो उसे महालक्ष्मी का परम उपासक भी कहा गया है। उनमें उसकी तुलना उदारता और दान में विक्रमादित्य से की गयी है और यहाँ तक लिखा है कि जहाँ विक्रमादित्य ने भाई के रक्त से अपने हाथ रँगें थे वहाँ राष्ट्रकूट नृपति सर्वथा निष्पाप और विद्या-व्यसनी था। इसमें सन्देह नहीं कि अमोघवर्ष स्वयं विद्या-व्यसनी

था और विद्वानों का आदर भी करता था। कन्नड़ भाषा में 'कविराज मार्ग' नाम का उसने एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा और सदाचार पर आधारित प्रश्नोत्तर मालिका नाम का उसका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है। प्रश्नोत्तर मालिका को रचना का श्रेय शंकराचार्य अथवा विमल को भी दिया जाता है। परन्तु नहीं कहा जा सकता कहाँ तक इस दृष्टिकोण में सत्यता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रसिद्ध जैन आचार्य जिनसेन उसका गुरु था।

अमोघवर्ष की शासनादि से विरक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी और धार्मिक वृत्तियों की ओर वह अधिकाधिक आकृष्ट होता गया। अनेक बार तो वह योग और समाधि साधना के अर्थ शासन की व्यवस्था मन्त्रियों और युवराज के ऊपर छोड़ निर्जन वन में चला जाता था। अमोघवर्ष प्रथम ने ही राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट की स्थापना की, जिसके स्थान पर निजाम की रियासत में अब मालखेट खड़ा है। यह निश्चित नहीं कि अमोघवर्ष ने इस नगर का निर्माण भी किया अथवा केवल उसको ससंपद और समृद्ध किया।

अमोघवर्ष चाहे देश विजय कार्य में सक्रिय न रहा हो; परन्तु जान पड़ता है कि देश के बाहर उसकी ख्याति पर्याप्त थी। २५१ ई० में लिखते हुए अरब पर्यटक सुलेमान ने अमोघवर्ष को 'दीर्घजीवी बल्हर' (बल्लभ-राज) लिखा है और संसार के सब से बड़े चार सम्राटों में उसकी गणना की है। इनमें से शेष तीन बगदाद के खलीफा और कुस्तुनतुनिया तथा चीन के सम्राट थे।

अमोघवर्ष प्रथम के शासन काल की अन्तिम तिथि २७८ ई० है और यह मानना अनुचित न होगा कि इसी वर्ष प्रायः ६४ साल के शासन के पश्चात् वह मरा। उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र कृष्ण द्वितीय को मिला।

१४

देवपाल

१

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् जब उसका साम्राज्य विखर गया था तब गौड़ के कुछ भाग पर कामरूप के नृपति ने अधिकार कर लिया था। फिर बंगाल में इतनी अराजकता फैली थी कि संन्रस्त होकर उस देश के निवासियों ने स्वर्ण शर्तों के तीसरे चरण में गोपाल नामक एक व्यक्ति को अपना राजा चुना। गोपाल का पुत्र धर्मपाल प्रबल हुआ। तिध्वती इतिहासकार तारानाथ लिखता है कि धर्मपाल का साम्राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में दिल्ली तक और उत्तर जालन्धर से दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक फैला हुआ था। इस वक्तव्य को पुष्टि इस बात से भी होती है कि उसने कन्नौज के आयुध राजा इन्द्रायुध को गद्दी से उतारकर चक्रायुध को बिठाया। भगलपुर से मिले एक लेख से विदित होता है कि धर्मपाल के इस कृत्य को भोज, मत्स्य, भद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार और कीर के राजाओं ने अंगीकार किया। यह घटना ८०० ई० के शीघ्र ही बाद घटी होगी। परन्तु लामा तारानाथ द्वारा उल्लिखित धर्मपाल का राज्य विस्तार निःसन्देह सर्वथा प्रश्नातीत नहीं; यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि वह इन सीमाओं के भीतर प्रबल था। उसका कान्यकुब्ज सम्बन्धी प्रबन्ध भी कम से कम प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों को सक्षम न हो सका।

कान्यकुब्ज की लक्ष्मी पाटलिपुत्र की उत्तरावर्तिनी थी और उसकी अभिप्राप्ति के अर्थ अन्य राजकुल भी सर्वथा सचेष्ट रहते थे। 'महोदयश्री' की उपलब्धि उत्तर भारत में सम्राट परम्परा की पुष्टि भूमि थी। और इस विचार से निश्चय धर्मपाल की शक्ति साम्राज्यपदीय हो गयी थी। परन्तु उत्तर भारत में गुर्जर प्रतीहार पालों के प्रबल प्रतिस्पर्धी थे और यह सम्भव न था कि धर्मपाल का आचरण उन्हें सख्त हो सकता। और वत्सराज ने पाल नृपति को युद्ध में परास्त कर दिया। दक्षिण के राष्ट्रकूट भी जब तब उत्तर पर धावे मारा करते थे। और ध्रुव राष्ट्रकूट ने भी धर्मपाल को परास्त किया। गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट के प्रति तो संजन पत्रलेखों के अनुसार धर्मपाल और उसके संरक्षित चक्रायुध दोनों ने आत्मसमर्पण किया। पाल नरेश को नागभट्ट द्वितीय प्रतीहार द्वारा भी मुगेर में गहरी हार खानी पड़ी और प्रतीहार राज ने चक्रायुध को सिंहासनच्युत कर महोदयश्री स्वायत्त कर ली।

२

देवपाल यशस्वी धर्मपाल का पुत्र था। और पालों में वह सर्वशक्तिमान हुआ। पिता की विजयों के कारण उसे एक सुसंगठित साम्राज्य मिल गया था और यद्यपि अपने शासन काल के अन्त में धर्मपाल को कई बार परास्त होना पड़ा था, देवपाल प्रारम्भिक साम्राज्य निर्माण की कठिनाइयों से बच गया। परन्तु उसके अभिलेखों से पूर्णतः प्रकट है कि न केवल उसने अपने पिता की पराजयों का अपने उदात्त विक्रम से निराकरण किया; वरन् अपनी नयी विजय, से उसने पिता के राज्य की सीमायें दूर तक विस्तृत भी कीं।

मुगेर के दानपत्र में लिखा है कि उसने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की सारी पृथ्वी को अपना करद राज्य बना लिया और सेतुबन्ध रामेश्वर तक की भूमि पर शासन किया। कहना न होगा कि वक्तव्य प्रशस्तिवाचक है और विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में देवपाल के राज्य की सीमाओं का पहुँचना

सर्वथा अप्राप्त है; परन्तु बदल के स्तम्भ-लेख से इतना अवश्य प्रमाणित है कि देवपाल ने उड़ोसा आदि प्रान्त जीते। उसमें लिखा है कि पाल नरेश ने अपने मंत्रियों वर्म पेडि और केदार मिश्र की मन्त्रणा में “उत्कलों को उन्मलित कर दिया, हूणों का गर्व खर्व कर दिया और द्रविड़ तथा गुर्जर नरेशों का दर्प चूर्ण कर दिया।” इसी प्रकार भागलपुर के अभिलेख से प्रमाणित है कि देवपाल ने अपने चचेरे भाई जयपाल की अध्यक्षता में एक विशाल सेना भेज कर उत्कल अथवा उड़ोसा और पुरा ज्योतिष अथवा आसाम पर अधिकार कर लिया। जिस गुर्जर नरेश को परास्त करने की बात बदल के स्तम्भ लेख में खुदी है वह संभवतः मिहिर भोज (८३६-८५ ई०) भोज था। मिहिर भोज ने अपने राज्य की सीमा पूर्व की ओर बढ़ानी चाही। यों तो पहले से ही उत्तर भारत के प्रभुत्व के अर्थ प्रतीकारों और पालों में प्रायः टक्करें होती रहनी थीं। परन्तु जब नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध को हटा कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया और अपनी राजधानी राजपूताना की मरुभूमि से हटाकर कन्नौज में स्थापित कर ली तब तो प्रतीकारों का पालों के साथ संघर्ष स्वाभाविक ही अनिवार्य हो गया। मिहिर भोज नागभट्ट द्वितीय का उत्तराधिकारी था और शक्ति में अत्यन्त प्रबल पूर्व की ओर बढ़कर उसने पालों की कुछ भूमि जीती; परन्तु देवपाल उस पर सहसा टूट पड़ा और अपने पिता के पराभव का प्रतिशोध उसने उसके विजेता के पुत्र मिहिर भोज से लिया। दोनों में विशेष संघर्ष तो न हुआ; परन्तु मिहिर भोज ने अपना शक्ति की सीमायें समझ लीं और देवपाल का विक्रम भी। वह संयत हो गया और उसने फिर पूर्व की ओर बढ़ने के उपक्रम न किए।

नालन्दा के ताम्रपत्र लेख से विदित होता है कि देवपाल ने धर्म कार्य के अर्थ राजगृह विषय के चार गाँव और गया विषय (जिले) का एक गाँव दान किया। इससे पटना और गया तक कम से कम उसके राज्य की सीमायें स्पष्टतः निरूपित माननी चाहिए।

देवपाल बौद्ध धर्म का उपासक और उसका परम संचरक था। गया और राजगिरि जिलों में जो उसने ग्राम दान किये थे वह बौद्ध भिक्षुओं की विभिन्न सुविधाओं 'धर्मरत्नों' के अभिलेखन और बौद्ध विहार के व्यय के अर्थ दिये गये थे। इस बौद्ध विहार का निर्माण सुवर्ण द्वीप और पव भूमि के राजा बाल पुत्र देव ने कराया था। यदि सुवर्ण द्वीप और पव भूमि क्रमशः सुमात्रा और जावा हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि देवपाल की ख्याति दूर दूर तक थी और सुदूर द्वीप राज्य भी उससे मैत्री और सद्भाव बनाये रखने के यत्न करते रहते थे। देवपाल ने मगध में भी अनेक मंदिर और विहार बनवाये। राजगिरि के समीप नालन्दा का बौद्ध विद्या का केन्द्र इस काल भी सम्पन्न था और देवपाल के दानों से वह और भी फूला फला। देवपाल ने लगभग ८१५ ई० से ८५५ ई० तक राज किया।

उसके शासन काल में पालों का उत्कर्ष चरम सीमा तक पहुँच गया और कन से कम जब तक वह जीवित रहा तब तक प्रतीहार अथवा राष्ट्र-कूट किसी कुल ने उसकी सीमा का उल्लंघन करने का साहस न किया। देवपाल की मृत्यु के पश्चात् भी पाल वंश में अनेक राजा हुए; परन्तु कोई इस नरेश की ऊँचाई तक न पहुँच सका।

१५

राजा भोज

१

मालवा का परमार कुल जिसमें भारत विख्यात वाक्पतिराज मुंज तथा भोज धारावर्ष का जन्म हुआ था, क्षत्रिय था। यद्यपि इस कुल को ब्रह्म क्षत्रिय भी कहा गया है; परन्तु इसको शुद्ध क्षत्रिय मानना ही उचित होगा। परन्तु शुद्ध क्षत्रिय का तात्पर्य इस कुल को प्राचीन भारतीय राजन्य कुलों से सम्बद्ध करने का हरगिज नहीं है। आवू के अग्नि कुलीय राजपूत जिस सीमा तक क्षत्रिय हैं, उसी सीमा तक मालवा के परमार भी क्षत्रिय थे। अर्थात् उनके रक्त में भी बाहरी रक्त का सम्मिश्रण असम्भाव्य नहीं माना जा सकता। कहते हैं कि विश्वामित्र ने जब वशिष्ठ की नन्दिनी नाम की गाय चुरा ली तब अपने शत्रुओं के नाश के अर्थ उस ब्राह्मण मुनि ने परमार वीर को अपने हवन कुंड से जन्म दिया। इस जनश्रुति के तथ्य पर विचार करना स्पष्टतः निरर्थक होगा।

परमार राजकुल का उत्कर्ष सीपक हर्ष के शासन काल में प्रारम्भ हुआ और उसके पुत्र वाक्पति राज मुंज के समय में तो इस कुल की प्रतिष्ठा आसमान चूमने लगी। मुंज ने अनेक राज्यों को जीता और मध्य भारत में उसने अपनी शक्ति का साका चलाया। वह बड़ा प्रतापी और विद्वान् राजा था। कर्णाट, लाट, और दक्षिण के राजा उससे आक्रान्त हो उठे। कलचुरियों

की राजधानी त्रिपुरी को उसने लूट लिया और मेवाड़ पर चढ़ाई कर आहाव को नष्ट कर दिया। चितौर तथा समीपस्थ प्रदेश भी उसने मालवा राज्य में मिला लिये।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य राज तैलप द्वितीय को उसने छः बार परास्त किया और सातवीं बार अपने मन्त्रियों की सलाह की अवमानना कर जब वह गोदावरी पार तैलप की सीमा में घुसता चला गया, तब चालुक्य राज ने उसे पकड़ कर कैद कर लिया और पश्चात् उसका वध कर डाला।

मुंज विद्याव्यसनी था। उसकी राजसभा में अनेक विद्वान् थे। पाइपली नाम माला का रचयिता धनपाल, नव साहस्रक के चरित का प्रणेता पद्मगुप्त (परिमल), दशरूप का कर्ता धनञ्जय और उसका टीकाकार दशरुपावलोक का रचयिता उसका भाई धनिक तथा मृतसंजीवनी टीकाकार भट्ट-हलायुध आदि मुंज के सभासद थे।

२

मुंज के कोई पुत्र न था और वह अपने भतीजे भोज को बहुत मानता था। उसने भोज को अपना उत्तराधिकारी भी निश्चित कर दिया था; परन्तु बालक होने के कारण उसने अपने राज्य का भार अपने अनुज और भोज के पिता सिन्धुराज को सौंपा। सिन्धुराज का दूसरा नाम सिन्धुल भी था और उसी के चरित का बखान पद्मगुप्त ने अपने काव्य नवसाहस्रक के चरित में किया। सिन्धुराज गुजरात के सोलंकी नरेश चामुंड राय के साथ लड़ता हुआ मारा गया।

राजा भोज इसी सिन्धुराज का पुत्र था। पिता की मृत्यु के बाद वह मालवा की गद्दी पर बैठा। उसकी पृष्ठ भूमि वाक्पति मुंज के तेज से अत्यन्त दीप्तमती हो उठी थी। उसने अपने शौर्य और नीति से उसे और भी प्रकाशित

किया। वह अनन्त किंवदन्तियों जन-श्रुतियों और ख्यातों का नायक है। विक्रमादित्य की ही भाँति विद्याव्यसन में उसका नाम भी प्रख्यात है। और इस दृष्टि से कि वह स्वयं अनेक काव्यों और ग्रन्थों का रचयिता कहा गया है, सम्भवतः वह विक्रमादित्य से बड़ा भी कहा जा सकता है। उसने अपने सवतांमुखी व्यक्तित्व की छाप भारतीय अनुश्रुति पर इतना गहरी डाली है कि प्रायः सभी संस्कृत साहित्य के यशस्वी निर्माता और विद्वान् उसके समसामयिक और संरक्षित माने गए हैं। महाकवि कालिदास, माघ बाण, राजशेखर आदि सभी उसके सभ्य बताए जाते हैं; यद्यपि इनमें से एक की भी उसके साथ समसामयिकता नहीं स्थापित की जा सकती। यह सही है कि जहाँ ख्यातों और जनश्रुतियों का इतना ऊँचा अम्बार हो, वहाँ मिथ्या सत्य का पृथक् करना अत्यन्त कठिन हो जाता है; परन्तु इससे कम से कम यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि उसका व्यक्तित्व कितना विशाल था, वह कितना लोकप्रिय हुआ और उसकी स्मृति कितने काल और कितनी मात्रा में जीवित रह सकी। युद्धों और ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त भोज नगर, भौलों और मन्दिरों आदि का भी असाधारण निर्माता माना जाता है, जिसके सम्बन्ध में निश्चय सन्देह नहीं किया जा सकता। अपने अमनुजोचित कृत्यों से उसने सिद्ध कर दिया कि उसका चाचा मुझ अपना उत्तराधिकारी चुनने में कितना सही था। उसी राजा भोज का वृत्तान्त निरूपण प्रस्तुत अध्याय का अभीष्ट है।

२

राजा भोज का पिता ६६७ ई० और १०१० ई० के बीच युद्ध में मरा और तभी राजा भोज परमारों का गद्दी पर बैठे। सिंहासन पर बैठने के समय वह २० वर्ष का था। वह परमार राज-कुल का सबसे शक्तिमान और प्रतापी राजा था। उसने अपने कुल के गौरव को असाधारण प्रतिष्ठा दी। हर्ष के बाद सदियों तक इतने बड़े व्यक्तित्व का राजा भारत में न हुआ। देश की

अराजकता और विभिन्न असख्य राजाओं के बीच एक बार प्राचीन सम्राटों को उँचाई राजा भोज ने दसवीं सदी के अन्त में धारण की। यद्यपि भोज के पास इतना बड़ा साम्राज्य न था जितना हर्ष का था, उत्तर और दक्षिण के अनेक राज उससे पहले बड़े थे, उसके पीछे भी बड़े हुए; परन्तु विरले ही उसका मान और प्रसिद्धि प्राप्त कर सके। सारा जीवन उसका युद्धों में बीता; परन्तु फिर भी साहित्य की अपनी अनेकधा जिज्ञासा पूरा करने के निमित्त उसने समय निकाल लिया। लेखनी और खड्ग दोनों असाधारण गति से चलाये और उसका यश जितना उसकी विजयों पर नहीं टिका है, उतना उनके शान्ति के कृत्यों, प्रजाकी कल्याण-भावना, काव्य-चर्चा और विद्वानों के पुरस्करण पर प्रतिष्ठित है।

हम पहले उसके युद्धों और विजयों का वृत्तान्त लिखेंगे। राजा भोज को एक अभिलेख में सार्वभौम कहा गया है और उदपुर की प्रशस्ति में तो उसे हिमालय से मलयाचल तक और उदयाचल से अस्ताचल तक की भूमि का स्वामी कहा गया है। परन्तु यह उल्लेख निश्चय अत्यन्तरंजित है और इसको प्रमाणित करने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं। संभवतः उसका राज्य उतना ही बड़ा था जितना उसके चचा मुज्ज ने छोड़ा था अर्थात् नर्मदा के उत्तर में बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड को छोड़ मध्य भारत का एक बड़ा भाग और दक्षिण में गोदावरी तक। भोज ने युद्ध तो बहुत किए, जीवन भर उसे शत्रुओं से लड़ना पड़ा और युद्ध में ही उसने प्राण भी खोये; परन्तु उनका परिणाम परमार राज्य का विस्तार न कर सका।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्यों के साथ परमार कुल का बैर पुराना था और तैलप द्वितीय द्वारा ६ बार हराए जाने पर भी भोज के चाचा मुज्ज को ७वें आक्रमण में चालुक्य राज ने उसे पकड़ कर मरवा डाला था। संभवतः उसी के प्रतिशोध के लिए भोज ने पहला हमला गोदावरी पार के चालुक्यों पर किया। तैलप मर चुका था और कल्याण की गद्दी पर

विक्रमादित्य पंचम विराजमान था। उदपुर की प्रशस्ति में चेदिराज, इन्द्रथ, भीम, तोग्गल तथा कर्णाट, लाट, गुर्जर के राजाओं और तुरुष्कों को जीतने की बात लिखी है। चेदिश्वर तो त्रिपुरी का कलचुरी नरेश (हैहयवंशी) गंगेयदेव था। इन्द्रथ की पहचान कठिन है यद्यपि एक इन्द्रथ के सम्बन्ध में राजेन्द्रचोल प्रथम के एक अभिलेख में लिखा है कि उसने इन्द्रथ को हरा कर उसका खजाना लूट लिया था। चोल नरेश द्वारा पराजित इन्द्रथ चन्द्रवर्शी था। तोग्गल कौन था, यह नहीं कहा जा सकता। भीम अन्हिलवाड़ का सोलंकी-चालुक्य राजा भीमदेव प्रथम था जिसने प्रायः १०२० से १०६३ ई० तक राज किया। परमार राज वस्तुतः पूरे दक्कन पर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था; परन्तु चालुक्य जयसिंह द्वितीय ने १०१६ ई० के कुछ पहले उसको परास्त और पलायित कर तथा 'मालव संघ' को द्बल्ल-भिन्न कर उसका स्वप्न तोड़ दिया। भोज के १०२० ई० के वाँसवाड़े से प्राप्त एक दानपत्र में लिखा है कि उसने यह दान कोंकण की विजय में दिया। संभवतः उसी का बदला लेने के लिए जयसिंह द्वितीय के पुत्र चालुक्य सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल ने भोज को परास्त कर उसकी राजधानी को लूटा और मालवा को रौंद डाला। परन्तु उदपुर (ग्वालियर) की प्रशस्ति से विदित होता है कि इस संघर्ष में अन्तिम विजय भोज के ही हाथ रही। इसके बाद भोज ने संभवतः कन्नौज से गुर्जर प्रतिहारों को भी परास्त किया और कुछ काल तक कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार रक्खा। "पृथ्वीराज विजय" में भोज द्वारा साँभर के चौहान राजा वीर्यराम को युद्ध में मारने का उल्लेख है। तुरुष्कों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि शायद वह महमूद के विरुद्ध जयपाल के हिन्दू-संघ की ओर से लड़ा था; परन्तु फिरिशा के इतिहास में इस बात का उल्लेख नहीं है और संभवतः भोज तब तक गद्दी पर भी नहीं बैठा था। इसी प्रकार जयपाल के पुत्र आनन्द पाल की ओर से उसके लड़ने की बात भी कट जाती है, क्योंकि

प्रशस्ति में, तुरुष्कों पर उसकी विजय की बात लिखी है पराजय की नहीं, और आनन्द पाल का संघ निश्चय परास्त हुआ था। यदि तुरुष्कों के साथ लड़कर उनकी विजय करने की प्रशस्ति वाली बात माने तो उत्तर की ओर सिंध की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर कहीं भोज की उनसे मुठभेड़ हुई होगी।

कान्यकुब्ज के ऊपर तो जान पड़ता है भोज ने कुछ साल के लिए अपना स्वत्व जमा लिया; परन्तु चन्देलों और कच्छप घातों के विरुद्ध उसकी विजय-प्रगति विशेष न हो सकी। चन्देलों का राजा इस समय महोबा के लेख से विद्याधर जान पड़ता है। ग्वालियर के कच्छप घातों (कछवाहों) का राजा कीर्तिराज था। दक्षिण गुजरात अथवा लाट के नृपति एक अन्य कीर्तिराज को भी भोज ने परास्त किया। गुजरात के सोलंकी राजा भीम प्रथम के साथ तो भोज का अनेक बार युद्ध हुआ। सोमेश्वर की 'कीर्ति-कौमुदी' से प्रकट है कि एक बार तो सोलंकी राज ने भोज को परास्त कर बन्दी भी कर लिया था; परन्तु उसके गुणों से प्रसन्न होकर उसे छोड़ दिया। इसके पश्चात् संभवतः दोनों राज्यों में कुछ काल के लिए संधि हो गई, क्योंकि मेरुतुङ्ग 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में लिखा है कि भीम का राजदूत डामर (दामोदर) भोज की राज सभा में रहा था। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में यह भी लिखा है कि भीम प्रथम जब तुरुष्कों की विजय के लिए सिन्धु देश गया हुआ था, तब भोज ने अपने जैन सेनापति कुलचन्द्र को एक प्रबल सेना देकर भीम से अरक्षित राज्य की ओर भेजा। कुलचन्द्र ने सोलंकी राजधानी अन्हिलवाड़ को खूब लूटा और वहाँ से भोज सम्बन्धी विजय पत्र को उठा लाया। निश्चय यह अपनी पहली पराजय का भोज द्वारा प्रतिशोध था; परन्तु उसकी घबलकीर्ति में निःसन्देह उसके इस आचरण ने एक धब्बा लगा दिया, क्योंकि समान शत्रु तुरुष्कों के विरुद्ध अभिमान करने वाले भीम की अनुपस्थिति में उसके राज्य पर आक्रमण करना किसी प्रकार समर्थित नहीं हो सकता।

ऊपर कहा जा चुका है कि भोज लेखनी और खड्ग समान रूप से चलाता था। उसका नाम अनेक विषयों के ग्रन्थों से संबद्ध है। चिकित्सा, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तु, अलंकार, कोष, कला आदि पर उसके लिखे ग्रन्थ बताए जाते हैं। आश्चर्य है निरन्त युद्धों में व्यस्त रहने पर भी किस प्रकार वह इनका प्रणयन कर सका। कुछ आश्चर्य नहीं कि इस ग्रन्थ राशि में से कुछ उसके राज सभा के विद्वानों ने रचे हों। जिन ग्रन्थों को युद्ध का लिखा बताया जाता है उनमें से कुछ निम्नलिखित थे :— आयुर्वेद सर्वस्व, राज मृगांक, व्यवहार-समुच्चय, शब्दानुशासन समरांगण-सूत्रधार, सरस्वती कण्ठाभरण, युक्ति कल्पतरु।

भोज विद्वानों का आदर करता था और दूर दूर के पंडित और कवि उसकी राजसभा के सभ्य थे। प्रसिद्धि है कि वह एक एक श्लोक पर लाख लाख स्वर्ण मुद्राओं तक दान कर दिया करता था। इसमें संदेह नहीं कि वह विद्या का उपासक था और साहित्य तथा कला को उससे प्रभूत प्रोत्साहन मिला। धारा नगरी में उसने एक विद्या केन्द्र की स्थापना की जहाँ संस्कृत के पठन-पाठन का उसने प्रबन्ध किया। वह आज भी भोजशाला के नाम से प्रसिद्ध है, यद्यपि उसे मालवा के दिलावर खाँ गोरी ने तोड़ कर हिजरी ८०७ = १४०५ ई० में मस्जिद बनवा दी थी ! उस विद्या भवन में भोजकृत कुमेशतक का प्राकृत काव्य और भतृहरि की कार्यका आदि अन्य अनेक ग्रन्थ पत्थर की शिलाओं पर खुदवा कर रखे गए थे। इस पाठशाला की लम्बाई २०० फीट और चौड़ाई ११७ फीट थी।

भोज असाधारण निर्माता था और उसने धारा नाम की नगरी बसा कर अपनी राजधानी उज्जैन से हटा कर उस नगरी में स्थापित की और उसे अनेक महलों, भौलों तथा मन्दिरों से अलंकृत किया। भोपाल के दक्षिण भोजपुर नगर का उसने ही निर्माण कराया और उसके निकट ही उसने

एक विस्तृत भील खुदवाई जिसका क्षेत्रफल २५० वर्गमील है। षष्ठद्वीपों सदी के आरम्भ तक यह भील जलपूरित थी, परन्तु १४०५ और १४३४ के बीच कभी मारण्ड के सुलतान होंसग साह ने इसे अपनी आवश्यकता के अर्थ तुड़वा डाला। धारा और मारण्ड के दुर्ग भी भोज के ही बनवाए कहे जाते हैं। ख्याति है कि मण्डप दुर्ग (मारण्ड) में उसने कई सौ विद्यार्थियों के आवास के लिए एक भवन बनवाया और गोविन्दभट्ट को उसका अध्यक्ष नियत किया था।

भोज शिव का परम भक्त था और राजतरंगिणी में लिखा है कि उसने सुदूर कश्मीर में अनन्तराज के शासन काल में कपटेश्वर महादेव के मन्दिर के पास अनन्त द्रव्य लगा कर एक कुण्ड बनवाया था जिसका नाम पापसूदन तीर्थ रक्खा गया। उसी तीर्थ के जल से वह नित्य अपना मुँह धोता था। कहते हैं कि पद्मराज नामक पान का एक व्यापारी भोज की इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए काँच के कलशों में वहाँ से जल भर भर कर बराबर भेजा करता था।

परन्तु परमशैव होने के बावजूद भी भोज अन्य धर्मों के प्रति पूर्णतः सहिष्णु था और उसकी राज सभा में अनेक जैन आचार्य भी थे। श्रवण बेलगोला से प्राप्त कल्मण भाषा के एक लेख में लिखा है कि भोज ने जैन आचार्य प्रभाचन्द्र के पैर धोए थे। कछुवाहा राजा विक्रमादित्य के एक लेख से विदित है कि जैनाचार्य शान्तिसेन ने अम्बरसेन आदि जैन विद्वानों का अपमान करने वाले पण्डितों को भोज की सभा में परास्त किया था। इससे प्रमाणित है कि भोज धार्मिक विषयों में सर्वथा सहिष्णु था। उसके सेनापति कुलचन्द्र का दिगम्बर जैन होना भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है।

राजा भोज उन राजाओं में से एक है जिनकी कीर्ति विजयस्तम्भों और प्रशस्ति लेखों पर अवलम्बित नहीं रहती। समुद्रगुप्त की विजयों को धिक्कारते हुए प्रायः समसामयिक विष्णु पुराणकार ने जो लिखा है कि

जिन सम्राटों ने “भारत मेरा है” कहने का अभिमान किया उनकी स्मृति और राघव-राम तक की, धुँधली पड़ गई और काल के प्रवाह में वे विपन्न हो गए—दिग्विजयी सम्राटों के सम्बन्ध में नितान्त सही है; परन्तु हृदय और बुद्धि के आधार पर प्रतिष्ठित भोज की अक्षय कीर्ति को वह स्पर्श नहीं करता, नहीं कर सकेगा ।

१६

राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड

१

चोल शासन-काल में ६८५ ई० से १०५२ ई० तक के प्रायः ६० वर्ष अत्यन्त महत्व के थे। इस युग में यह राजकुल अपने गौरव के शिखर पर विराजमान था। राजराज प्रथम, राजेन्द्र प्रथम और राजाधिराज प्रथम तीनों एक से एक बढ़कर पराक्रमी थे। जिस प्रकार भारतीय इतिहास में में आर्यों, गुप्तों, और मुगलों का कुल है, उसी प्रकार चोलों का राजकुल भी है; वीरकर्मा, दीर्घजीवी और शासन-कुशल। विशेषकर इन ६० वर्षों का काल तो अत्यन्त उत्कर्ष का था।

इस उत्कर्ष के युग को प्रारम्भ करने का श्रेय वास्तव में राजेन्द्र प्रथम के पिता राजराज प्रथम को है जो ६८५ ई० के लगभग गङ्गा पर बैठा और जिसने प्रायः ३० साल राज किया। जो पैतृक राज्य उसे मिला उससे किसी दूरदर्शी नृपति को सतोष नहीं हो सकता था। न तो वह सुविस्तृत ही था न सुव्यवस्थित। परन्तु राजराज ने अपनी योग्यता, पराक्रम, अध्य-वसाय, और सैन्यनीति से उसे दक्षिण में सर्व शक्तिमान बना दिया।

केरलों के जहाजी बड़े का नाश उसका पहला विशिष्ट कृत्य था। फिर उसने मद्रास पर अधिकार कर पारण्ड्य राजा अमर भुजंग को बन्दी कर लिया। भारत के दक्षिणी भाग पर पूरब से पश्चिम तक अपनी सत्य

की प्रतिष्ठा कर उसने सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया और उसका उत्तरी भाग अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। मैसूर के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लेने के बाद वह पश्चिमी चालुक्य तैलप से जा टकराया। तैलप के पुत्र सत्याश्रय को परास्त कर उसने चालुक्य भूमि को रौंद डाला और फिर उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के देश पर आक्रमण कर दिया और विमलादित्य को आत्मसमर्पण करना पड़ा। कर्लिंग को जीत उसने लक्ष्मदीव और मालदीव को जीता जिमसे चोलों को पोन शक्ति का भी अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार राजराज प्रथम सम्पूर्ण वर्तमान मद्रास प्रान्त, कर्ग, मैसूर और सिंहल के अनेक भागों और अन्य द्वीपों का स्वामी बन गया। इन विजयों में राजराज का स्थान प्राचीन भारत के प्रबलतम साम्राज्य निर्माताओं में हो गया।

राजराज प्रथम की कीर्ति तंजोर के राजराजेश्वर नामक शिवमन्दिर के साथ भी सम्बद्ध है। यह मन्दिर अपने नक्शे की सादगी, विशालता, अंग-प्रत्यङ्गों के अनुपात तथा अभिप्रायों के लिए प्रसिद्ध है। उसकी दीवारों पर राजराज की विजयों का वृत्तान्त उन्कीर्ण है जिसके अभाव में उस शक्तिमान नृपति के इतिहास का बहुत बड़ा भाग लुप्त हो जाता।

२

राजेन्द्र प्रथम गंगेकोण्ड इसी राजराज का पुत्र था जो १०१४ ई० के लगभग चोलों की गद्दी पर बैठा। राजराज के इस योग्य पुत्र ने पिता के समय में ही युवराज की हैसियत से शासन का कार्य सम्हालना आरम्भ किया था। इसी कारण उसके शासन के वर्ष १०१२ ई० से ही गिने जाते हैं जब वह युवराज पद के लिए अभिषिक्त हुआ था। इस अभिषेक की सही तिथि इस साल के मार्च २७ और ७ जुलाई के बीच है। राजेन्द्र प्रथम पराक्रम में पिता से भी बढ़ कर था और उसने चोल शक्ति को अभूतपूर्व उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाया। पिता के ही समय में उसने बरवासी कोल्लियाकै, (कुलपाक)

इडितुरैनाड, (रायचूर जिला) और मणै कटक्कम् (सम्भवतः माक्खेट अथवा मालखेट) पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया था । इस प्रकार वह सीधा तुङ्गभद्रा के पार चालुक्य राज्य के हृदय तक जा पहुँचा था । और राज्यारोहण के पश्चात् तो उसके आक्रमणों और विजयों का क्रम सर्वथा असाधारण हो चला । १०१७ ई० के लगभग उसने जहाजी बेड़े से सिंहल पर आक्रमण किया । उसके पिता ने उस द्वीप का केवल उत्तरी भाग जीता था । परन्तु राजेन्द्र ने कभी कोई काम अधूरा न छोड़ा और पिता के समय से ही सिंहल का आंशिक अधिकार उसे खटका करता था । अब बेड़ा भेज कर उसने समस्त सिंहल पर अधिकार कर लिया । इसी प्रकार निकट के केरल और पाण्ड्यों को भी वह बढ़ता हुआ नहीं देख सकता था और विशेषकर वह समझता था कि जब उनके पास इतनी शक्ति नहीं कि वे अपने पैरों खड़े हो सकें और बाहरी शत्रु निरन्तर उनके कार्यों में हस्तक्षेप करते रहे, तो उन्हें स्वतन्त्र शक्ति की हैसियत से उसके पड़ोसी बने रहने का भी कोई अधिकार नहीं । उसने सहसा केरलों और पाण्ड्यों के राजाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । उन प्रदेशों पर अपने पुत्र जटावर्मन सुन्दर को चोल-पाण्ड्य की उपाधि देकर अपना प्रतिनिधि-शासक नियुक्त किया ।

उसके पिता के काल से ही अनेक सामुद्रिक द्वीपों पर अधिकार हो चुका था और उनकी संख्या १२००० तक बतायी गयी है । स्पष्टतः यह संख्या लक्षद्वीप और मालदीव को ओर संकेत करती है । राजेन्द्र चोल ने पिता द्वारा अधिकृत इस द्वीपों पर अपना अधिकार पूर्णतः बनाये रखा । इस प्रकार बंगाल की खाड़ी के दक्षिणी भाग से सिंहल तक और सिंहल से अपराम्त और केरल के सारे तटवर्ती समुद्र पर राजेन्द्र का अधिकार स्थापित था ।

चोल अथवा निकट की किसी शक्ति का विशेष उदय कल्याण के पश्चिमी चालुक्यों के ही मूल्यपर अधिकतर सम्भव था । और इस कारण चोलों के समुदाय और उत्कर्ष की बात चालुक्यों की उदासीनता का

कारण नहीं हो सकती थी। राजराज और राजेन्द्र की शक्ति की अभिवृद्धि चालुक्यों की चिन्ता का विषय बन गयी और दोनों राजकुलों में संघर्ष छिड़ गया। पश्चिमी चालुक्यों की गद्दी पर इस समय जयसिंह द्वितीय जगदेक मल्ल (ल० १०१६-४२ ई०) था। चालों और चालुक्यों दोनों का इस काल की प्रशस्तियों में अपनी-अपनी विजय का उल्लेख है और आम लेखों में चाल शत्रु के पराभव की ओर संकेत किया गया है। इसके विरोध में तामिल प्रशास्त में लिखा है कि जयसिंह द्वितीय मुसुक्तो से भाग गया। इसमें सन्देह नहीं कि राजेन्द्र जयसिंह को गद्दी से उतार न सका और चालुक्य नरेश का अधिकार तुङ्गभद्रा तक के प्रदेशों पर पूर्ववत् बना रहा।

राजेन्द्र अत्यन्त नीति-कुशल और दूरदर्शी था। जब उसने अपना प्रसर उधर का ओर रुकता देखा तब उस ओर शक्ति का ढवल अपव्यय जान उसने दूसरी ओर उचित रूपसे उसका उपयोग करना उचित समझा। शीघ्र उत्तर का ओर उसने अपनी भुजाओं की गति फेर दी। कीर्ति का क्षेत्र निःसीम था और यदि पश्चिम का ओर उसकी गति रुकी जान पड़ी तो उत्तर सविस्तृत क्षेत्र खुला था, यह उसने समझा और तद्वत् आचरण किया। दक्षिण और दक्कन को रौंदता वह उत्तर में गया तक जा पहुँचा और उस घाटी के उर्वर प्रान्त गौड़ भूमि पर सहसा जा उतरा। तिरुमलै (उत्तर अरकाट जिला) अभिलेख से विदित होता है कि अपने उत्तरी आक्रमण के क्रम से उसने उड़ीसा दक्षिण कोशल दडिभुक्ति अथवा बाला-सार और मिदनापुर के जिले दक्षिणराड़ और पूर्वी बंगाल पर अपना अधिकार कर लिया। उत्तर राड़ और महीपाल का गौड़ भी उससे रक्षित न रह सका। यह आक्रमण संभवतः १०२१ और १०२५ ई० के बीच कभी हुआ था। भ्रमभाव की भाँति दक्षिण से राजेन्द्र प्रथम हजारों मील के धावे मारता उत्तर में पूर्व की ओर सहसा जा पहुँचा था। उसका यह कृत्य नितान्त साहस विक्रम और अद्भुत सैन्य संचालन का था और अपने इस

आक्रमण के स्मारक स्वरूप उसने गंगैकोण्ड का विरुद्ध धारण किया। आक्रमण असाधारण और कीर्ति का था, परन्तु इस प्रकार के आक्रमणों का कोई चिरकालिक प्रभाव नहीं हुआ करता और इसका भी न हुआ। पर आक्रमण सभ्यतः उतना ही लम्बा उतना ही प्रबल था जितना समुद्र गुप्त का प्राचीन काल में हुआ था। औंधी की भौंति अपने दक्षिण के आधार से उठ कर राजेन्द्र पर्वत, बन और नदियों लौघता सुदूर उत्तर तक जा पहुँचा था। ऐसा आक्रमण दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर कभी न पहले हुआ था न बाद में हुआ। इसका एक परिणाम यह अवश्य हुआ कि पश्चिमी बंगाल में दक्षिण से आकर कुछ कर्णाट सामन्त बस गये और स्वयं राजेन्द्र ने गङ्गातट से कुछ शैवों को ले जाकर चोल देश में बसाया था। इसका कोई धावे के अतिरिक्त राजनीतिक महत्व न हुआ और न इस उत्तर की की भूमि पर किसी प्रकार का अधिकार ही रख सका। उत्तर के प्रायः सभी विजित राजा उसके दक्षिण लौटते ही स्वतन्त्र हो गये।

राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड की पोत शक्ति का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। अपने उत्तर के आक्रमण में उसने गंगा की धाराओं में राग रज से भरे अपने गजों को स्नान कराया था, परन्तु उसकी शक्ति केवल गजों पर ही अवलम्बित न थी उसके पास अपने सामुद्रिक राज्य पर अधिकार बनाये रखने के लिए एक प्रबल जहाजी बेड़ा भी प्रस्तुत था। इस बेड़े ने बंगाल की खाड़ी में हल चला दिया था और आसपास के द्वीपवासी राजेन्द्र के स्वामित्व को अंगीकार करते। कहते हैं कि उसने इस गृहत्तर भारत के संग्राम में विजयो-तुङ्ग वर्मन को परास्त कर कटाह अथवा कटारम और अन्य द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इस सामुद्रिक आक्रमण में राजेन्द्र का बेड़ा बङ्गाल का समुद्र लौघ गया था। और यह आक्रमण केवल क्षणिक साम्राज्य सत्ता की प्रतिष्ठा के अर्थ नहीं हुआ था, वरन् इससे दक्षिण भारत और मलय प्रायद्वीप के बीच घना व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित होगया।

इस प्रकार अनवरत आक्रमणों और विजयों के बाद उस सैकड़ों युद्धों के

प्रतापी नायक राजेन्द्र ने अपनी तलवार अन्त में म्यान में रक्खी। परन्तु वस्तुतः उसका शासनकाल सर्वथा शान्तिमय न रह सका और विशेषतः उसके अन्त में तो उसे फिर तलवार हाथ में लेनी ही पड़ी। केरल और पाराज्य राज्य यद्यपि दुर्बल थे; परन्तु महत्त्वाकांक्षियों उनकी नगराय न थीं और चाल प्रभुत्व का उखाड़ फेकने के लिए तो उन्होंने अनेक प्रयत्न किये। दोनों राज्यों में विद्रोह के बवंडर उठे, परन्तु राजेन्द्र के पुत्र युवराज राजाधिराज ने उन्हें असाधारण शक्ति से कुचल डाला। राजाधिराज ने न केवल अपने इन प्रान्तों के विद्रोह का दमन किया प्रत्युत उसने पश्चिम चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम आह्वमल्ल से सफल लोहा भी लिया।

राजेन्द्र प्रथम परकेशरी वर्मन केवल आक्रमक और विजेता ही न था, वरन् निर्माता भी था और उसने अपनी नयी राजधानी गंगकोण्ड चोल पुरम (वर्तमान गंगाकुड पुरम) का निर्माण किया और इसमें उसने विशाल और सुन्दर राजभवन तथा मन्दिर बनवाये। परन्तु अभाग्यवश मनुष्य और प्रकृति के बबर कृत्यों से ये शालीन निर्माण-कृत्य विनष्ट हो गये। अपनी नयी राजधानी के निकट ही राजेन्द्र प्रथम ने एक सुविस्तृत झील खुदवायी जिसे कोलेहन और बेलार नदियों के जल से लहरों के जरिए भरा। इस कृत्रिम झील के बाँध कालान्तर में किसी शत्रु सेना ने नष्ट कर दिये और उसके तल में आज एक घना जङ्गल खड़ा है।

राजेन्द्र प्रथम १०४० ई० के लगभग मरा और उसका उत्तराधिकार उसके योग्य पुत्र राजाधिराज प्रथम कामिला जो युवराज की हैसियत से १०१८ ई० से ही पिता के शासन में सहायता करता रहा था।

३

राजेन्द्र प्रथम गंगकोण्ड के राज्य का श्रुतान्त समाप्त कर चुकने के बाद उसकी शासन प्रणाली पर प्रकाश डालना भी उचित होगा। राजेन्द्र की

शासन पद्धति प्रायः वही थी जो चोल राजकुल की थी और उसकी प्रणाली के वृत्तान्त का अर्थ चोल शासन प्रणाली ही होगा।

चोल-शासन-व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

चोलों और मुख्यतः राजेन्द्र प्रथम उसके पिता तथा पुत्र के अभिलेखों से विदित होता है कि इस राजकुल की शासन प्रणाली अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। सम्राट उस व्यवस्था का केन्द्र था और वह स्वयं व्यक्तिगत-रूप से उसमें अनवरत भाग लेता था। उसका काय-कर्म काफी बोझिल था और यद्यपि उसे अपने मन्त्रियों तथा राजकर्मचारियों की सहायता उपलब्ध थी, स्वयं उसका सक्रिय योग उसमें अपेक्षित था। और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि चोल नृपतियों ने शासन के सम्बन्ध में किसी प्रकार के परिश्रम को पर्याप्त न समझा। सम्राट के कार्यों में उसके द्वारा नियुक्त मन्त्री सहायता करते थे। पल्लव नरेश की ही भाँति उसको आज्ञायें भी उसके निजी मन्त्री (प्राइवेट सेक्रेटरी) द्वारा लिख ली जाती थीं। राजराज प्रथम और उसके पुत्र राजेन्द्र प्रथम के समय में तो राजकीय आज्ञाओं को उनके मुख्य सेक्रेटरी (ओलैनायकम) और एक अन्य कर्मचारी पेण्डरम् द्वारा देख लेना आवश्यक माना जाता था और अनुमति के पश्चात् ही वे आज्ञायें विडंब्याधिकारी अथवा क्लर्क द्वारा उचित कार्य के लिए भेजी जा सकती थीं। इतना ही नहीं बल्कि साम्राज्य की सिक्रेटेरियट के विविध विभागों में सुरक्षित होने के पूर्व स्थानीय शासकों का भी उन्हें देख लेना आवश्यक था।

साम्राज्य अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था, जिन्हें मण्डलम् कहते थे। प्रत्येक मण्डल का शासक कोई राजकुलीय अथवा अभिजात वर्गीय व्यक्ति होता था। अनेक प्रान्त तो ऐसे थे जिनको जीत कर चोल राजाओं ने अपने अधिकार में कर लिया था और उनकी व्यवस्था के लिए उनको विशेष सचेत रहना पड़ता था। राजेन्द्र प्रथम को इसी प्रकार के अपने जीते हुए पाराञ्च और केरल प्रान्तों के शासनार्थ अपने पुत्र राजाधिराज प्रथम को विशेष नियुक्ति करनी पड़ी थी। इनके अतिरिक्त अधीनस्थ सामन्तों के भी कुछ प्रान्त

ये जिनके शासक अधिपति की आवश्यकतानुसार समय पर धन और जन से सेवायें करते रहते थे। साम्राज्य वस्तुतः सामन्तीय प्रान्त का एक कृत्रिम शिथिल संघ था। इसी कारण प्रान्तों के ऊपर राजकुलीय शासकों की नियुक्ति पर ही अधिक जोर दिया जाता था जिससे उन पर राजा विश्वास कर सके; यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक बार धोखा खाना पड़ता था।

प्रान्त अथवा मण्डल अनेक भूखण्डों में विभक्त थे जिनको 'कोहम' अथवा 'वलनाडु' कहते थे। इनके अतिरिक्त अन्ध भी शासन के विभिन्न भूखण्ड थे जिनके आधार से राष्ट्र की व्यवस्था होती थी। इनमें से जिले को नाडु और ग्रामों के समुदाय को कुर्रम् कहते थे। शासन का निम्नतम आधार गाँव था जिसकी संज्ञा चोल शासन शब्दावली में ग्रामम् थी।

शासन सभायें—चोल शासन पद्धति की विशेषता इस बात में थी कि जनपद शासन में राजा का महत्व अधिकाधिक घटता जाता था और ग्रामों का शासन विशेषतः जन संचालक संस्थायें करती थी जो स्थापित होती थीं और जिनके निर्वाचन आदि का अधिकार जनता के हाथ में शक्ति के उत्कर्ष काल में ऊपर गिनाये सारे भूखण्डों के शासन के अर्थ उनका अपनी-अपनी जनसत्ता सभायें थीं। मंडलम् की सभा का उल्लेख हमें चोल अभिलेखों में मिलता है। नाडु अर्थात् जिले की सभा नाहर नगर की सभा 'नगरत्तार' के सम्बन्ध में भी अभिलेखों में उल्लेख मिलते हैं। ये दोनों लाल्लणिक शब्द उत्तरी भारत की प्राचीन शासन पद्धति के क्रमशः जनपद और पौर हैं। इसके सम्बन्ध में हमें अभाग्यवश पर्याप्त विवरण उपलब्ध नहीं, विशेष कर इसकी कार्य-प्रणाली का तो हमें कोई ज्ञान नहीं, परन्तु इनकी उपस्थिति में कम से कम इतना अवश्य सुप्रमाणित है कि इनके जरिये जनता शासन पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण रखती थी। इनके अतिरिक्त स्थानीय शासक को विशेष सहायता शक्तियों की संस्थाओं—थ्रेणी, पूङ्ग, आदि से भी मिलती थी। ग्रामों की भी अपनी सभायें थीं और उन्हें अर कहते थे। वे स्थानीय निवासियों की

संस्थाये थीं जिनके अधिवेशनों में वे बिना किसी नियम की शृङ्खला के झुले तौर पर अपनी आवश्यकताओं पर विचार करते थे। ब्राह्मण ग्रामों की सार्वजनिक संस्था को सभा अथवा महासभा कहते थे और इनके सम्बन्ध में हमारे पास विस्तृत विवरण प्रस्तुत है। अभिलेखों से प्रमाणित है कि राज्य के अधिकारियों द्वारा यद्यपि कुछ हद तक ये संस्थायें नियन्त्रित थीं; परन्तु साधारणतः जानपदीय शासन में उनको असंयत अधिकार प्राप्त थे और गाँव के प्रबन्ध में उन्हें प्रायः अपरिमित स्वच्छन्दता थी। गाँव की जोती और परती दोनों प्रकार की भूमि का मालिकाना हक उन्हीं को प्राप्त था। उनका मुख्य कार्य चूँकि कृषि से सम्बन्ध रखता था। इससे जङ्गलों को साफ कराकर नयी भूमि को जोत में लाना और कृषकों की प्रत्येक प्रकार की विपत्ति से रक्षा करना इनका कर्तव्य था। वे कृषकों से कर उगाहती थीं और कर चुकती के अभाव में खेतों पर दखल कर लेती थीं। यद्यपि आवश्यकीय करों की प्रसूली में सख्ती का प्रयोग कम किया जाता था। केन्द्रीय शासन अथवा उसके स्थानीय प्रतिनिधि की अनुमति के बिना ही यह सभा धार्मिक कार्यों के अर्थ भूमि का कय विकय कर सकती थी। इसका कार्य यह भी था कि वह भूमि अथवा द्रव्य दान लेकर उससे धार्मिक दृष्टि की स्थापना करे और चलाये।

ग्राम के आचार का निग्रह भी सभा का एक कर्तव्य था। वह न्याय के सम्बन्ध में भी कुछ अधिकार रखती थी और स्थानीय साधारण अपराधियों को दंडित कर सकती थी। मठों के जरिए गाँव के बच्चों की संस्कृत और तामिल शिक्षा का प्रबन्ध भी सभा ही करती थी।

सभा के सदस्यों की संख्या का निश्चय करना कठिन है। संभवतः यह संख्या गाँव के क्षेत्रफल और महत्त्व पर निर्भर करती थी। सभा के अधिवेशन मन्दिर, नगर के हाल अथवा छायेदार वृक्ष के नीचे हुआ करते थे। अपने विविध कार्यों का प्रबन्ध सभा अनेक समितियों द्वारा सम्पन्न करती थी। साधारण प्रबन्ध की अनेक समितियाँ (पंच बार वारियम)

थी। वे उखनों, तालाबों, खेतों, मन्दिरों, धार्मिक दानों, न्याय आदि का इन्तजाम करती थी।

इन सभाओं का निर्वाचन एक मनोरंजक ढङ्ग से होता था। निर्वाचन के अनेक नियम बने हुए थे। प्रत्येक ग्राम बोर्डों अथवा कुटुम्बों में विभक्त था और सदस्यता की योग्यता, आयु, शिक्षा, आचार, वृत्ति, सम्बन्ध, सामाजिक स्थिति आदि पर निर्भर करती थी। सदस्य केवल एक साल के लिए चुना जाता था। निर्वाचन का प्रणाली अत्यन्त सरल थी। पहले उम्मीदवारों के नाम के टिकट किसी बर्तन में डालकर उसे खूब हिलाते थे फिर एक लड़का एक-एक टिकट बारी-बारी से निकालता जाता था। इस प्रकार निकले हुए टिकटों के नामों की पुरोहित द्वारा घोषणा कर दी जाती थी। परन्तु निर्वाचन के बाद भी यदि कोई सदस्य किसी अभियोग के सम्बन्ध में दंडनीय समझा गया तो उसे सभा की सदस्यता से अलग कर दिया जाता था। निहायत ईमानदारी और सदाचार से सदस्य को सभा के कार्य करने पड़ते थे। सभा के हिसाब-किताब बहुत समझाल कर रखे जाते थे और गबन करने वाले को कड़ा दंड मिलता था।

आय व्यवस्था—साम्राज्य की आय विशेष कर खेतों पर ही अवलम्बित थी। इसलिए समय-समय पर उचित राशि से राज्य का और से भूमि की माप हुआ करती थी। छोटे से छोटे खेत को भी सही माप रखी जाती थी। राजन्द्र प्रथम और उसके पूर्ववर्ती राजाओं के समय में मापदंड १६-१८ वित्तों के हुआ करते थे परन्तु बाद में कुलो तुङ्ग प्रथम ने अपने चरण की माप से ही उस दंड की व्यवस्था दी।

भूमि की उपज का छठा भाग साधारणतः सम्राट का कर होता था, परन्तु भूमि की उर्वरता और सिंचाई की सुविधा के अनुसार यह कर बढ़ा जा सकता था, यद्यपि बाद अथवा दुर्भिक्ष के समय में लगान में छूट भी मिला करती थी। गाँव की सभाये कर उगाहती थीं और यह कर अक

अथवा द्रव्य अथवा दोनों के द्वारा सम्मिलित रूप से दिया जा सकता था।
 की माप तीन मन के लगभग 'कलम' के जरिए होती थी और
 प्रचलित स्वर्ण सिक्के को 'कशु' कहते थे। एक अभिलेख में अनेक प्रकार के
 करों का परिगणन है। उदाहरणतः करघों, कोल्हूओं पर कर, व्यापार, सेना
 चौदो के सौदागरों, पशुओं, तालाबों और घाटों पर कर, नमक, बाट-बटखरों
 और बाजारों पर कर आदि। इस प्रकार प्राप्त धन का व्यय राजा की
 व्यक्तिगत आवश्यकताओं, राजदरबार, राजकर्मचारियों के वेतन, सेना,
 नगर—मन्दिर—राजपथ—निर्माण तथा सिंचाई की नहरों के खोदने पर
 व्यय होता था।

सेना—प्राचीन काल के सैन्य-संगठन में चोलों की पद्धति असाधारण
 और विशिष्ट थी। विनय और व्यवस्था के विचार से जितनी संगठित चोलों
 की सेना थी उतनी प्राचीन भारत में सम्भवतः किसी अन्य राजकुल की न
 थी। मौर्यों की सैन्य-व्यवस्था निश्चय शासन के विचार से बड़े महत्त्व की
 थी; परन्तु जहाँ तक सेना की क्वायद और ड्रिल आदि का सम्बन्ध है,
 चोलों की पद्धति संभवतः अधिक स्तुत्य मानी जायेगी। इसी व्यवस्था का
 यह परिणाम था कि राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम गंगेकोण्ड के
 समय चोल सेना ने अद्भुत कृत्य किए। राजराज ने अपने पड़ोसियों को
 आक्रान्त कर अपनी सेना के बल पर ही संयत रक्खा और राजेन्द्र प्रथम ने तो
 वह कार्य किया जो दक्षिण के किसी राज कुल के किसी राजा से न हो सका
 था। उसकी चोल सेना समुद्रवर्ती सुदूर दक्षिण के आधार से चल कर नदी,
 पर्वत, और महाकान्तार लाँघती देश-प्रदेश जीतती बंगाल तक जा पहुँची
 थी। इन दोनों पिता-पुत्रों की नौ-सेना ने तो अचरज के करतब किए। राज-
 के सामुद्रिक बेड़े ने प्रायः १२,००० द्वीपों (लकदीव और मालदीव)
 पर अधिकार कर सिंहल के उत्तरी भाग को चोल प्रांत बना दिया। राजेन्द्र
 प्रथम की नौ सेना ने तो इस उत्कर्ष की चोटी ही छू ली। उसके जहाजी
 बेड़े ने बङ्गाल की खाड़ी को लॉघ मलय प्रायद्वीप तक धावे मारे और

उसके साथ अन्त में व्यापार-सम्बन्ध स्थापित किया और सारे सिंहाल पर अधिकार कर लिया ।

चोल सेना शत्रुओं और आरोही अनारोही के विचार से अनेक स्तम्भों में विभक्त थी । उदाहरणतः चुनो हुई धनुर्धर को विल्लिगल, पदाति को वलपेर कैक्कोलर, दक्षिण भाग की पदाति सेना को वेलैक्कारर, अश्वारोही को कुदिरैच्चेवगर, गजसेना को अनैयाटकल आदि कहते थे । अनेक छावनियों में स्थान-स्थान पर सेना व्यवस्थित थी जहाँ उनके डिल और सैन्य शिक्षण का प्रबन्ध था । इन छावनियों को कडगम् (संस्कृत कटक) कहते थे । कुछ सेनापति ब्राह्मण भी थे जिनकी संज्ञा ब्रह्माधिराज थी ।

सिंचाई का प्रबन्ध—चंकि राज्य की आय के मुख्य साधन खेत थे, चोल शासन में सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था की गई थी । कुँएँ और तालाब खुदाने के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में चोलों का जो विशिष्ट आयोजन था वह कावेरी आदि नदियों के जल को रोक कर विस्तृत 'डैम' निर्माण करना था । इन जल राशियों से बड़ी संख्या में नहरें निकाल कर विस्तृत भूखण्डों को सींचते थे । इस प्रकार के एक अद्भुत और असाधारण निर्माण का श्रेय राजेन्द्र प्रथम को है । अपनी नई राजधानी गंगेकोण्ड चोल पुरम के निकट उसने एक कृत्रिम मील खुदवाई और उसे कोलेरुन और वेलार नदियों के जल से भर दिया । इसका पक्का बाँध १६ मील लम्बा था और इसमें से पत्थर की नहरें काट कर निकाली गई थीं ।

राजमार्ग—चोल राजाओं ने प्रशस्त राजपथ भी बनवाए जो दक्षिणात्य व्यापार तथा यातायात की धमनियाँ बन गईं । इन्हीं राजपथों की सहायता से चोल सेना शीघ्रातिशीघ्र साम्राज्य के विविध भागों तक पहुँच जाती थी । और उनका पांड्य तथा केरल विद्रोहों को दमन करना सम्भव हो सका । इन वाणिक पथों की रक्षा के लिये थोड़ी-थोड़ी दूर पर सर्वत्र सेनाएँ नियत थीं । नदियों के घाटों पर चढ़ाव-उतार भी व्यस्तता से होता था और व्यापार की वस्तुएँ नदियों के पार आती-जाती थीं ।

नगर और मन्दिर निर्माण —चोलों ने अनेक मन्दिर बनवाए और को विशाल भवनों तथा मन्दिरों से विभूषित किया। राजेन्द्र प्रथम ने एक नई राजधानी गंगैकोण्ड चोलपुरम् नाम की जो बसाई थी, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अधिकतर चोल नरेश शैव थे और राजराज प्रथम ने तंजोर का प्रसिद्ध राजराजेश्वर मन्दिर बनवाया था। मन्दिरों की उस काल की महत्ता थी क्योंकि पूजा के अतिरिक्त वेद-शास्त्र और अनन्त अन्य विषयों के शिक्षण, असंख्य यज्ञ-क्रियाओं के अनुष्ठान तथा शासन समारोहों के अगण्य अधिवेशन वहीं होते थे।

कला के क्षेत्र में चोल विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्दिरों की निर्माण-प्रणाली में उनके विमानों और विस्तृत प्रांगणों का अपना स्थान है। पश्चात्-कालीन मन्दिरों के गोरुम् (द्वार) तो इतने ऊँचे और अलंकृत होते थे कि वे दूर से ही दिखाई पड़ते थे। राजराज प्रथम द्वारा निर्मित तंजोर के राजराजेश्वर मन्दिर का विमान १६० फीट ऊँचा है जो ८२ के वर्गाकार आधार से १३ कमिक प्रकोष्ठों में कोणाकार ऊपर उठता चला गया है और इसके शिखर पर २५ फीट ऊँचा प्रायः ८० टन वजन का एक प्रस्तर खण्ड है। कितना श्रम और कितना व्यय उसको उस ऊँचे स्थान तक ले जाने में लगा होगा यह अनुमान के बाहर है। इसी प्रकार राजराज के पराक्रमी पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने भी अपनी नई राजधानी गंगैकोण्ड चोलपुरम् (त्रिचनापली जिला) में एक अद्भुत और विशाल शिवमन्दिर बनवाया। इसके असाधारण अङ्ग-प्रयत्नों का अनुपात, ठोस पत्थर का विशाल लिंगम् और अलंकरण में सुन्दर उत्खनन दर्शनीय है। तंजोर और काल हस्ति के मन्दिरों की एक विशेषता यह भी है कि चोल राजा रानियों की सुन्दर भूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार राजराज प्रथम और उसकी रानी लोक महादेवी तथा राजेन्द्र प्रथम और उसकी रानी चोलमहादेवी की आकृतियाँ इन्हीं मन्दिरों में देखने को मिलती हैं।

१७

सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल (१०४२-६८ ई०)

सोमेश्वर प्रथम आहव मल्ल अथवा त्रैलोक्य मल्ल जैसिह द्वितीय जगदेकमल्ल का पुत्र था और वह १०४२ ई० में कल्याणी के चालुक्य-सिंहासन पर बैठा ।

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य वातापी के चालुक्यों की ही एक शाखा थे । सर रामकृष्ण भंडारकर उन्हें ऐसा न मान कर मानव्य गोत्र के स्वतंत्र चालुक्य मानते हैं । इस राजकुल में प्रारंभिक राजाओं में तैलप द्वितीय पराक्रमी हुआ । मुंज के साथ उसके संघर्ष का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है । कल्याण के चालुक्यों और परमारों में एक ओर और औरा चालुक्यों तथा चोलों में दूसरी ओर विर-कालिक संघर्ष हुआ था । कालांतर में जयसिंह द्वितीय ने एक ओर तो राजेन्द्र प्रथम से सफल लोहा लिया था और दूसरी ओर भोज परमार से । उसके मरने पर उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम कल्याण के राज्य का स्वामी हुआ । उसके पिता ने ही राज्य को व्यवस्थित और संभलित कर दिया था और इस कारण सोमेश्वर अपने कुलगत शत्रुओं चोलों और परमारों से संघर्ष के लिए तत्पर हो गया । निरन्तर युद्धों और अपरिमित दानों से जब भोज का कोष रिक्त हो गया और वह कठिन आर्थिक परिस्थिति का शिकार हो गया था तभी अवसर पाकर सोमेश्वर ने मालवा पर आक्रमण किया और माण्डू तथा धारा को खूब लूटा । भोज ने भाग्य विपरीत देख शौर्य-प्रदर्शन अनुचित समझा और वह उज्जैन की ओर

आगा। परन्तु वहाँ उसने अभी दम तक न लिया था कि सोमेश्वर ने उज्जैन छोड़ जा घेरा। परमार नरेश को उज्जैन छोड़ कर भी अन्यत्र भागना पड़ा और चालुक्य राज ने उस प्राचीन नगरी को भी भरपूर लूटा। मालवा को रौंद कर जब सोमेश्वर कल्याण लौटा तब भोज भी अपने आश्रय से निकल कर चील की भौंति अपने पैतृक राज्य पर झपटा और मालवा पर पुनर्धिकार कर लिया। परन्तु उसके दिन फिर भी बुरे थे और अन्हिलवाड़ के भीम प्रथम तथा त्रिपुरी के लक्ष्मी कर्ण ने संघ बना कर मालवा पर दो तरफा हमला किया। भोज इस युद्ध के बीच में ही मर गया और आक्रमण-कारियों ने मालव भूमि को उजाड़ डाला। इस अराजकता से मालव-प्रजा सर्वथा विपन्न हो गई परन्तु विजय के विभाजन में कलह उपस्थित हो जाने के कारण आक्रमकों में युद्ध छिड़ गया और कलचुरी लक्ष्मी कर्ण ने सोलंकी भीमदेव को बुरी तरह पराजित किया। इस प्रकार जब देश में उथल-पुथल मची हुई थी और प्रजा की दशा दयनीय हो उठी थी परमार जयसिंह ने चालुक्य सोमेश्वर से सहायता की प्रार्थना की।

सोमेश्वर प्रथम जानता था कि यद्यपि परमार राजकुल से उसके कुल का पुराना बैर था तब भी उसको रक्षा करनी उचित होगी। उत्तर में कलचुरियों की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी और अपनी इस नई विजय से तो लक्ष्मी कर्ण निश्चय और प्रबल हो चुका था। कुछ आश्चर्य न था कि वह मालवा पर अधिकार कर लेता और परिणामतः दक्कन का शक्ति-संतुलन नष्ट हो जाता। कलचुरियों की बढ़ी हुई शक्ति तब निःसन्देह कल्याण के चालुक्यों को भी खतरे में डाल देती और सोमेश्वर का एक ओर राजेन्द्र चोल के से पराक्रमी सम्राट् दूसरी ओर लक्ष्मी कर्ण कलचुरी के से भवानक तथा उसके से एक साथ लोहा लेना अत्यन्त कठिन हो उठता। इस समय वह संभवतः एक ओर कार्य कर सकता था और वह था मालवा पर स्वयं अधिकार कर लेना। परन्तु इससे परमार तो शत्रु हो ही जाते, दूसरे ऊपर गिनाए दोनों प्रतिस्पर्धियों के रहते मालवा में एक तीसरी जगह भी सोमेश्वर के फँस

जाने का अन्देश था। इससे उसने औदार्य नीति का ही अवलम्बन करना उचित समझा और शरणार्थी जयसिंह को सहायता देना मंजूर कर लिया। सोमेश्वर प्रथम ने अत्यन्त शीघ्रता से अपनी सेनाएँ मैदान में उतार दीं और विपन्न मालवा की ओर बढ़ चल पड़ा। मालवा से आक्रमक सेनाओं को भट निकाल कर उसने परमारों की गद्दी पर जयसिंह को बिठा दिया और इस प्रकार चालुक्य तथा परमारों की कुलागत शत्रुता कुछ काल के लिए भिट गई और सोमेश्वर का उत्तर की ओर बढ़ने का अवसर तथा माग मिला।

चोलों से चालुक्यों का बैर तो पुराना था ही सोमेश्वर प्रथम को उनसे भी लड़ना पड़ा। चोल अभिलेखों में चालुक्य नरेश की पराजय लिखी है परन्तु इसके विरुद्ध अनेक प्रमाण सोमेश्वर का पक्ष सिद्ध करते हैं। सत्य चाहे जो हो इतना निश्चय है कि १०५२ ई० के कोप्पम् के युद्ध में राजाधिराज प्रथम ने अपने प्राण खाए और सोमेश्वर की कोई हानि न हुई। 'विक्रमांक देव चरित' का रचयिता विलहण तो यहाँ तक लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने काञ्ची तक पर अधिकार कर लिया था जो चोल शक्ति का एक केन्द्र था। इन युद्धों में सोमेश्वर प्रथम को अपने पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य द्वारा बड़ी सहायता मिली। उसका यहाँ पुत्र कालांतर में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठम् हुआ।

दक्षिण के संघर्ष से छुट्टा पाकर सोमेश्वर ने अपने चिर अभिलाषित उत्तरी भारत के आक्रमण का योजना पूरी की। गंगा यमुना का द्वाब इस काल राजनीतिक लुटेरों की क्रीड़ा-भूमि हो रहा था। प्रतिहारों के साम्राज्य के पतन के पश्चात् कन्नौज की धरा रक्तसिक्त हो गई थी। सोमेश्वर प्रथम ने भी उत्तर भारत की उलझी राजनीति में अपना एक और पेंच डाल दिया। उसकी सेना मध्य भारत को लाँघती चन्देलों और कच्छप घातों से टकराती, कन्नौज जा पहुँची और उसके राजा को पहाड़ी गुफाओं में आश्रय करने को उसने विवश किया। मध्य देश का स्वाभाविक ही त्रिपुरी का कलशुरी

लक्ष्मी कर्ण अपने को निर्विवाद अधिपति मानता था । अतः इसका सोमेश्वर के साथ युद्ध अवश्यम्भावी था परन्तु उस युद्ध में कलचुरी नरेश को अपने मुँह को खानी पड़ी ।

सोमेश्वर प्रथम का ओजस्वी पुत्र विक्रमादित्य अब महोदय (कञ्जीज) से पूर्व की ओर बढ़ा और मिथिला, मगध, अङ्ग, तथा बंग को रौंदता गौड़ तक जा पहुँचा । पतनोन्मुख पालशक्ति उसके प्रताप का प्रतिरोध न कर सकी । परन्तु कामरूप के रत्नपाल ने निश्चय बड़ी तत्परता दिखाई । उसने चालुक्य सेना की गति रोक दी और उसे दक्षिण कोशल के मार्ग से स्वदेश लौटना पड़ा । इस प्रकार राजेन्द्र प्रथम चोल गंगैकोण्ड की स्पर्धा करता हुआ उत्तरी भारत की भूमि पर अपने पदांक छोड़ता सोमेश्वर कल्याण लौटा । सोमेश्वर प्रथम ने चालुक्य शक्ति और प्रभाव को बहुत बढ़ाया ।

सोमेश्वर प्रथम ने एक नई राजधानी का निर्माण कर उसको ससंपद और समृद्ध किया । १०६८ ई० में उसकी मृत्यु विचित्र रूप से हुई । मारक ज्वर से आक्रान्त हो जाने पर जब उसने किसी प्रकार अपने को स्वस्थ होते न देखा तब उसने मंत्र पढ़ते हुए तुङ्गभद्रा के सतिल में प्रवेश किया और डूब कर आत्महत्या कर ली ।

१८

लक्ष्मणसेन

१

सेन वंश पश्चिमी बंगाल में पालों के अवसान के समय सहसा प्रबल हो उठा और वहाँ उसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। जिस समय सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य चालुक्य ने ग्यारहवीं सदी ईस्वी के तीसरे चरण में अपने आक्रमण का तूफान खड़ा किया था और पालों की दशा दयनीय हो उठी थी तभी राढ़ में सामन्तसेन ने अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया। सेन कर्णाट-क्षत्रिय थे जिन्हें ब्रह्म क्षत्रिय भी कहते हैं जिसका अर्थ यह है कि पहले वे ब्राह्मण थे और कालांतर में युद्धजीवी होने के कारण क्षत्रिय हो गये थे।

सामन्तसेन के पौत्र बिजयसेन ने लगभग १०६५ ई० से ११५८ ई० तक प्रायः ६२ वर्ष राज किया और उसी ने सेन कुल को प्रतिष्ठा और क्ख्याति दी। उसने उत्तर बंगाल से पालों को निकाल बाहर किया और पूर्वी बंगाल पर भी अपना स्वत्व स्थापित किया। उसके पास एक नौसेना भी थी जिसके जरिए गंगा के जलमार्ग से उसने अपने कई समसामयिक राजाओं को परास्त किया जिनमें मुख्य तिरहुत का नान्यदेव था। देवपाड़ा के उसके शिलालेख से विदित होता है कि उसने कामरूप और कर्लिंग के राजाओं को भी परास्त किया।

विजयसेन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र बल्लाल सेन था जिसकी माता विलासदेवी परिचमी बंगाल के सूरवंश की राजकन्या थी। बल्लाल सेन का नाम काफी प्रसिद्ध है परन्तु उसका यश विजयों पर अवलंबित नहीं। जिस बात से वह प्रसिद्ध हुआ वह एक सामाजिक व्यवस्था थी। बंगाल में वर्षा धर्म को उसने फिर से संगठित किया और उसकी नई व्यवस्था को 'कुलीन-प्रथा' कहते हैं। पिता की ही भाँति वह भी शैव था और उसने अपने गुरु की सहायता से दान सागर और अद्भुत सागर नामक दो ग्रन्थ लिखे। बल्लाल सेन के बाद १११६ ई० के लगभग उसका पुत्र लक्ष्मण सेन राजा हुआ।

२

लक्ष्मणसेन सेन कुल का अन्तिम उल्लेखनीय राजा था। उसे विस्तृत विजयों का श्रेय दिया गया है। केशवसेन के बाकरगंज वाले लेख में लिखा है कि लक्ष्मणसेन ने कामरूप और कलिंग की विजय की और काशी तथा प्रयाग में विजय-स्तम्भ खड़े किए। संभव है कि अपने पितामह विजयसेन द्वारा विजित अपने पड़ोसी राज्यों कामरूप और कलियुग की लक्ष्मणसेन ने फिर से विजय की हो परन्तु काशी और प्रयाग में उसके विजय-स्तम्भ खड़े करने की बात तो नितान्त कपोल कल्पित है। इन दोनों नगरों पर प्रबल गाहड़वाल नृपतियों का अधिकार था जिन्होंने अपने पूर्वी इलाकों को सँभाल के लिए कन्नौज के अतिरिक्त काशी को भी अपनी दूसरी राजधानी बनाया था और इस काल स्वयं जबचन्द्र कम से कम गया पर्यन्त के पूर्वी प्रदेशों का स्वामी था। यह संभव न था कि लक्ष्मणसेन उससे काशी और प्रयाग छीन सकता।

और यदि मुसलमान इतिहासकारों पर विश्वास किया जाय तो लक्ष्मणसेन अत्यन्त कायर रहा होगा क्योंकि कहा जाता है कि बक़्तियार के हमले से समय वह प्रासाद के पिछले द्वार से निकल भागा यद्यपि आक्रमक के पास

केवल १८ घुड़सवार थे। इस कारण उसकी विजयों के सम्बन्ध में सन्देह सर्वथा उचित है।

लक्ष्मणसेन अथवा राय लक्ष्मणियों का नाम वस्तुतः उसकी विजयों के कारण नहीं वरन् उसकी कायरता और पराजय के कारण विख्यात है। मुस्लिम इतिहासकारों ने मुहम्मद इब्न बख्तियार के हमले के सिलसिले में उसका वर्णन किया है। बख्तियार गोर के मुहम्मद और कुतुबुद्दीन का सेनापति था और शहाजुद्दीन द्वारा दिल्ली तथा कन्नौज की विजय के बाद बंगाल जीतने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा था। बिहार में ११६७ ई० के लगभग उसने आप १ लूट और खूनी धावों से कहर मिरा दिया था। और सहसा वह बंगाल की राजधानी नादिया के सामने आ पहुँचा। १२४३ में मुस्लिम इतिहासकार बख्तियार की आक्रमक सेना के एक सैनिक से मिला था और उससे बिहार के दुर्ग का विजय वृत्तान्त सुना था। वह लिखता है कि २०० घुड़सवारों के साथ बख्तियार वहाँ पहुँचा और मुख्य द्वार पर धावा कर उस स्थान पर अधिकार कर लिया। उसके बाद उसने 'मुंडित-सिर ब्राह्मणों' का कलेआम कर दिया। ब्राह्मणों से तात्पर्य बौद्ध भिक्षुओं से है और बिहार के दुर्ग का नालन्दा के विद्या केन्द्र से। यह हत्याकाण्ड इस पूर्णता से सम्पन्न हुआ कि जब बख्तियार ने वहाँ के विशाल पुस्तकालय के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहा तो वहाँ एक भी जावित व्यक्ति न मिला जो किसी ग्रन्थ को पढ़कर उसका तात्पर्य विजय को समझा सके। इतिहासकार लिखता है कि "फिर पता चला कि वह पूरा दुर्ग और नगर विद्यालय था जिसे हिन्दी जवान में बिहार कहते हैं।" मिनहाजुद्दीन द्वारा सगृहात 'तबकातए-नासिरी' का यह वृत्तान्त उस नृशंस-विधि पर प्रकाश डालता है जिससे उस नालन्दा विश्वविद्यालय का नाश हुआ जहाँ कभी एशिया के दूर-दूर के देशों से आकर दर्शन के जिज्ञासुओं ने अपने अज्ञान को आलोकित किया था। यह पाप वस्तुतः मानवता और ज्ञान के विरुद्ध था।

इस अकेले मुस्लिम साहसिक की कृता से उत्तर भारत से बौद्ध

धर्म का लोप हो गया जो फिर न लौटा। नालन्दा का विहार तो सर्वथा नष्ट हो ही गया, एक भी भिक्षु जीवित न बचा और जो इषर-उषर के विहारों में बौद्ध विद्वान् बच भी गए वे उत्तर भारत छोड़ दक्षिण, सिंहल, बर्मा, मलयद्वीप, तिब्बत चीन आदि की ओर चले गये और इन देशों में उन्होंने सद्धर्म की बेलें मजबूत कीं। तिब्बत में तो इन्होंने बड़ा काम किया। संस्कृत भाषा से तिब्बती और चीनी भाषाओं में इन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद किए जिनकी छपाई भी शुरू हो गई। तिब्बत में चीन से सीखकर 'प्लॉक' छपाई शुरू हुई थी। उस तरीके से इन ग्रन्थों का मुद्रण भी प्रारंभ हुआ।

बंगाल की विजय बिहार की विजय से भी अधिक सरलता से हुई। मुसलमान इतिहासकार लिखते हैं कि पूर्वी बंगाल का राजा अस्सी वर्ष का वृद्ध था और उसके अनेक व्यक्तिगत गुणों के कारण लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे। सारे भारत में उसके कुल के प्रति श्रद्धा थी और वह स्वयं खलीफा की भौति देश का गुरु माना जाता था। दान वितरण में वह अत्यन्त उदार था और उसके हाथों कभी किसी के प्रति अन्याय नहीं हुआ। संभव है सेनों के ब्रह्म-क्षत्रिय होने के कारण देश में उनके प्रति साधारण राजकुल से अधिक लोग श्रद्धा करते हों। संभव है उसमें व्यक्तिगत गुण भी अनेक हों। कम से कम विद्याव्यसनी और साहित्यिक तो वह था ही परन्तु काव्य-रुचि में अत्यन्त ढूँढ़े रहने के कारण विलास की भी मात्रा उसमें कुछ हो ही गई थी। परन्तु उसका अस्सी वर्ष का आयु का होना कई कारणों से माना नहीं जा सकता। लक्ष्मणसेन की राजधानी नदिया वर्तमान कलकत्ते से प्रायः ६० मील उत्तर गंगा के ऊपरी डेल्टा में भागीरथी के तट पर बसी थी। यह नगर आज भी वर्तमान है। मध्यकाल में तो यह न्याय-दर्शन का केन्द्र माना जाता था और आज भी वहाँ इस सिद्धान्त के षण्डितों की कमी नहीं है।

बरुतियार ने ११६७ ई० के लगभग बिहार को विजय की थी,

प्रायः ११६६ ई० में वह बंगाल पहुँचा । अपनी छोटी सेना को पीछे छोड़ते हुए संभवतः १८ घुड़सवारों के साथ वह मुख्य द्वार से अपने को घेरे का सौदागर कहकर नगर में घुसा । परन्तु राजा के महल के द्वार पर पहुँच कर उसने तलवार निकाली और सहसा उसके रक्षकों पर उसने हमला किया । हिम्मत की यह पराकाष्ठा थी मगर उसका मनोरथ पूरा हो गया । राजा इस कदर घबरा गया, मुसलमान इतिहासकार लिखता है, “वह नंगे पाँव राजभवन के पिछले द्वार से भागा और उसका सारा खजाना उसकी कुल रानियाँ मग्य अपनी दासी, सहेलियों, नौकरों और दासियों के आक्रमक के हाथ लगीं । अनेक हाथी हाथ आये और मुसलमानों को लूट का इतना माल मिला जिसकी गणना नहीं हो सकती थी । जब उसकी (बख्तियार की) सेना पहुँची तब सारे नगर पर अधिकार कर लिया गया और उसने अपना सदर मुकाम वहीं कायम किया ।” इतिहासकार लिखता है कि रायलखमनिया ढाका जिले में विक्रमपुर भाग गया और वहीं वह मरा । इधर विजेता ने नदिया के नगर को नष्ट कर दिया और अपनी राजधानी लखनौती या गौड़ बनायी । वहाँ उससे अनेक मस्जिदें, मकतब, तकिये बंगरह बनाये और लूट का एक बड़ा हिस्सा उसने कुतुबद्दीन के पास भेजा ।

इस प्रकार लक्ष्मणसेन का अन्त हो गया । और उसके साथ ही बंगाल से हिन्दू राज्य का भी । इसमें सन्देह नहीं कि सेन राज्य का शासन नितान्त अव्यवस्थित और असंगठित था वरना यह सम्भव कैसे था कि केवल १८ घुड़सवारों के साथ वह लक्ष्मणसेन के राजभवन पर आक्रमण कर सकता अथवा केवल २०० घुड़सवारों के साथ सारे नगर पर अधिकार । अगर हम मुसलमान इतिहासकारों के वक्तव्य पर विश्वास न भी करें तो भी हमें बरबस मानना पड़ेगा कि चाहे बख्तियार की सेना १८ या २०० घुड़सवारों की न रही हो इसमें सन्देह नहीं कि उसकी संख्या ज्यादा न थी । कम से कम इस लायक तो निश्चय न थी कि सारे बिहार को रौंदती, बंगाल के बीच से गुजरती सीधे उसके हृदय पर पहुँच कर चोट करती । बिहार का पतन

आसानी से समझ में आ सकता है। शिहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली के चौहानों और कन्नौज के महारajahों की शक्ति तोड़ दी थी, विशेष कर कन्नौज के पतन से जयचन्द के पूर्वी प्रान्त तो निश्चय बिखर गये होंगे और गंगा जमुना के द्वाब की कहानी ने लोगों के दिलों को आतंक से इतना भर दिया होगा कि उनमें बख्तियार को रोकने का सामर्थ्य न रहा होगा। परन्तु विहार और नालन्दा से गौड़ और लखनौती बहुत दूर थे और कोई बजह नहीं कि इतनी छोटी सेना देश को चीरती उसके मार्ग तक पहुँच जाती जब तक कि शासन व्यवस्था का नितान्त पतन न हो गया हो। क्या कारण है कि गाँव-गाँव इस बढ़ती हुई सेना की राह रोकने को न खाया हुआ? जब हम बख्तियार की इस छोटी सेना को अनवरुद्ध प्रगति के साथ सिकन्दर की पंजाब विजय की याद करते हैं तो हमें आश्चर्यजनक अन्तर का बोध होता है। सिकन्दर का पंजाब में भिड़ना और उससे भी बढ़कर उसका लौटना नितान्त कठिन हो गया था। जब उसकी सेना बहुत बड़ी थी, बख्तियार की सेना से १०० गुनी बड़ी और उन विरोधी सेनाओं से कहीं बड़ी जिन्होंने इंच-इंच पर उसकी राह रोकी और दिलेरी से उसका सामना किया। इस बात को न भूलना चाहिए कि जिन छोटे पंजाब के गणराज्यों ने चप्पे-चप्पे जमीन के लिए सिकन्दर से युद्ध किया उनके देश लक्ष्मणसेन के प्रान्तों से कहीं छोटे थे परन्तु सबसे बड़ी बात जो पंजाब के उन छोटे राज्यों की बहादुरी के पक्ष में थी वह यह थी कि वे गणराज्य थे और उनका बच्चा सचेत और सजग था। बङ्गाल की प्रजा, उसका गाँव-गाँव, नगर-नगर रो रहा था। उसके सूबे के सूबे पर प्रमाद और नींद की चादर तनी थी और भारत के भाग्य के ऊपर यह उत्कट व्यंग है कि उसके समृद्धतम प्रान्त अत्यन्त उर्वर भूमि से लिए मुसलमानों को एक सैनिक भी न खोना पड़ा। बख्तियार का विहार के नगरों को लूटते और जलाते नालन्दा के जगत विख्यात विद्या केन्द्र को नष्ट करते वहाँ के भ्रमणों का कलेश्राम करते गौड़ तक पहुँच जाना दुनिया के इतिहास में हमेशा एक अचरज की घटना मानी जायगी। निश्चय यह कल्पना और

क्यास के बाहर की बात है कि इतनी छोटी सेना सैकड़ों मील गर्द उठाती, बोधों की टापों से आसमान गुँजाती गाँव के बीच से निकल जाय और बङ्गाल की जनता के कानों पर जूँ तक न रेंगे ! निःसन्देह लक्ष्मणसेन की राज्य-व्यवस्था सर्वथा खोखली हो गई थी और ठोकर लगते ही वह सहसा गिर पड़ी । और जिस देश का राजा लक्ष्मणसेन का सा हो जो एक छोटे से दल के आक्रमण से सन्त्रस्त होकर खाना छोड़, बीबी बच्चों और धन दौलत छोड़, महल के पिछले दरवाजे से भाग खड़ा हो, उस देश की किस्मत ऐसे राजा के विनष्ट हो जाने से ही जगती है ।

अब एक शब्द बख्तियार के सम्बन्ध में भी लिख देना उचित होगा । उसके संबन्ध में स्वयं मिनहाजुद्दीन ने कुछ वक्तव्य लिखा है, जो इस प्रकार है : मुहम्मद बख्तियार का बेग था और तुर्की के खरज खानदान का था, कुतुबुद्दीन द्वारा ५८६ हिजरी में दिल्ली पर कब्जा हो जाने के बाद उसकी उम्मीदों पर पानी फिर गया और जब उस गुलाम सेनापति ने मुहम्मद इब्न-बख्तियार को कोई मुनासिब जगह न दी तब वह अपनी दिलेरी और जवा-मर्दा का सहारा कर खुद कोई सूबा जीतने की तदवीर में लगा । थोड़ी सी फौज इकट्ठी कर उसने मिर्जापुर जिले में एक छोटी सी रियासत खड़ी की जहाँ से उसने पटने जिले के मनेर और बिहार बगैरह पर हतके हमले करने शुरू किये । इन हमलों से उसे यह फायदा हुआ कि कम से कम वह अपनी बहादुरी का सबूत दे सभा और उसने कुछ घोड़े, कुछ हथियार और कुछ चाँके लड़ाके तैयार कर लिये । अब उसने शहरपनाह से घिरे बिहार के ऊपर हमला करने की ठानी । एक फौज तैयार कर उसने बिहार पर हमला किया और वहाँ से लूट का बहुत सा माल लेकर वह कुतुबुद्दीन के पास पहुँचा जो बुन्देल खण्ड में कालंजर और महोबा के घेरों में लगा था । बख्तियार उससे महोबा में मिला, कुतुबुद्दीन उससे बड़ी खुशी-खुशी मिला और उसे बड़ी इज्जत बख्शी । नतीजा यह हुआ कि दूसरे सरदार चिढ़ गये मगर मुहम्मद ने एक मस्त बिगड़ैल हाथी पर काबू कर उनके सामने अपनी खूबी का सबूत

दिया। फिर वह विहार की ओर लौटा। अगले साल एक फ़ौज लेकर विहार पर चढ़ गया और उसको सर करते उसको ज़रा देर न लगी। वहाँ की जमीन खून से रँग कर वह बंगाल की ओर बढ़ा और वहाँ उसने वह करतब दिखाये जिनका बयान ऊपर किया जा चुका है।

लक्ष्मणसेन पिता की ही भाँति विद्या-व्यसनी और विद्वानों का संरक्षक था। स्वयं उसने अपने पिता द्वारा प्रारम्भ किये अद्भुत सागर को समाप्त किया। उसीकी राजसभा में धोमिक ने मेघदूत का अनुकरण कर अपना प्रसिद्ध खंड काव्य 'पवन दूत' लिखा, और लक्ष्मणसेन की संरक्षणा में ही संस्कृत काव्य के उस अद्भुत 'गीत गोविन्द' का प्रणयन हुआ, जिसका गायक जयदेव था, और जिसकी मधुरता संस्कृत साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखती। जब शाहबुद्दीन गोरी दिल्ली के चौहानों और कन्नौज के गहड़वालों से टकरा रहा था, जब महोबा और कालंजर के चन्देल कुतुबुद्दीन से जूझ रहे थे, जब बुन्देले गंगा के द्वाब में मृत्यु से खेल रहे थे तब बंगाल का यह गायक अपनी मूर्च्छना में व्यस्त था और वह मूर्च्छना चन्दवरदायी अथवा जगमल की न थी, उस लक्ष्मणसेन के सभासद की थी जिसके विलास और अभिसार की सेजें वह "ललित लवंगलता पीरिशीलन कोमल मलय समीरे" संयुत निरुंजों में बिछा रहा था, जो संकट के आभास से ही प्रासाद के पश्चिम द्वार से निकल भागा था।

१६

सिंघण

१

सिंघण जैतुंगी अथवा जैत्रपाल (लगभग ११६१-१२१० ई०) का पुत्र था और उसने लगभग १२१० ई० से १२४७ ई० तक प्रायः ३७ वर्ष राज्य किया । सिंघण देवगिरि के यादवों में सबसे शक्तिमान हो गया है ।

देवगिरि के यादवों का राजकुल अपने को महाभारत काल के उस यदुकुल का वंशज मानता है जिसमें वासुदेव कृष्ण हुए थे । परन्तु जिस कुल में अद्भुत कर्मा कृष्ण का जन्म हुआ था उसको कहाँ तक विशुद्ध क्षत्रिय माना जा सकता है, इसमें सन्देह है । स्वयं महाभारत में शिशुपाल ने इसमें सन्देह किया है । इसमें सन्देह नहीं कि यदुकुल अत्यन्त प्राचीन आर्य राजकुल था और इसकी गिनती ऋग्वेद के 'पञ्चजनों' में की गई है । परन्तु देवगिरि के यादवों का उस सुदूर प्राचीन आर्यकुल से कितना संबन्ध था यह नहीं कहा जा सकता ।

देवगिरि के यादवों का प्रारम्भिक इतिहास अत्यन्त अन्धकार में है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दक्कन में मान्यखेट के राष्ट्रकूटों तथा कल्याण के पश्चिमी चालुक्यों के उत्कर्ष काल में यादवों की राजनीतिक स्थिति केवल सामन्तपदीय थी । कल्याण के चालुक्यों के पतन के पश्चात् यादवों, का उदय हुआ और कालांतर में उन्होंने एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया । भिल्लम पंचम इस कुल का पहला प्रबल राजा था जिसने यादवों

के यश का विस्तार किया। पश्चिमी चालुक्यों का राज्य कलचुरी मंत्री ने हथप लिया था और होयसलों ने भी उनके प्रान्तों में लूट-मार मचा दी थी। इन दोनों विपत्तियों से चालुक्य शक्ति जब सर्वथा आक्रान्त थी तभी भिल्लम ने भी उन पर आक्रमण कर अपना भविष्य बनाने की तैयारी की। ११८७ ई० के लगभग इसने सोमेश्वर चतुर्थ के कमजोर हाथों से कृष्णा के उत्तर के सारे प्रान्त छीन लिए और अपनी राजधानी देवगिरि (हैदराबाद रियासत में दौलताबाद) में स्थापित की और सम्राटों के विरुद्ध धारण किए। दक्षिण में निश्चय उसकी प्रगति न हो सकी और ११६१ ई० के लगभग वीर-बल्लाल प्रथम होयसल ने लक्कुण्डी (धारवाड़ जिला) के युद्ध में उसे परास्त कर सम्भवतः मार भी डाला। भिल्लम का उत्तराधिकारी और पुत्र तथा सिंध्या का पिता जैतुगी था जिसने भयानक युद्ध में तैलंगों के राजा रुद्रदेव को मार कर उसके भतीजे गणपति को काकतीय सिंहासन पर बिठाया। इस प्रकार यादवों का यश और प्रभाव द्रुतगति से बढ़ चला।

२

१२१० ई० के लगभग पिता के मरने पर सिंध्या गद्दी पर बैठा और अपने लम्बे शासन काल में उसने अनेक देश जीते। भिल्लम ने यादव राजकुल को शक्ति दी थी, जैतुगी ने प्रभाव दिया था और सिंध्या ने उसे साम्राज्य और यश दिया। पहला युद्ध उसका १२१३ ई० के लगभग शिलाहार नरेश वीर भोज के साथ हुआ। वीर भोज को पूर्णतः परास्त कर परनाल अथवा पन्हुल के दुर्ग की विजय के बाद उसने कोल्हापुर के शिलाहार राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। सिंध्या को अपने पितामह भिल्लम की पराजय और हत्या भूली न थी और उसने उसके बदले के लिए होयसल नरेश पर चढ़ाई की। वीर बल्लाल द्वितीय इस समय गद्दी पर था और सिंध्या ने उसकी सीमाओं में कृष्णा व उस पार अपने साम्राज्य का विस्तार किया। मालवा और चेदियों के विरुद्ध भी उसका युद्ध हुआ और उसने मालवा नरेश

अर्जुन वर्मन तथा छत्तीस गढ़ के चेदिराज जाजल को परास्त किया। तब वह गुजरात के बघेल राजाओं की ओर मुड़ा और उन्हें दो-दो बार पराजित किया। इस प्रकार अपनी दिग्विजयों से सिंघण ने अनेक देशों पर अधिकार किया और परिणामतः यादव साम्राज्य कल्याण के पश्चिमी चालुक्यों की ही भाँति दक्षिण में पर्याप्त विस्तृत हो गया। उसकी सीमाएँ पश्चिम में गुजरात की सरहद तक जा पहुँची और दक्षिण में कृष्णा के पार चालुक्य राज्य के हृदय तक।

सिंघण पराक्रमी तो था ही साथ ही वह विद्याव्यसनी भी था। और उसका संरक्षा में अनेक विद्वानों का पोषण हुआ था। उसकी राजसभा में सारङ्गधर जैसे विद्वान् ने आश्रय ग्रहण कर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ संगीत रत्नाकर लिखा। यह ग्रन्थ मध्यकालीन संगीत पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस पर एक विशिष्ट टीका भी लिखी गई है जो संभवतः स्वयं सिंघण प्रणीत है। इससे सिद्ध है कि सिंघण न केवल विद्वानों का आदर करने वाला वह स्वयं सरस्वती का उपासक था। सिंघण की राजसभा का दूसरा विद्वान् प्रसिद्ध ज्योतिषी चांगदेव था जिसने भास्कराचार्य की सिद्धान्त शिरोमणि तथा अन्य ज्योतिष के ग्रन्थों के अध्ययन और शिक्षण के लिए खानदेश जिले के पटना नामक स्थान पर एक मठ स्थापित किया।

सिंघण १२४७ ई० के लगभग मरा और यादव कुल की गद्दी पर उसका पौत्र कृष्ण अथवा कन्हार बैठा। सिंघण इस राजकुल का सबसे प्रतापी राजा था और उसने अपने कुल को साम्राज्य की प्रतिष्ठा दी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उस राजकुल की सत्ता घटती गई और अन्त में मलिक काफूर ने अलाउद्दीन के खिलजी शासन में उसका सर्वथा अन्त ही कर डाला।

मसूरी
MUSSOORIE

Acc. No.....

Please return this book on or before the date last stamped below.

[illegible]

H

934

उपाध्या

अवाप्ति सं०

ACC. No. ~~8156~~

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No. Book No.

लेखक

उपाध्याय, भगवतशरण

Author.....

शीर्षक भारतीय इतिहास के आलोक

Title.....

934

LIBRARY

~~8156~~

उपाध्याय

RAJ BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 124839

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving